

(H)4

हेन्दी

हित्य और समीक्षा



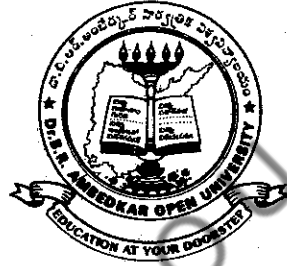
BRAOU

साहित्य और समीक्षा

(18) Hindi literature

IIIrd Year -
paper - IV

इकाई: 1-29



डॉ. बि.आर.अंबेडकर सार्वत्रिक विश्वविद्यालय

1992

पाठ्य निर्माण मंडल :

चेयरमैन : डॉ. के.विश्वनाथ रेड्डी
सम्पादक : डॉ. भीमसेन निर्मल

लेखक :

डॉ. ललितकुमार पारिख
डॉ. एस.वी.माधवराव
डॉ. चक्रवर्ती
डॉ. कृष्णकुमार गोस्वामी
डॉ. दिलीप सिंह
डॉ. इन्दु वशिष्ठ
डॉ. कुदटन पिल्लै

मुद्रण
आर्ट वेक्स,
ऑफसेट प्रिंटर्स,
मलकपेट, हैदराबाद.
फोन: 44323

संयोजक :

डॉ. यशवंत जाधव
अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग,
डॉ. बि.आर.अंबेडकर सार्वत्रिक विश्वविद्यालय
हैदराबाद

प्रस्तावना

ललित कलाओं में काव्यकला को श्रेष्ठ माना गया है। काव्य के अन्तर्गत साहित्य के सभी रूपों को समाविष्ट किया जा सकता है। शब्द और अर्थ के सहितत्व को अथवा समाज के लिए 'हित' करने को 'साहित्य' माना गया है। साहित्य के अनेक प्रकार हैं, यथा, कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी। आप लोगों ने प्रथम वर्ण और द्वितीय वर्ण की पाठ्यपुस्तकों में प्राचीन और आधुनिक कविता, निबंध, नाटक, एकांकी, उपन्यास, कहानी, संस्मरण, रेखाचित्र आदि पढ़ लिए हैं। उन रचनाओं के भाव-सौंदर्य और रचना कौशल से भी आप लोग परिचित हो गए। अब उन प्रक्रियाओं की विशिष्टताओं का अध्ययन करने की आवश्यकता है।

जो भी साहित्य-प्रक्रिया हो या कला - रूप हो, उसके अध्ययन की अपनी एक पद्धति होती है। लेखक या रचयिता ने किस विषय को अभिव्यक्त किया है और उसे अभिव्यक्त करने में उसे कहाँ तक सफलता मिली है? इन दोनों भली-भाँति समझ सकते हैं। पहला भावपक्ष कहलाता है तो दूसरा कलापक्ष। इस प्रकार रचना के भाव पक्ष तथा कला पक्ष के सौंदर्य को परखना, परीक्षण करना ही साहित्य समीक्षा का परम लक्ष्य है।

साहित्य या कला का समग्र रूप से अध्ययन करने तथा उसके सौंदर्य को जानने की प्रक्रिया को समीक्षा या 'आलोचना' कहते हैं। समीक्षा का अर्थ है अच्छी तरह देखना (सम्यक् ईक्षणम्)। आलोचना का भी यही अर्थ है। दोनों शब्दों के मूल में पूरी तरह से देखना यही अर्थ है। साहित्य या कला के संबंध में उसकी उत्पत्ति, उसके स्वरूप, उसके विविध तत्व, गुण-दोष आदि विभिन्न पक्षों का अध्ययन करके उसे दूसरों के लिए ग्राह्य बनाना ही समीक्षा या आलोचना का ध्येय होता है। भारत देश में हो या यूरोप में हो, साहित्य समीक्षा का, आलोचना का यही परमकर्तव्य माना गया है। हमारे देश में है। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' से लेकर पंडितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' तक काव्य समीक्षा के विकास का अध्ययन अत्यंत रोचक है। 19वीं शती तक समस्त भारतीय भाषाओं के काव्यशास्त्र का आधार संस्कृत काव्य शास्त्र ही रहा है। यूरोप में ईसा पूर्व 5वीं शती के प्लेटो से लेकर काव्य की समीक्षा से संबंधित चर्चाएँ होती रही। जब हमारे देश में पाश्चात्य विचारधारा का प्रवेश हुआ, तब से संस्कृत-समीक्षा-शास्त्र के विद्वांतों के साथ-साथ पाश्चात्य-काव्य समीक्षा के सिद्धांतों का समन्वय होने लगा। इस समन्वय से आधुनिक समीक्षा शास्त्र के सिद्धांतों में निखार आया है। प्राचीन सिद्धांतों के साथ नवीन सिद्धांतों को सम्मिलित करके, साहित्यिक रचनाओं का समग्र अध्ययन और मूल्यांकन करना आधुनिक युग की देन है।

कुछ विद्वान 'समीक्षा' और 'आलोचना' में अंतर देखते हैं किंतु व्यावहारिक रूप में 'समीक्षा' और 'आलोचना' दोनों शब्द लगभग एक ही अर्थ में प्रयुक्त हो रहे हैं।

समीक्षा या आलोचना का उद्देश्य है कि कवि की कृति का सम्यक् रूप से अध्ययन कर, उसका मूल्यांकन कर, पाठकों के सामने उसके गुण-दोष को रखना और पाठकों की रुचि को परिष्कृत करना। अध्ययन और मूल्यांकन के लिए आलोचना के स्वरूप को समझना और उसके प्रकारों से अवगत होना आवश्यक है। इस पुस्तक में समीक्षा की पद्धतियों और उसके स्वरूपों का परिचय दिया गया है। इसमें भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोणों का तथा उनके समन्वयात्मक पद्धति का परिचय दिया गया है। साहित्य और समाज तथा लेखक और पाठक के संबंधों पर भी प्रकाश डाला गया है।

उपरोक्त सभी विषय साहित्य के स्वरूप को भली भाँति समझने के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे। इन पाठों का अध्ययन करने के बाद आप लोग किसी भी रचना के भाव सौंदर्य तथा उसके कला सौंदर्य का सम्यक् परीक्षण कर, रचना का रसास्वादन कर सकेंगे और अच्छे समीक्षक बन सकेंगे।

इस पाठ्य पुस्तक के पाठों के लेखक अनुभवी तथा अपने अपने विषय के विद्वान हैं। विद्वान लेखकों ने अपने अपने दृष्टि कोण से, अपनी-अपनी शैली में विषय को प्रस्तुत करने का तथा समझाने का प्रयत्न किया है- साहित्य समीक्षा यह विषय अत्यंत विस्तृत है। सब कुछ कह जाने के बाद भी और कुछ कहने

और जानने की संभवना बनी रहती है। इसलिए प्रत्येक पाठ के अंत में पठनीय पुस्तकों की सूची दी गई है। आप पाठ का अध्ययन करने के बाद और अपने केन्द्र के प्राध्यापक से विचार-विमर्श करने के बाद यथा संभव रूप से अतिरिक्त पठनीय पुस्तकों को पढ़ने का प्रयास करें। तभी आप साहित्य और साहित्य-समीक्षा के स्वरूप से अच्छी तरह परिचित हो सकेंगे। साहित्य समीक्षा व्याकरण, और विज्ञान के समान सीमित अंश नहीं है। समीक्षा शास्त्रियों और विद्वानों के दृष्टिकोण और अभिरुचि के अनुसार, उसमें विभिन्नता दिखाई पड़ती है। उन विभिन्न दृष्टिकोणों से अवगत होकर आपको साहित्य समीक्षा के अपने दृष्टिकोण का निर्माण कर लेना चाहिए। सभी साहित्य समीक्षा संबंधी इस पाठ्य पुस्तक का उद्देश्य सार्थक होगा।

प्रत्येक पाठ के अंत में पारिभाषिक शब्द दर्शाए गए हैं। कुछ शब्दों के अर्थ अंग्रेजी में भी दिए गए हैं।

पाठ के अंत में तीन प्रकार के प्रश्न दिए गए हैं। कुछ प्रश्नों के उत्तर बड़े और कुछ के उत्तर छोटे होने चाहिए। पाठ के अध्ययन के बाद आप लोग उक्त विषय पर अपने विचार प्रकट कर सकें, इस उद्देश्य से प्रश्न दिए गए हैं। प्रश्नों के उत्तर अवश्य लिखें और अपने केन्द्र काउन्सिलर को बताकर, सलाह-मशविरा करें। यह परीक्षा की दृष्टि से उपयोगी होगा।

- संपादक

BRAOU

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ सं.
इकाई- 1 : साहित्य: परिभाषा और तत्व	1
2 : कला: परिभाषा, तत्व और वर्गीकरण	7
3 : साहित्य और समाज का संबंध	18
4 : साहित्य: लेख-पाठक और आलोचक के संबंध	27
5 : लोक साहित्य: परिभाषा, तत्व और प्रकार	37
6 : साहित्य का प्रयोजन	45
7 : साहित्य-अध्ययन की पद्धतियाँ	54
8 : साहित्यिक आलोचना: परिभाषा और प्रकार्य	63
9 : भारतीय आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान	73
10 : पाश्चात्य आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान	82
11 : आधुनिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान	95
12 : निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना	107
13 : ऐतिहासिक आलोचना	115
14 : मनोविश्लेषणवादी आलोचना	123
15 : मार्क्सवादी आलोचना	136
16 : भारत की प्राचीन टीका पद्धति	146
17 : काव्यशास्त्रीय निर्णयात्मक आलोचना	154
18 : रसवादी आलोचना	164
19 : मानवतावादी आलोचना	173
20 : छायावादी रोमांटिक आलोचना	182
21 : प्रगतिवादी आलोचना	190
22 : प्रयोगवादी नयी आलोचना	199
23 : विद्यापरक और रूपवादी आलोचना	208
24 : कविता: परिभाषा, तत्व और प्रकार	216
25 : उपन्यास: परिभाषा, तत्व और विकास	229
26 : कहानी: परिभाषा, तत्व और विकास	238
27 : निबंध: परिभाषा, तत्व और विकास	247
28 : नाटक का स्वरूप और विकास	256
29 : एकांकी: स्वरूप और प्रकार	263

BRAOU

इकाई-1: साहित्य: परिभाषा और तत्व

- 1.0 विषय प्रवेश
- 1.1 पाठ का उद्देश्य
- 1.2 पाठ परिचय
- 1.3 मूलपाठ
 - 1.3.1 विषय प्रवेश
 - 1.3.2 साहित्य की परिभाषा
 - 1.3.3 साहित्य के तत्व
 - 1.3.4 सार
- 1.4 सारांश
- 1.5 शब्दार्थ
- 1.6 अभ्यास
 - 1.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 1.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 1.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 1.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 1.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 1.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.1 पाठ का उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में साहित्य की परिभाषा और उसके तत्वों पर प्रकाश डाला गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- साहित्य के अर्थ को परिभाषित कर सकेंगे।
- साहित्य संबंधी विभिन्न मतों का आकलन कर सकेंगे।
- साहित्य के चारों तत्वों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- साहित्य के गुणों पर विचार कर सकेंगे।

1.2 पाठ परिचय

प्रस्तुत पाठ में साहित्य की परिभाषा और उसके तत्वों का परिचय दिया गया है। साहित्य में भावना की चरम अभिव्यक्ति मिलती है और साहित्य 'हित' के साथ बेहतर है, इस परिप्रेक्ष्य में 'साहित्य' शब्द के शाब्दिक अर्थ को भी विश्लेषित किया गया है। भारतीय चिंतन के परिप्रेक्ष्य में भी यह पाठ 'साहित्य' को परिभाषित करता है। भारतीय परंपरा में 'व्यापक' और समुचित साहित्य की चर्चा करते हुए आधुनिक भारतीय चिंतकों के साहित्य संबंधी मतों का आकलन भी इस पाठ में किया गया है। इसके साथ ही 'साहित्य के उद्देश्यों' को भी भारतीय चिंतन के संदर्भ में दिया गया है।

यूरोपीय चिंतन में 'साहित्य जीवन के लिए' और 'साहित्य कला के लिए' की धारणा को संक्षेप में विवेचित किया गया है।

साहित्य के चारों तत्वों- भाव, बुद्धि, कल्पना, शैली का तात्त्विक विवेचन भी इस पाठ में किया गया है। और साहित्य की परिभाषा और तत्वों के आधार पर साहित्य के ग्रंथों की चर्चा की गई है।

1.3 मूलपाठ

1.3.1 विषय-प्रवेश

आदिकाल से ही मनुष्य कला की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ अपना कर अपनी भावनाओं को व्यक्त करता रहा है। अपने भावों को स्थिरता देने की भावना ने साहित्य को जन्म दिया। अन्य ललित-कलाओं की ही भाँति साहित्यकार भी सर्जक चेतन मनुष्य है। चेतन होने के कारण ही संसार के प्रति उसकी कुछ न कुछ प्रतिक्रिया होती है। पहले हमें ज्ञान होता है फिर उसके प्रति आकर्षण या विकर्षण उत्पन्न होता है। ज्ञान के उत्पन्न होते ही हमारा हृदय आंदोलित हो उठता है। इस आंदोलन को ही भाव कहते हैं। भावों से प्रेरित हो कर हम उन्हीं के अनुकूल कार्य करने लगते हैं। इसीलिए विद्वानों ने मानव के भावों के मूल में कार्य करने वाली प्रक्रियों के तीन रूप निर्धारित किए हैं- ज्ञान, भावना और संकल्प। अभिव्यक्ति की भावना ज्ञान में भी होती है परन्तु उसकी जितनी तीव्रता भावना के क्षेत्र में देखी जाती है उतनी अन्य कहीं नहीं। यही कारण है कि साहित्य में भावना की अभिव्यक्ति अपने चरम रूप में हमें दिखाई देती है।

1.3.2 साहित्य की परिभाषा

मानव विभिन्न उपकरणों द्वारा अपनी भावना की अभिव्यक्ति करता है। मानव की विभिन्न अभिव्यक्तियों में से विद्वान उसकी शाब्दिक-अभिव्यक्ति को सबसे अधिक महत्व देते हैं। सबसे अधिक महत्व देने का कारण यह है कि मानव की शाब्दिक-अभिव्यक्ति में स्थायित्व और सामाजिकता अन्य अभिव्यक्तियों की तुलना में अधिक होती है। हम अपनी आत्मा पर पड़े हुए प्रभावों से उत्पन्न भावों की भी अभिव्यक्ति करना चाहते हैं। इसे ही आत्माभिव्यक्ति कहा जाता है अर्थात् अपने-आप को अभिव्यक्ति करना। जब यह अभिव्यक्ति हम शब्दों के माध्यम से करते हैं तो उसे साहित्य कहते हैं। इसी आधार पर बाबू गुलाब राय ने साहित्य की परिभाषा इन शब्दों में दी- 'साहित्य संसार के प्रति मानसिक प्रक्रिया अर्थात् विचारों, भावों और संबंधों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है और हमारे किसी न किसी प्रकार के हित का साधन करने के कारण संरक्षणीय हो जाती है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'साहित्य' शब्द का अर्थ है- सहित होने का भाव- 'सहितस्य भावः साहित्यः'। विद्वानों ने 'सहित' शब्द के दो अर्थ माने हैं- (1) 'सह' अर्थात् साथ होना और (2) 'हितेन सहसहित' अर्थात् हित के साथ होकर या जिससे हित का संपादन हो। 'सह' (साथ होकर) से यह अर्थ निकलता है कि जहाँ शब्द और अर्थ, विचार और भाव का परपरानुकूलता के साथ सह भाव हो वह 'साहित्य' है। इसी भाव में साहित्य की सामाजिकता का भाव भी ध्वनित होता है।

भारतीय चिंतन में 'साहित्य' शब्द के दो अर्थ माने गए हैं- व्यापक और संकुचित। अपने व्यापक अर्थ में साहित्य को सारे वाङ्मय का पर्याय कहा गया है। अर्थात् शब्द-भंडार और वाणी का जहाँ तक विस्तार है वह सब साहित्य के अंतर्गत है। संकुचित और रूढ़ अर्थ में साहित्य को केवल काव्य का पर्याय माना गया है। इस भेद को गुलाबराय ने इस प्रकार व्यक्त किया है- 'व्यापक अर्थ में साहित्य ऐसी शाब्दिक रचना का वाचक है जिसमें कुछ हित या प्रयोजन हो और अपने रूढ़ अर्थ में काव्य या भावनाप्रधान साहित्य इसका पर्याय है।'

भारतीय चिंतन में साहित्य की अनेक परिभाषाएँ प्राचीन काल से विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई हैं। राजशेखर के अनुसार 'शब्दार्थ-योर्यथा वत्सहभावेन विधा साहित्य विधा'। इस परिभाषा का यह अर्थ है कि 'शब्द और अर्थ के यथायोग्य सहयोग वाली विधा साहित्य विधा है।' शब्दरत्नप्रभु नामक ग्रंथ में श्लोकमय ग्रंथ को साहित्य कहा गया है। विश्वविख्यात कवि और चिंतक वीन्द्र नाथ ठाकुर ने साहित्य की परिभाषा इस प्रकार दी है- 'सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। यह केवल भाव-भाव का, भाषा भाषा का, ग्रंथ-ग्रंथ का ही मिलन नहीं है बल्कि मनुष्य-मनुष्य का, अतीत-वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यंत अंतरंग मिलन भी है जो साहित्य के अतिरिक्त अन्य से संभव नहीं है।

गंगा प्रसाद पांडेय साहित्य की विवेचना करते हुए कहते हैं- 'साहित्य विचारशील आत्माओं की अमर अभिव्यक्ति है। उसमें जीवन संबंधी उन विशेष विचारों का संकलन होता है जो हमारे यथार्थ जीवन को प्रगति देते हैं। वस्तुतः साहित्य हमारा शब्द-जीवन है क्योंकि साहित्यकार जीवन की जटिलता तथा निरसता और सरसता का उपयोग करने के बाद ही उसको अपनी शब्द-सीमा में बांधने का प्रयत्न करते हैं'।

साहित्य की परिभाषाओं से हम यह तो समझ ही गए हैं कि साहित्यकार जो कुछ लिखता है उस पर उसके अनुभवों, विचारों और मनोभावों की अमिट छाप रहती है। साहित्यकार मनुष्य की आकांक्षाओं, इच्छाओं और भावनाओं को तो प्रकट करता है लेकिन वह इन सबको अपने ढंग से स्वरूप देकर अपनी रुचि के अनुसार प्रस्तुत करता है। अतः साहित्यकार में स्वानुभूति का गुण अनिवार्य माना गया है। साहित्यकार को अपने को पहचानना पड़ता है। यदि वह अपनी रुचि को दबाकर कृत्रिम स्वर में रचना करता है तो तत्काल अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिए अनुचित रीति से दूसरे का पदानुगामी होना भी साहित्यकार के लिए अक्षम्य दोष है। संसार के जितने भी बड़े साहित्यकार हुए हैं उनकी रचनाओं की एक विशेषता होती है। उनकी रचनाओं का सीधा संबंध लेखक की मनोवृत्तियों और जीवन से होता है। इसी विशेषता के द्वारा हम किसी लेखक की रचना को अलग से पहचानते हैं। अतः साहित्य का आत्माभिव्यंजक होना कई विद्वानों ने अनिवार्य माना है।

संस्कृत के आचार्य 'शब्द' और 'अर्थ' को काव्य का शरीर मानते हैं। इन आचार्यों के एक दल ने आत्मा की खोज करते हुए रस को काव्य (साहित्य) की आत्मा माना-वाक्य रसात्मक काव्यम् (आचार्य विश्वनाथ)। आचार्यों का दूसरा वर्ग काव्य के शरीर अर्थात् अलंकारों को ही साहित्य की आत्मा मानता है (भामह, दंडी)। अलंकारों को ही काव्य की आत्मा मानते हुए आचार्य केशवदास ने यह उक्ति कही थी:

'जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुवरन, सरस सुकृत्र।
भूषण बिनु नहि राजही, कविता, बनिका, भिन्न॥'

आचार्यों का तीसरा वर्ग वक्रोक्ति अर्थात् बात को कलात्मक ढंग से घुमा-फिराकर कहने को ही काव्य की आत्मा मानता है। परन्तु सभी आचार्य काव्य में रस की महत्ता को स्वीकार करते हैं। भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर हम साहित्य की तीन विशेषताएँ निर्धारित कर सकते हैं:

- (1) हित साधना करना : 'हित सन्नहितं तत् साहित्यम्'
- (2) मानव मनोवृत्तियों को तृप्त करना : 'सहित रसेन युक्तम्, तस्य भाव साहित्यम्'
- (3) मानव मनोवृत्तियों को उत्पन्न करना : 'अवहित मनसा महर्षिभिः तत् साहित्यम्'

ऊपर भारतीय दृष्टिकोण से साहित्य की जो परिभाषा दी गई है और साहित्य की विशेषताएँ निर्धारित की गई हैं उनके आधार पर साहित्य के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाल सकते हैं, भारतीय दृष्टिकोण यह मानता है कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य मानव मात्र का-हित-साधन है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय साहित्य में यथार्थ का तत्व नहीं के बराबर है, जैसा कि कई पाश्चात्य आलोचक कहते हैं। भारतीय चिंतन यह मानते हैं कि यथार्थ ही श्रेष्ठ और सच्चे साहित्य के अस्तित्व की नींव है। भारतीय साहित्य इसका प्रमाण है। वैदिक कवियों ने प्रकृति से एकात्म हो कर साहित्य-सृजन किया परन्तु कठोर यथार्थ जीवन की समस्याओं की उन्होंने उपेक्षा नहीं की। रामायण और महाभारत में युगीन समस्याओं का चित्र क्या नहीं है? भारतीय साहित्य हमेशा जन-जीवन के समानांतर चला है। इसीलिए भारत में साहित्य को जीवन के लिए उपयोगी होना अनिवार्य माना गया।

भारतीय चिंतन के साथ ही युरोपीय चिंतन में भी 'साहित्य' पर गहराई से विचार किया गया है। युरोपीय समीक्षकों में साहित्य से संबंधित दो विचारधाराएँ प्रचलित हैं। एक विचारधारा में साहित्य को जीवन के लिए माना गया है जबकि दूसरी विचारधारा जीवन से साहित्य का कोई संबंध स्वीकार नहीं करती। इन्हीं दो भिन्न विचारधाराओं के कारण युरोप में साहित्य से संबंधित दो मत प्रसिद्ध हैं- (1) कला जीवन के लिए और (2) कला कला के लिए।

यदि साहित्य की विभिन्न परिभाषाओं के संदर्भ में उसकी विवेचना की जाय तो हम साहित्य के संबंध में कई बातें कह सकते हैं। एक तो यह कि 'साहित्य' समाज की चेतना में फलता-फूलता है। क्योंकि साहित्य जीवन के सुख-दुख, हर्ष-विषाद के ताने-बाने से बुना जाता है अतः उसमें मानव की आत्मा का स्पंदन हमें सुनाई देता है। साहित्य मानव की अनुभूतियों, भावनाओं और कलाओं का सागर रूप है। इसीलिए कुछ विद्वानों ने साहित्य को 'समाज का दर्पण' भी कहा है। 'साहित्य' का अर्थ है- जो हित सहित हो। विकसित हृदय और परिष्कृत बुद्धि द्वारा ही मनुष्य, समाज और राष्ट्र की उन्नति संभव हो पाती है। इन दोनों कार्यों के लिए साहित्य सबसे प्रभावशाली साधन है।

1.3.3 साहित्य (काव्य) के तत्व

साहित्य से संबंधित विचारधारा को समझने के लिए उसके तत्वों की जानकारी आवश्यक है। इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के लक्षण भी निर्धारित किए और काव्य के चार मूल तत्व माने हैं- कल्पना, बुद्धि, भाव और शैली।

यह कहा गया है कि कल्पना तत्व के माध्यम से कलाकार अप्रत्यक्ष और अमूर्त वस्तुओं का चित्रण करता है। कल्पना तत्व की सहायता से ही वह साधारण को असाधारण तथा नीरस को सरस बना कर पाठक को रसलपवित कर देता है।

बुद्धि तत्व में विचार की प्रधानता होती है। कलाकार या कवि किसी विशेष उद्देश्य से अपनी रचना करता है और पाठक को एक विशेष संदेश उसके माध्यम से देना चाहता है। इसके लिए वह काव्य के माध्यम से अपने विचार व्यक्त करता है। इन विचारों को ही साहित्य का 'बुद्धि तत्व' कहा जाता है।

भाव तत्व को भारतीय आचार्यों ने काव्य की आत्मा माना है। रस का संबंध भावों से होता है। पाश्चात्य विचारक भी काव्य और कला में भाव तत्व के महत्व को स्वीकार करते हैं।

शैली तत्व का संबंध काल के कलापक्ष से है। इसके अभाव में बुद्धि, कल्पना और भाव की सफल व्यंजना नहीं हो सकती।

इस प्रकार साहित्य में बुद्धि तत्व से 'सत्य' और 'शिव' की रक्षा होती है, और कल्पना, भाव तथा शैली तत्व से 'सुंदरम' की। इन चारों तत्वों के आधार पर साहित्य की निम्न लिखित परिभाषा निश्चित की जा सकती है 'काव्य साहित्य वह वस्तु है जिसमें मनोभावात्मक, कल्पनात्मक, बुद्धियात्मक तथा रचनात्मक तत्वों का समावेश हो।'।

1.4 सारांश

यहां साहित्य की परिभाषा को पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टि से देखते हुए साहित्य को और भलीभाँति समझने का प्रयत्न हम करेंगे। यूरोपीय विद्वानों में हेनरी डडसन का प्रमुख स्थान है। डडसन मानते हैं कि 'साहित्य मूलतः भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति है।' प्रसिद्ध कवि और आलोचक वर्ड्सवर्थ जीवन की वास्तविक घटनाओं के सत्य वर्णन को ही काव्य मानते हैं। इस वर्णन में कल्पना की आवश्यकता को भी स्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में साहित्य 'Spontaneous overflow of powerful feelings' है। प्रसिद्ध कवि शैली के शब्दों में 'कल्पना की अभिव्यक्ति ही काव्य है।'।

भारतीय चिंतक काव्य को जीवन का एक अभिन्न अंग मानते हैं। वे काव्य को उपदेश देने का साधन नहीं मानते। उनकी दृष्टि में उपदेश धर्म की वस्तु है। भारतीय चिंतकों के विचार का सार है कि 'हमारे विचार काव्य का सुन्दर धारण कर जनता जनता के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालें तभी काव्य, काव्य बनता है। इसीलिए इन आचार्यों के लिए काव्य-कला जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति रही है। इसी से साहित्यकार

को भी ये विचारक 'काता सम्मत' उपदेश देने वाला कहते हैं। यही विचार आधुनिक विचारकों में भी पुष्पित-पल्लवित होते हुए हम देख सकते हैं। टैगोर्स ने कहा था कि 'हम जो कुछ साहित्य में करें वह आकर्षक होना चाहिए। उसमें यह अभिव्यक्ति न हो कि साहित्यकार उपदेश दे रहा है क्योंकि राजनीति, इतिहास, धर्मशास्त्र और साहित्य में पर्याप्त अंतर है।' इसी बात को दूसरे शब्दों में बंगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय कहते हैं 'कवि संसार के शिक्षक हैं, किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौंदर्य की चरम-सृष्टि करके संसार की चित्त-शुद्धि करते हैं। यही सौंदर्य की चरमोत्कर्ष साधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है। इस बात में कोई संदेह नहीं है कि साहित्य हमारे (पाठक के) बाह्य और आंतरिक जीवन को निरंतर प्रभावित करता रहता है। इसका कारण यह है कि हम जिस समाज में रहते हैं इसी सामाजिक वातावरण में साहित्य का जन्म होता है और उसी में विकास। इसी समाज में कवि या रचनाकार भी जन्म लेता है और अपना शारीरिक, बौद्धिक विकास करता है। इसीलिए साहित्य का प्रभाव चिरस्थायी होता है।

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

प्रणाली	:	Procedure
प्रतिक्रिया	:	Reaction
व्यक्तित्व	:	Personality
आकर्षण	:	Attraction
विकर्षण	:	Distraction
यथार्थ जीवन	:	Reality of Life
स्वानुभूति	:	self experience
सामाजिक चेतना	:	social consciousness
समाज का दर्पण	:	Reflection of Society
कल्पना	:	Imaginary
बुद्धि	:	Sense
भाव	:	Emotion
शैली	:	Style

1.6 अभ्यास

1.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. भारतीय चिंतन के संदर्भ में साहित्य का अर्थ निर्धारित कीजिए।
2. साहित्य के चारों तत्वों की व्याख्या कीजिए।

1.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)

1. साहित्य शब्द का शाब्दिक अर्थ समझाइए।
2. साहित्य के संदर्भ में लेखक के जीवन और उसकी मनोवृत्ति का महत्व स्थापित कीजिए।
3. भारतीय विचारकों की दृष्टि से साहित्य की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
4. 'साहित्य का मुख्य उद्देश्य 'हित-साधन' है।' सिद्ध कीजिए।
5. पश्चात्य विचारकों की साहित्य संबंधी धारणा स्पष्ट कीजिए।

1.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

1.7.1 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न-1: 'साहित्य' शब्द का शाब्दिक अर्थ समझाइए।

उत्तर: 'साहित्य' शब्द का अर्थ है- साहित होने का भाव: 'साहितस्य भावं साहित्य'। विद्वानों ने 'सहित' शब्द के दो अर्थ माने हैं।

(1) 'सह' अर्थात् साथ होना और (2) 'हितेन सहसहित' अर्थात् हित के साथ होना या जिससे हित का संपादन हो। 'सह' (साथ होना) से यह अर्थ निकलता है कि जहाँ शब्द और अर्थ, विचार और भाव का परंपरानुकूलता के साथ सहभाव हो वह 'साहित्य' है। इसी भाव में साहित्य की सामाजिकता का भाव भी ध्वनित होता है। 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से इस शब्द का उपर्युक्त अर्थ ही विद्वानों ने निश्चित किया है।

1.8 पठनीय पुस्तकें

कवि कर्म और काव्य भाषा	:	डा. परमानंद श्रीवास्तव, 1975. बारणासी: विधि. प्रकाशन
साहित्य विज्ञान	:	डा. यणपति चन्द्र गुप्त, 1963. चंडीगढ़: भारतेन्दु भवन
काव्य का स्वरूप	:	रामानंद तिवारी, 1968. भरतपुर: माती मंदिर
साहित्य तथा उसकी विविध विधाओं का अध्ययन	:	चरणदास तिवारी, 1981. अलीगढ़ ग्रंथालय
नया साहित्य नये प्रश्न	:	डॉ. भगवति मिश्र
हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास	:	बाबू गुलाबराय, 1962. आगरा

इकाई-2: कला: परिभाषा, तत्व और वर्गीकरण

- 2.0 विषय प्रवेश
- 2.1 पाठ का उद्देश्य
- 2.2 पाठ परिचय
- 2.3 मूलपाठ
 - 2.3.1 विषय प्रवेश
 - 2.3.2 कला की परिभाषा
 - 2.3.3 कला का वर्गीकरण
 - 2.3.4 काव्य और कला
- 2.4 पाठ का सारांश
- 2.5 शब्दार्थ
- 2.6 अभ्यास
 - 2.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 2.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 2.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 2.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 2.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.1 पाठ का उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में कला की परिभाषा, उसके तत्व और वर्गीकरण पर प्रकाश डाला गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- कला की संधारणा पर विचार कर सकेंगे।
- कला को परिभाषित कर सकेंगे।
- उसके तत्वों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- उपयोगी और ललित कला के भेद को स्पष्ट कर सकेंगे।
- कला की विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।

2.2 पाठ परिचय

इस पाठ में मनुष्य की चेतना के विकास के साथ उसके सोचने-समझने के विकास को जोड़ते हुए उसकी अभिव्यंजना का शक्ति के विकास की चर्चा की गई है। अनेक अनुभवों और प्रभावों को मनुष्य की अभिव्यंजना शक्ति के संदर्भ में दिखाया गया है। 'कला-द्वारा' भी मनुष्य अपने अनुभवों की सौंदर्यात्मक अनुभूति करता है।

भारतीय और पाश्चात्य दोनों चिंतन धाराएँ मानव मन की अनुभूतियों की अभिव्यंजना को ही 'कला' मानते हैं। इन की विवेचना इस पाठ में की गई है। मानसिक अभिव्यक्ति को कला मानने वाले, सौंदर्य को 'कला' को मूल मानने वाले विचारों पर भी चर्चा की गई है।

इस पाठ में कलाओं के वर्गीकरण पर भी विस्तृत चर्चा है। कला के विभाजन की आवश्यकता है या नहीं? इस प्रश्न पर चर्चा करते हुए। यह स्पष्ट किया गया है कि कला के विभाजन का व्यावहारिक आवश्यकता है। 'कला का विभाजन' 'उपकरण के भेद' के आधार पर यह खा गया है 'उपकरणों' की 'मूर्तता' 'अमूर्तता' कलाओं को एक-दूसरे से श्रेष्ठ बनाती है, 'ललित' और 'उपयोगी' दो मूल कला-वर्गों के संदर्भ में 'पूर्ण' 'अपूर्ण' और 'सफल' 'असफल' कला की चर्चा करते हुए चार मूल विभाजन करते हुए 'अनुभूति और रस के समन्वय' वाली कला को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया गया है।

ललित कलाओं के पांच भेदों का परिचय हीगेल के विभाजन के आधार पर दिया गया है। इन कला-रूपों के आधारों की भी चर्चा की गई है।

सभी कलाओं में 'काव्य कला' को भी इस पाठ में स्थान दिया गया है। कई विद्वान काव्य को 'कला' नहीं मानते। लेकिन कई विद्वान काला को सर्वश्रेष्ठ कला मानते हैं। काव्य अन्य कलाओं से श्रेष्ठ क्यों है? इस पर विचार करते समय पर निष्कर्ष दिया गया है काव्य में उपमानों की मूलता होती है, अतः वह श्रेष्ठ है। इसके साथ ही काव्य-कला की श्रेष्ठता के पांच कारणों की चर्चा की श्रेष्ठ है।

यह पाठ 'कला' संबंधी विचारधाराओं, अंतों और तर्कों को विवेचनात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है। 'कला' के वर्गीकरण को स्पष्ट करता है। 'कला' के रूपों का परिचय देता है। साहित्य या काव्य की दृष्टि से 'कला' के संदर्भ को हिन्दी-साहित्य से जोड़ कर भी देखता है।

2.3 मूलपाठ

2.3.1 विषय प्रवेश

यह तो हम जानते ही हैं कि मनुष्य एक चेतना संपन्न प्राणी है। मनुष्य की चेतना उसे आगे बढ़ने और सोचने की प्रेरणा देती रहती है। अपनी चेतना के द्वारा मनुष्य अपने चारों ओर की सृष्टि का अनुभव प्राप्त करता है। उन्हें देखता-सुनता है, उनसे प्रभावित होता है। इस प्रकार उसके मन पर जो प्रभाव पड़ते हैं उन्हें व्यक्त करने के लिए वह आदिम युग से ही व्यग्र होता आया है। यह सच है कि अदिकाल में मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित थीं और उसका अनुभव भी साधारण था। इसका कारण यह था कि तब वह अपने आस-पास के वनों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों, पर्वतों-गुफाओं आदि को ही देखता था और बहुत थोड़े से पदार्थों से उसका जीवन-निर्वाह हो जाता था। अतः स्वभाविक था कि उसके क्रिया-कलाप भी एक सीमित क्षेत्र में ही होते थे। इसीलिए उसके अनुभवों की संख्या भी थोड़ी थी।

सभ्यता के विवास के साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ी और क्रमशः अधिकाधिक जीव-जगत उसके संपर्क में आने लगा। इस संपर्क से मनुष्य के अनुभवों में भी वृद्धि हुई और उसकी चेतना भी विस्तृत और परिमार्जित होती गई। धीरे-धीरे उसमें स्मृति, इच्छा, कला, विवेक-बुद्धि आदि का विकास हुआ। अब वह अदृश्य और अभुत वस्तुओं की कल्पना करने लगा, सुन्दर-असुन्दर, सत्-असत्, उचित-अनुचित को पहचानने लगा। आवश्यकता और उपयोगिता के अनुसार मनुष्य के प्रयोग-क्षेत्र में जो वस्तुएँ आईं उन पर उसने अब भले बुरे भाव का आरोप करना सीख लिया। समय के साथ उसके संस्कार दृढ़ हुए, उसकी चेतना विकसित हुई और उसकी बोधवृत्ति सुव्यवस्थित और पृष्ठ हुई।

जिस तद्भूत चेतन मनुष्य पर बाह्य सृष्टि की विविध वस्तुओं की छाप पड़ती है उसी प्रकार इन अनेक भिन्न-भिन्न प्रभावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति का भी उसमें उन्मेष होता है। बाह्य-सृष्टि मनुष्य पर सुख-दुःख, हित-अहित, हर्ष-शोक आदि की जो भावनाएँ उत्पन्न करती हैं उनको अभिव्यजित करना मनुष्य के लिए अनिवार्य-सा है। इसीलिए अनेक विद्वान यह मानते हैं कि मनुष्य की अभिव्यजना शक्ति उसके अस्तित्व के साथ ही संबद्ध है। मानव मस्तिष्क का निर्माण ही इस ढंग से हुआ है कि वह अपनी इस प्रवृत्ति को रोक नहीं सकता। मनोभावों को व्यग्र करने की इसी अदम्य और शाश्वत भावना को कला की जननी माना जाता है।

इस संदर्भ में बाबू श्याम सुन्दर दास का निम्न लिखित कथन महत्वपूर्ण है- "जिस प्रकार चंचल समीर जलराशि पर स्वतः अपना चित्र अंकित कर देता है अथवा जैसे सूर्य की किरणें शिलाखंडों पर आप ही आप अपना शीतोष्ण गुण समाहित कर जाती हैं उसी प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क में संपूर्ण जीव-जगत का चित्र आप से आप अंकित हो जाता है।"

मनुष्य के मस्तिष्क में ये चित्र अगोचर रूप में अंकित रहते हैं जिन्हें वह गोचर रूप में चित्रित करना चाहता है। पहले साधनों की कमी थी अतः मनुष्य इन्हें स्पष्ट ढंग से व्यक्त नहीं कर पाता था। बाद में अभिव्यञ्जना की शक्ति का मनुष्य में विकास भी होता गया और अभिव्यञ्जना की भिन्न-भिन्न विधियाँ भी विकसित और प्रतिष्ठित होने लगी। अभिव्यञ्जना की इन्हीं विधियों को 'कला' की संज्ञा दी गई।

यद्यपि अभिव्यञ्जना को ही 'कला' माना गया है परन्तु संपूर्ण अभिव्यञ्जना 'कला' नहीं है, मनुष्य की बुद्धि में यह सामर्थ्य होता है कि वह केवल वस्तुओं का चित्रांकन ही नहीं करती बल्कि उनकी मीमांसा, श्रेणी-निर्माण और नियम-निर्धारण भी करती है। इसीलिए यह कहा गया है कि मनुष्य केवल कलाकार नहीं दार्शनिक और धितक भी है। लेकिन मनुष्य द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धांत या वैज्ञानिक-नियम 'कला' नहीं है जबकि ये भी उसकी अभिव्यञ्जना शास्त्र का ही एक अंग हैं। अतः 'कला' का संबंध नियमों से नहीं है वह तो रूप की अभिव्यक्ति मात्र है।

2.3.2 कला की परिभाषा

मानव मन की अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना ही कला है। रस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारतीय और पाश्चात्य चिंतकों ने अनेक आयामों से 'कला' को परिभाषित करने का प्रयत्न किया और 'कला' के जन्म और उसके उद्देश्यों पर भी यथा संभव प्रकाश डाला।

कुछ विद्वानों ने कला की परिभाषा देते हुए यह स्थापित किया कि 'कला' का मूल मानव की अनुकरण करने की प्रवृत्ति में निहित है और अनुकरण का मूल विषय प्रकृति है। यह भी कहा गया है कि प्रकृति के विभिन्न रूपों का प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है और ये रूप ही उसकी अभिव्यञ्जना का विषय बनते हैं और उसके मन में भाव उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ये विद्वान 'कला' और 'प्रवृत्ति' में घनिष्ठ संबंध भी मानते हैं और 'कला' को प्रवृत्ति का अनुकरण। इस प्रकार के विचार के पोषक पाश्चात्य विद्वानों में अरस्तु और दांते रहे हैं। दांते ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डिवाइन कामेडी' में 'कला' की परिभाषा देते हुए लिखा है—
"Art, as far as it is able, follows nature, as a pupil imitates his master, thus your art must be, as it were, God's grand child"

कला का संबंध प्रवृत्ति और ईश्वर से है, इसमें संदेह नहीं। मनुष्य प्रकृति के चित्रों को जब रस सिकृ करके अभिव्यञ्जित को रसानुभूति प्रदान करते हैं। भारतीय चिंतन में इसे ही 'रस' कह, गया। लेकिन कला की प्रवृत्ति केवल प्रकृति के अनुकरण या केवल ईश्वर के अनुमोदन तक ही सीमित नहीं रहती। मनुष्य का 'स्व' इन दोनों को उचित स्थान देते हुए इनसे स्वतंत्र हो कर भी रचनाशील होता है। 'कला' में मनुष्य का यही 'स्व' पूर्णता के साथ सर्वोपरि होता है, जैसा कि चंडीदास ने कहा था 'साबार ऊपर मनुष सत्य, ताहर ऊपर नाई, अर्थात् मानव सत्य ही सर्वोपरि है उसके ऊपर कुछ भी नहीं है। 'कला' को अनुकरण के रूप में परिभाषित करने वाली विचार-धारा के विरोध में यह भी कहा जा सकता है कि अनुकरण की प्रवृत्ति में आत्महीनता की भावना होती है और आत्महीनता की अनुभूति लेकर 'कला' जैसी विश्वासजन्य और सर्वोत्कृष्ट वस्तु को जन्म नहीं दिया जा सकता। फिर भी पाश्चात्य काव्यशास्त्री अरस्तु, दांते और हीगल 'कला' को अनुकरण मान कर ही परिभाषित करते हैं। अरस्तु की 'कला' की परिभाषा देखिए—स्वभाव अथवा कला के माध्यम से मनुष्य विभिन्न वस्तुओं का अनुकरण करता है। कुछ कलाकार रंगों और मूर्तियों के द्वारा अनुकरण करते हैं तथा अन्य शब्दों द्वारा।' इसी से मिलती-जुलती परिभाषा हीगल भी देते हैं, प्राकृतिक सौंदर्य ईश्वरीय सौंदर्य का आभास है, कला उसी आभास की पुनरावृत्ति है।' ये परिभाषाएँ मानसिक भावनाओं के उद्गम की ओर संकेत करती हैं।

कुछ विद्वानों ने 'कला' की परिभाषा भिन्न रूप में भी दी। ये सभी विद्वान कला-सृजन की प्रेरणा को केवल सौंदर्य-बोध या प्रकृति के अनुकरण तक सीमित नहीं करते बल्कि 'कला' की प्रेरणा को भावना-संप्रेषण की इच्छा में निहित मानते हैं। इसीलिए क्रोचे ने 'मानसिक अभिव्यक्ति' को 'कला' माना। तालस्टाय के शब्दों में 'शब्द विचारों के बाहक होते हैं और कला भावना की वाहिका होती है। कला-निर्माण की प्रेरणा अनुभूतियों की प्रेषण-इच्छा से मिलती है।' कला-संबंधी उपरोक्त विचार यह स्पष्ट करते हैं कि कला और साहित्य में मनुष्य

की भावना प्रमुख होती है। अपनी विवेक-बुद्धि से मनुष्य अपनी इच्छाओं को संयमित करता है ऐसा करने से उसकी भावनाएँ पारिमार्जित होती चलती हैं। इन प्रमार्जित भावनाओं से संपन्न कलाएँ ही मनुष्य समाज की सदस्यताओं की प्रतिवृत्ति के रूप में स्थापित हो पाती हैं। अनुभव को अभिव्यक्त करने की भावना ही 'कला' का मूल है। मानव-मन में उत्पन्न सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आश्चर्य-भय आदि की विभिन्न भावनाएँ जब उत्पन्न होती हैं तो वह उनकी अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील होता है। इसी बात को देखते हुए राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त ने 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति' को 'कला' कहा। यहां हमें 'साधारण शक्ति' और 'कुशल शक्ति' के भेद को भी समझना चाहिए। कलाकार अपनी अभिव्यक्ति में कुशल शक्ति का उपयोग करता है जबकि वैज्ञानिक साधारण शक्ति का। वैज्ञानिक वस्तु को जिस रूप में देखता है उसी रूप में उसका विश्लेषण करके उस वस्तु के मूल तत्व तक पहुँचना चाहता है। जबकि कला के मूल में सौंदर्य के प्रत्यक्षीकरण की भावना रहती है अतः कलाकार समग्र वस्तु को, उसके संपूर्ण सौंदर्य को ग्रहण कर अपनी कल्पना, आकांक्षा के अनुरूप ढाल कर अभिव्यक्त करता है।

कुछ विद्वानों ने सौंदर्य-बोध में आनंद की प्रतीति को 'कला' माना है। प्रसिद्ध कवि और चिंतक रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'कला' का मूल 'सौंदर्य-भावना' को मानते हैं। लेकिन उनका मत अभिव्यजनावादियों या भावनावादियों से भिन्न है। उन्होंने 'कला' की परिभाषा को एक व्यापक अभ्यास देते हुए अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किए हैं 'सौंदर्य का बोध हमें विश्व की विभूतियों में आनंद की प्रतीति दे कर, हमारी कला को अधिक सुन्दर और संपन्न बनाता है। जब हम आत्मा के सौंदर्य का बोध करते हैं तो विश्वात्मा के परमानंद का अनुभव हमारी कला को कल्याण और प्रेम के मार्ग से असीम की ओर ले जाता है। अतः कला को सुन्दर और संपन्न बनाने के लिए आत्म सौंदर्य और विश्व-सौंदर्य की अनुभूति की व्यजना आवश्यक है।' 'प्रसाद' ने अपने 'काव्य और कला' निबंध में 'कला' के इसी व्यापक अर्थ की ओर संकेत करते हुए भारतीय आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है। भोजराज के ग्रंथ 'तत्त्वप्रकाश' में 'कला' की परिभाषा का विवेचन करते हुए 'प्रसाद' ने उसे 'कर्तव्य की व्यंजक शक्ति' कहा (व्यंजयित कर्तृशक्ति-कलोति तेनेह कथित सा) और 'कला' की अपनी परिभाषा इन शब्दों में दी- 'काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञान-धारा है।'

'कला' संबंधी उपरोक्त विचारों और परिभाषाओं को देखने से हम यह धारणा बना सकते हैं कि जब मनुष्य ने विश्व सौंदर्य के रूप में व्यक्त चिरंतन आनंद की अनुभूति को जीवन के प्रति आस्था, शक्ति के प्रसार के लिए व्यक्त करने की आवश्यकता महसूस की तब यह आवश्यकता ही कला की जाननी हुई। यदि इस बात को परिभाषा के रूप में कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं 'विश्व-सौंदर्य द्वारा प्राप्त आनंद बोध की स्वानुभूति मनुष्य ने सचेष्ट हो कर जिस क्षमता के साथ व्यंजित की, वही 'कला' है।

'कला' के मूल में सौंदर्य की भावना की प्रधानता होती है, इस बात को अधिकांश विद्वान स्वीकार भी करते हैं। तब हमारे मन में एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या 'कला' का उद्देश्य केवल साज-शृंगार ही है? केवल शृंगार-सजावट तक सीमित 'कला' को विवृत, अशुद्ध और विशिष्ट माना गया है। 'कला' विश्व-रूप को मूर्त करने वाली जननी है जो शुद्ध आनंद प्रेरणा से जीवन के उदात्त पक्ष की अभिव्यक्ति करती है अतः कलात्मक निर्माण में मानवी-शुद्धा का संयोग ही 'कला' को शिखर पर पहुँचाता है, उसे कालजयी बनाता है।

दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि 'कला' में भाव का अधिक महत्व होता है या रूप का। उत्कृष्ट कला उसे ही माना गया है जिसमें दोनों का समन्वय हो। कालिदास ने भाव और रूप के तारतम्य की विवेचना करते हुए कहा है कि- भाव 'अर्थ' है, रूप 'शब्द' है। अर्थात् जब भाव और रूप शब्द और अर्थ की तरह एक-दूसरे से समन्वित होते हैं तभी 'कला' पूर्ण मानी जाती है। उदाहरण के लिए यदि साहित्य में केवल भाव हो और भाषा की पूर्णता न हो तो साहित्य (कला) अपूर्ण है। इसी प्रकार यदि कला में कल्पना और रूप न हो तो वह आकृष्ट नहीं कर सकती। अतः कला में भाव और रूप का संतुलित समन्वय आवश्यक है।

2.3.3 कलाओं का वर्गीकरण

कई विद्वान यह बात बल दे कर कहते हैं कि 'कला एक अखंड अभिव्यक्ति है अतः उसका विभाजन असंभव है।' प्रसिद्ध कलाशास्त्री क्रोचे का कहना है कि 'न तो कलाशास्त्र की दृष्टि से और न दार्शनिक दृष्टि से कलाओं का श्रेणी-विभाग किया जा सकता है।' कला जब मूर्त रूप में हमारे सामने आती है तब उसके विभिन्न रूपों के दर्शन करते हैं, इसमें संदेह नहीं। लेकिन क्रोचे इन रूपगत भिन्नताओं को तात्त्विक भिन्नता नहीं, मात्र बाह्य भेद कहते हैं। कलाकार तो केवल अपनी मानसिक अभिव्यक्ति (कला) को कभी चित्र में चित्रित करता है, कभी मूर्ति में प्रस्फुटित करता है और कभी साहित्य में उकेरता है। इस तरह उसकी मानसिक अभिव्यक्ति कला का बाह्य रूप धारण करती है। लेकिन उसकी मूल अभिव्यक्ति तो एक ही रहती है। इसीलिए तात्त्विक दृष्टि से कला का विभाजन संभव नहीं। इन्हीं कारणों से 'कला' का विभाजन दार्शनिक और कलात्मक दृष्टि से भी नहीं हो सकता।

परन्तु कला के विभाजन-वर्गीकरण की व्यावहारिक आवश्यकता को सभी विद्वान स्वीकार करते हैं। इसीलिए अभी तक कला के जो विभिन्न विभाजन किये गए हैं वे तात्त्विक दृष्टि से न हो कर व्यावहारिक दृष्टि से किये गए हैं। इन विभाजनों के केन्द्र में अभिव्यंजनों के विभिन्न आधारों को रखा गया है। अभिव्यंजना के विभिन्न आधारों की बात को यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। यह तो हम जानते ही हैं कि एक ही वस्तु का प्रभाव तो विभिन्न कलाकारों के हृदय पर समान पड़ता है लेकिन इस प्रभाव को व्यक्त करने का उनका ढंग उनकी रुचि-विशेष पर निर्भर करता है। अर्थात् प्रभावों को व्यक्त करने के लिए भिन्न कलाकार अभिव्यंजना के भिन्न आधार अपनी रुचि के अनुसार, अपनाते हैं। कलाकारों की रुचि-विशेष के व्यक्त प्रकारों के आधार पर ही कलाओं का विभाजन किया गया है, जो पूरी तरह व्यावहारिक है। इस विभाजन का आधार 'कला' के अनिवार्य उपकरण हैं जैसे चित्र, काल, संगीत, मूर्ति, स्थापत्य आदि। इन उपकरणों के माध्यम से कलाकार अपने हृदय पर पड़े हुए प्रभावों से उत्पन्न भावों को व्यक्त करता है। इसीलिए क्रोचे ने इस बाह्य/व्यावहारिक विभाजन को 'उपकरण भेद' भी कहा। जैसा कि पहले भी कहा गया कि एक ही सुन्दर वस्तु को देखकर एक कलाकार उनको चित्र द्वारा, दूसरा मूर्ति द्वारा, तीसरा संगीत द्वारा, चौथा कविता द्वारा व्यक्त करता है। यहाँ प्रभाव एक ही है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति के साधनों में भिन्नता है।

कला के दो वर्ग:

ललित कला: इसी व्यावहारिक दृष्टि से कलाओं को सबसे पहले दो वर्गों में बांटा गया— (1) ललित कला और (2) उपयोगी कला। तात्त्विक दृष्टि से यह वर्गीकरण संभव नहीं जान पड़ता। लेकिन इस विभाजन के मूल आधार भी वे बाह्य उपकरण या आधार हैं जिनकी सहायता से कलाकार अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है। अन्यथा कला के क्षेत्र में ललित्य और उपयोगिता सापेक्ष वस्तुएँ हैं। अर्थात् एक में दूसरे का मिश्रण संभव और कभी-कभी अनिवार्य है। क्योंकि ललित कलाओं में उपयोगिता होती है और उपयोगी कलाओं में ललित्य भी होता है। उपयोगी कला के अंतर्गत उन सभी कलाओं को रखा गया है जिनका संबंध हमारे दैनिक जीवन से निरंतर बना रहता है और जो जीवन के नित्य उपयोग की वस्तुएँ हैं जैसे लुहार, बढ़ाई, सुनार, कुम्हार, जुलाहा आदि के कार्य। ललित-कलाओं के अंतर्गत वे कलाएँ रखी गई हैं जिनका संबंध हमारे मानसिक और लोकोत्तर जीवन से है। ये कलाएँ हमारे जीवन में अदभुत आनंद की सृष्टि कर के हमें ऐसी लोकोत्तर अवस्था में पहुँचा देती हैं जिसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है।

व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से कलाओं का वर्गीकरण पूर्ण-अपूर्ण अथवा सफल-असफल विभागों में भी किया जा सकता है। कला-समीक्षक की दृष्टि सबसे पहले इसी विभेद की ओर जाती है। जब हम किसी काव्य की आलोचना करते हैं तो तब यह जानना चाहते हैं कि कवि अपने मनोभावों को व्यक्त करने में किस सीमा तक प्रकट हुआ है। कला के दो पक्ष होते हैं— अनुभूति पक्ष और रूप (कला) पक्ष। अनुभूति पक्ष के अंतर्गत वह अनुभूति या भाव आते हैं जो कलाकार को अनुप्राणित करते हैं। इन्हीं की सहायता से कलाकार, पाठक, श्रोता या दृष्टा उन भावों की अनुभूति करना चाहता है। कल्पवृक्ष के अंतर्गत वे आधार या भौतिक माध्यम आते हैं जिनकी सहायता से कलाकार अपनी अनुभूति या हृदय के भावों को यथाशक्ति प्रभावात्मक रूप में अभिव्यक्त करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त और श्रेष्ठतम मार्ग ढूँढ़ता है। इस प्रकार अनुभूति और कला के योग से ही कलावस्तु का जन्म होता है। किसी कलाकृति में अनुभूति और रूप का जितना ही संतुलित योग

होता है वह कलाकृति अपने पाठक या दृशक के हृदय पर उतनी ही सफलता से ठीक वही प्रभाव डालने में समर्थ होती है जिसका कलाकार ने स्वयं अनुभव किया था। कला की इस अभिव्यक्ति को 'कला' की सफल अभिव्यजना' माना जाता है। इसके विपरीत कुछ कलाकृतियाँ ऐसी होती हैं जो पाठक या दृष्टा के हृदय पर अपेक्षित-अभीष्ट प्रभाव नहीं डाल पातीं। इसका कारण यह होता है कि कलाकार अपनी कृति में अनुभूति और रूप का संतुलित योग करने में असमर्थ रहा है। इस असमर्थता के दो कारण हो सकते हैं— एक तो यह कि कलाकार की अनुभूति कच्ची है और दूसरा यह कि उसके पास अपनी अनुभूति को व्यक्त करने की साधनहीनता है। इसी बात को और स्पष्ट शब्दों में समझ लिया जाना कि कभी किसी कलावस्तु में अनुभूति की कमी रहती है तो कभी किसी में रूप व्यंजना की। जब कवि अथवा कलाकार के हृदय में उसकी भावना स्पष्ट नहीं हो पाती अर्थात् अनुभूति की कमी रहती है तब भी वह अपनी शब्दशक्ति या कारीगरी से काव्य अथवा कलावस्तु का निर्माण कर डालता है। परन्तु इससे उसकी असफलता प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार कभी अनुभूति तीव्र होते हुए भी कलाकार शब्दों, रेखाओं आदि का उपकरण जुटाने में पूर्णतः सफल नहीं होता। ऐसी वृत्तियाँ कला की असफल अभिव्यजना का उदाहरण मानी जाती हैं। कलावस्तु के इस प्रकार के अवयव संघटन की दृष्टि से कलाओं के कई विभाग किए जा सकते हैं— (1) अनुभूति की कमी, पर एक की विशेषता, (2) अनुभूति की तीव्रता पर रूप की कमी, (3) अनुभूति और रूप दोनों की न्यूनता और (4) अनुभूति तथा रूप का समन्वय। यह तो स्पष्ट ही है कि इनमें से अंतिम विभाग की कलावस्तुएँ ही श्रेष्ठ समझी जाती हैं और इनके निर्माता कलाकार सफल माने जाते हैं।

हिन्दी साहित्य में से ऊपर बताए गए चारों विभागों के कुछ उदाहरणों द्वारा आप इस चर्चा को और आसानी से समझ सकते हैं। हिन्दी साहित्य में कुछ काव्य ऐसे हुए हैं जिनका अनुभूति पक्ष (भावपक्ष) अत्यंत उत्कृष्ट और असाधारण है किन्तु रूपपक्ष (कलापक्ष) अपेक्षाकृत निर्बल है। ऐसे कवियों में कबीर, जायसी, मैथिलीशरण गुप्त आदि का नाम लिया जा सकता है। इसके ठीक विपरीत हिन्दी में कुछ कवि ऐसे हैं जिनका रूपपक्ष तो अति प्रबल है लेकिन अनुभूति पक्ष अत्यंत निर्बल। केशव, बिहारी जैसे कवियों में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। साथ ही हिन्दी में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं जिनके काव्य में अनुभूति और रूप दोनों का संतुलित योग मिलता है। इन रचनाकारों ने अपनी श्रेष्ठ अनुभूतियों को उत्कृष्ट और प्रांजल भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। इस प्रकार के हिन्दी कवियों में सूर, तुलसी, प्रसाद, निराला आदि का नाम लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त अनेकों ऐसे रचनाकार भी हैं जिनमें न तो अनुभूति की गहराई है और न ही रूप की उत्कृष्टता। इस प्रकार सफल कला वही मानी जाएगी जहाँ अनुभूति और रूप समान रूप से संतुलित, सशक्त और उत्कृष्ट हों।

ऊपर के विवेचन से यह तो स्पष्ट हुआ कि कला के वर्गीकरण का आधार उसके बाह्य उपकरण मात्र है। वास्तव में कला का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि कला एक अखंड अभिव्यक्ति है। उपयोगी कलाओं द्वारा मनुष्य की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं और इनसे उसके शारीरिक-आर्थिक विकास में सहायता मिलती है। जबकि ललित कला द्वारा मानसिक विकास और अलौकिक आनंद की सिद्धि होती है।

ललित कला और उपयोगी कला का विभाजन यूरोप की देन है। भारतीय काव्य शास्त्रीय चिंतन में इस प्रकार का कोई विभाजन हमें नहीं मिलता। कला को 'ललित' और 'उपयोगी' वर्गों में बांट कर देखने और विवेचित करने का श्रेय यूरोप के प्रसिद्ध कलाशास्त्री हीगेल को दिया जाता है। हीगेल ने ललित कला के पांच भेद किए हैं— वस्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य। निश्चित ही यह वर्गीकरण उपकरणों की दृष्टि से ही किया गया है। इसी दृष्टि से इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया गया है।

- (1) वे जो दृश्य हैं। ये कलाएँ नेत्रेन्द्रिय के माध्यम से हमें मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। इसके अंतर्गत वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला को रखा गया है।
- (2) वे जो श्रव्य हैं। ये कलाएँ श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से मानसिक तृप्ति का साधन बनती हैं। इसके अंतर्गत संगीत और काव्य कला को रखा गया है।

ललित कलाओं के पांच भेदों का विवेचन करके उन्हें दो श्रेणियों में बांटा गया— (1) उत्तम कला और (2) मध्यम कला। जिस कला में मूर्त आधार जितना कम रहता है वह उतनी ही उच्चकोटि की समझी जाती

है। इस दृष्टि से काव्य-कला को सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता है क्योंकि उसमें मूर्त-आधार का पूर्ण अभाव होता है। और वास्तुकला को सबसे नीचा स्थान दिया जाता है क्योंकि मूर्त आधार की कलाओं के आधार निम्न लिखित हैं:

(1) वास्तुकला : इसका निर्माण स्थूल पदार्थ से होता है। ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी ये सभी पदार्थ मूर्त हैं। जिनसे भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इससे केवल इतना लाभ होता है कि यह स्थूल वस्तु को एक आकार दे देती है।

(2) मूर्ति कला : मूर्तिकला में भी मूर्त आधार पत्थर, मिट्टी, लकड़ी आदि होते हैं। इन्हें मूर्तिकार अपने इच्छित या अभीष्ट रूप में ताराशत है। इस प्रकार वह एक-रूप, आकार आदि प्रदर्शित कर सकता। मूर्तिकला में स्थूलवस्तु को चेतन-मन के अनुरूप ढाला जाता है। इसलिए मूर्तिकार का महत्व वास्तुकार से अधिक है। क्योंकि मूर्तिकार मानसिक भावों का प्रदर्शन आकार सफलता से कर पाता है। इसलिए भाव और ऐंद्रिक आकृति में सामंजस्य हो जाता है।

(3) चित्रकला : चित्रकला का आधार कपड़े, कागज, लकड़ी आदि का चित्रपट होता है। इसी चित्रपट पर चित्रकार भिन्न पदार्थों-जीवों के प्राकृतिक रस-रंग को उकेरता है। चित्रकार के पास वास्तुकार और मूर्तिकार की तुलना में मूर्त आधार का कम आश्रय रहता है अतः अपनी कला प्रदर्शित करने में उसे अधिक कौशल दिखाने पड़ता है। समतल, ऊँचाई-निचाई, स्थूलता, लघुता, निकटता, दूरी वह दिखा सकता है। इस प्रकार मानसिक सृष्टि के अवसर चित्रकार के पास अधिक है। यह भी कहा जा सकता है चित्रकार की वृत्ति में मूर्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है।

ये तीनों ललित कलाएँ आँखों द्वारा मानसिक तृप्ति पदान करती हैं। अन्य दो ललित कलाएँ अर्थात् संगीत और काव्य श्रव्य द्वारा। संगीत और काव्य में मूर्त आधार की न्यूनता और मानसिक भावना की अधिकता रहती है।

(4) संगीत कला : संगीत का आधार नाद है। मनुष्य अपने कंठ से या कई प्रकार के यंत्रों द्वारा उत्पन्न करता है। नाद का अर्थ है ध्वनि। यह ध्वनि पदार्थ से पूर्णता मुक्त स्मृति में रहने वाला सरल तत्व है। संगीत का प्रभाव बड़ा ही स्थायी होता है। युगों तक संगीत मनुष्य की आत्मा को प्रभावित करता रहता है। संगीत हमें हँसा सकता है, रुला सकता है और हमारे हृदय में आनंद की लहरे उत्पन्न कर सकता है। अर्थात् संगीत हमारे मन को अपनी इच्छानुसार चंचल कर सकता है, विशेष भावों को हमारे मन में पैदा कर सकता है। इस प्रकार संगीत कला वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला से बढ़कर है।

(5) काव्य कला : काव्य कला का आधार शाब्दिक-संकेत होते हैं। काव्य का ज्ञान मन को आँख या कान द्वारा होता है। बाहरी दुनिया का काल्पनिक चित्र इंद्रियों द्वारा मस्तिष्क पर अंकित होता है। इन भावभय चित्रों को सांकेतिक शब्द द्योतित कराते हैं। इस भाव का वाहक भाषा होती है। ललित कलाओं में काव्य कला का स्थान सर्वोच्च माना गया है। काव्य कला का आधार कलात्मक कल्पना है जो अपने को पदार्थ से पूर्णतया मुक्त कर लेती है।

ललित कलाओं के विषय में अभी तक जो कुछ भी कहा गया है उससे ललित कलाओं के संबंध में नीचे लिखी बातें स्पष्ट होती हैं:

(1) सब कलाओं में किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है।

(2) जिन उपकरणों द्वारा इन कलाओं का मन से संपर्क होता है, वे आँख और कान (चक्षुर्द्रिय और कर्णोद्रिय) हैं।

- (3) ये आधार और उपकरण केवल मध्यस्थ का काम देते हैं, जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुननेवाले के मन से संबंध स्थापित करता है।
 (4) ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि से सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।

उपरोक्त चर्चाओं से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कला का जीवन से अत्यंत घनिष्ठ संबंध होता है। कला जीवन के अनुभवों का एक चित्र मात्र है। कला जीवन से उसी प्रकार संबंध रखती है और जीवन में उसी प्रकार काम आती है जैसे हमारा रात-दिन का भोजन।

2.3.4 काव्य और कला

यह तो हम सभी जानते हैं कि कला जीवन से अलग कभी नहीं होती। कला का उद्देश्य सत्य की उपलब्धि है और उसका लक्ष्य है मनन। सत्य संसार में सर्वत्र व्याप्त है। कला द्वारा इसी सत्य की उपासना करते हैं। इस उपासना का रूप सुन्दर होता है। इस प्रकार कला में सौंदर्य प्रधान होता है और यह स्वभावतः जन-कल्याणकारी होती है। इस दृष्टि से साहित्य कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

फिर भी कई विद्वान काव्य को 'कला' नहीं मानते। 'प्रसाद' ने अपने 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में काव्य को ललित-कलाओं की श्रेणी में रखने का विरोध किया है। उन्होंने हीगेल के कला-विभाजन (वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत, काव्य) के सिद्धांत का खंडन किया है। 'प्रसाद' का कहना है कि 'हीगेल ने काव्य को ललित कलाओं के अंतर्गत माना जिससे कि धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र को काव्य से उच्च स्थान देना पड़ा। जबकि हमारे यहाँ काव्य को धर्म और दर्शन से निम्नकोटि का कभी नहीं माना गया है।' 'प्रसाद' ने काव्य और अन्य कलाओं के दो स्पष्ट भेद करते हुए काव्य के विषय में लिखा है कि '(काव्य) आत्मा की संरचनात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विरल और विज्ञान से नहीं है। यह एक श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञान-धारा है।'

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी काव्य को कला मानने की प्रवृत्ति की निंदा करते हैं। शुक्ल जी का यह दृढ़ मत है कि काव्य का कला और सौंदर्य-शास्त्र से कोई संबंध नहीं हो सकता। उनका कहना है 'सौंदर्य-शास्त्र में जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों पर विचार होने लगा उसी प्रकार काव्य का भी, सबसे बेदुनी बात तो यही हुई।' शुक्ल जी ने कहा कि काव्य को कला मानने की भ्रांत धारणा के कारण ही हिन्दी-समीक्षा में अभिव्यज्जनावाद, सौंदर्यवाद और रहस्यवाद आदि का विवेचन होने लगा जबकि इनका काव्य से कोई सीधा संबंध नहीं है।

बाबू गुलाबराय 'प्रसाद' और शुक्ल जी के मतों से सहमत नहीं हैं। वे काव्य को पाँच कलाओं के अंतर्गत ही मानते हैं उनके विचार में काव्य की विवेचना चित्र, संगीत आदि ललित कलाओं से भिन्न नहीं की जा सकती क्योंकि ये सभी कलाएँ एक-दूसरे से संबंधित भी हैं और एक-दूसरे पर प्रभाव भी डालती हैं। काव्य को कला मानकर ही अधिक चर्चाएँ हुई हैं।

काव्य कला सर्वश्रेष्ठ कला है। इसका कारण यही है कि काव्य के लिए भौतिक उपकरण अनिवार्य नहीं हैं। भौतिक उपकरणों के बिना भी काव्य की सफल प्रस्तुति संभव है। काव्य का वास्तविक आधार शाब्दिक-संकेत या अक्षर है। शाब्दिक-संकेत भावों को अभिव्यक्त करने के माध्यम भी है। समाज में भाषा फैली होती है। अन्य कला-आधारों जैसे इंट, लौहार, कागज, मिट्टी आदि की तरह भाषा निर्जीव नहीं होती। भाषा सजीव या जीवित होती है। इसमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है। इसी भाषा के बीच साहित्यकार रहता है, इसी में सोचता है और इसी में लिखता है। शाब्दिक-संकेत या अक्षर ही भाषा के भी आधार हैं जिनका मूल ध्वनि (नाद) है। सार्थक ध्वनि-समूह ही भाषा है। साहित्यकार भाषा के माध्यम से ही भावों को व्यक्त करता है। भाषा के अभाव में साहित्य भावों का पूर्ण और सफल अभिव्यक्ति नहीं कर सकता।

अतः काव्य की श्रेष्ठता उपकरणों की न्यूनता के कारण ही मानी जाती है। साहित्य को कला के रूप में श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए हम कह सकते हैं 'मानवीय भावनाओं में कोमल भावनाएँ सर्वश्रेष्ठ मानी गई हैं।'

इन कोमल भावनाओं के व्यवहार का सर्वश्रेष्ठ माध्यम केवल साहित्य ही है। यह शक्ति अन्य किसी कला में नहीं है। साहित्य का एक-एक शब्द एक-एक चित्र उपस्थित करने की क्षमता रखता है। पंक्त की निम्नलिखित प्रक्रिया देखिए:

‘संघ्या का झुरमुट, बांसों का झुरमुट
धिड़ियाँ करती टी बी टी दूर दूर

साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह पाठक या श्रोता के भावों को आंदोलित कर उसे स्वर्गीय सुख की अनुभूति करा देता है। साहित्य अन्य ललित कलाओं से निम्न लिखित कारणों से श्रेष्ठ है:

- (1) मूर्त आधार की विहीनता
- (2) मनोविज्ञान का पूर्ण आधार और चित्रण
- (3) अभ्यात्मकता
- (4) प्रभाव स्थायित्व
- (5) काव्यानंद ब्रह्मानंद सहोदर-अलौकिक आनंद।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

कला	: Art
चेतना	: conscious
अगोचर	: out of sight
गोचर	: in sight
अभि व्यंजना	: expression
विधियाँ	: methods
दार्शनिक	: Philosophical
चिंतक	: thinker
अनुभव/अनुभूति	: experience
अनुकरण	: imitation
प्रकृति	: nature
सौंदर्यात्मकता	: Aesthetics
सौंदर्य-बोध	: Aesthetic sense
संरचनात्मक	: conceptual
भाव	: emotion
रस	: form
तत्व	: element
तात्त्विक	: elementary
उपकरण	: instruments
ललित-कला	: Fumi arts
उपयोगी-कला	: usefull arts
वास्तु कला	: Sculpture, Architecture
मूर्ति कला	: Sculpture, Architecture
चित्र कला	: Painting

संगीत कला :	Music
काव्य कला :	Literature
पेंट्रिक :	
शाब्दिक-संकेत :	Verbal sign
माध्यम :	Medium
कोमल भावना :	soft emotion
गत्यात्मकता :	dynamism

2.6 अभ्यास

2.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. मनुष्य की अभिव्यजना शक्ति का कला से क्या संबंध है? विवेचना कीजिए।
2. ललित कला और उपयोगी कला के भेद को स्पष्ट कीजिए।
3. सफल और असफल अभिव्यजना के संदर्भ में 'कला' पर विचार कीजिए।
4. काव्य को 'कला' न मानने के कारणों पर चर्चा कीजिए।

2.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)

1. 'कला प्रकृति का अनुकरण है।' इस कथन पर विचार कीजिए।
2. 'कला केवल प्रकृति का अनुकरण नहीं है।' तर्क के साथ समझाइए।
3. 'कला' में भाव और रूप का स्थान निर्धारित कीजिए।
4. 'कला' के संबंध में कलाकार की रुचि पर विचार कीजिए।
5. कला के 'रूप पक्ष' और 'अभिव्यक्ति पक्ष' की चर्चा कुछ हिन्दी साहित्यकारों के संदर्भ में कीजिए।
6. 'उत्तम कला' किसे कहा गया है? बताइए।
7. 'वास्तु कला' के बारे में अपना विचार व्यक्त कीजिए।
8. 'ललित कला' किसे कहा जाता है? समझाइए।
9. काव्य किन कारणों से सर्वश्रेष्ठ कला है? तर्क दे कर समझाइए।

2.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

2.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न-1: 'संपूर्ण अभिव्यजना' कला नहीं है। सिद्ध कीजिए।

उत्तर: अभिव्यजना को ही 'कला' माना गया है। लेकिन संपूर्ण अभिव्यजना कला नहीं है। मनुष्य की बुद्धि में यह सामर्थ्य होता है कि वह केवल वस्तुओं का चित्रांकन ही नहीं करती बल्कि उनकी सीमांसा, श्रेणी-निर्माण और नियम-निर्धारण भी करती है। इसीलिए यह कहा गया है कि मनुष्य केवल कलाकार नहीं, दार्शनिक और चिंतक भी है। लेकिन मनुष्य द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धांत या वैज्ञानिक नियम 'कला' नहीं है जबकि ये भी उसकी अभिव्यजना-शक्ति का ही एक अंग है। अतः 'कला' का संबंध नियमों से नहीं है। वह तो रूप की अभिव्यक्ति मात्र है।

2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लेख :

काव्य में अभिव्यजनावाद
कविता क्या है
काव्य-कला तथा अन्य निबंध

रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि: भाग-2
रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि: भाग-1
जयशंकर प्रसाद

पुस्तकें :

नई समीक्षा: नए संदर्भ
कविता के नए प्रतिमान
साहित्य की चेतना
साहित्यालोचन
साहित्यिक निबंध
अकविता और कला संदर्भ
प्रसाद जी की कला
स्वतंत्र कला शास्त्र
हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास

डॉ. नगेन्द्र, 1970, दिल्ली नेशनल
डॉ. नामवर सिंह, 1968, दिल्ली: राजकमल
डॉ. विधानिवास मिश्र, 1968, छतपुर: विध्यंचल प्रकाशन
डॉ. श्यामसुन्दर दास
राजनाथ शर्मा, 1963, आगरा: कैलाश प्रिंटिंग प्रेस
श्याम परमार, 1968, अजमेर- कृष्ण प्रकाशन
बाबू गुलाब राय
डॉ. के.सी पांडेय
बाबू गुलाबराय

इकाई-3 : साहित्य और समाज का संबंध

- 3.0 विषय प्रवेश
- 3.1 उद्देश्य
- 3.2 पाठ परिचय
- 3.3 मूलपाठ
- 3.4 सारांश
- 3.5 शब्दार्थ
- 3.6 अभ्यास
 - 3.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 3.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 3.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 3.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 3.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 3.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.1 उद्देश्य

इस पाठ में साहित्य और समाज के संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- साहित्य और समाज के संबंध पर विचार कर सकेंगे।
- साहित्यिक सार्थकता की विवेचना कर सकेंगे।
- साहित्य के अध्ययन की समीक्षा-पद्धतियों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- साहित्य के समाज शास्त्र पर विचार कर सकेंगे।

3.2 पाठ परिचय

साहित्य और समाज का संबंध अभिन्न है। दोनों के संबंध जीवन-व्यवस्था या परिवेशगत स्थितियों से रहते हैं। सामाजिक पक्ष से जुड़े अन्य अंग जैसे राजनैतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तत्व भी साहित्य द्वारा व्यक्त होते हैं। साहित्य और समाज के इस संबंध को ही प्रस्तुत पाठ रेखांकित करते हैं। इसके साथ ही साहित्यकार या सर्जक का सामाजिक जीवन और समाज के प्रति उसकी अनुभूति भी इस संबंध को और भी गहरी करते हैं। साहित्य और समाज के इस संबंध की गहनता के कारण ही साहित्य अध्ययन की अन्य पद्धतियों के साथ-साथ समाज शास्त्रीय समीक्षा पद्धति विकसित हुई, जिसका परिचय आपको इस पाठ में मिलेगा।

3.3 मूल पाठ

साहित्य की रचना समाज में ही होती है। साहित्य का सर्जन-कर्ता अर्थात् लेखक या रचनाकार भी समाज का एक अंग होता है। सामाजिक परिस्थितियों और उसकी परिवर्तनशीलता का घोटन साहित्यिक रचना के माध्यम से ही संभव हो पाता है। साहित्य साहित्यकार और समाज के इस संबंध को देखने के लिए दो दृष्टियाँ हमारे सामने आई हैं। एक को 'साहित्य में समाजशास्त्र' की संज्ञा दी गई है और दूसरे को 'साहित्य का समाज शास्त्र' के नाम से अभिहित किया गया है। इन दोनों दृष्टियों के आकलन से साहित्य और समाज के संबंधों को प्रमाणिक रूप में देखा जा सकता है।

समाज के संदर्भ में जब साहित्य को देखने की दृष्टि विकसित हुई तभी से यह माना जाने लगा कि साहित्य की पूर्ण सार्थकता उसके सृजन में या उसके 'लिख दिए जाने तक' ही सीमित नहीं होती। बल्कि उसके आस्वादन की प्रक्रिया साहित्य की संपूर्ण सार्थकता के लिए एक अनिवार्यता है। निश्चित रूप से साहित्य का आस्वादन करनेवाला सामाजिक अथवा समाज का ही व्यक्ति होता है। इसलिए ऐसी कोई कृति लिखी जाए जिसे कोई न पढ़े या जिसे पढ़कर पाठक में समाज के प्रति कोई प्रतिक्रिया न उत्पन्न हो, एक असंभव स्थिति है। इसका कारण यही है कि साहित्य का सृजन सामाजिक पक्ष से असंबद्ध नहीं रहता और इसीलिए साहित्य समाज की समस्त प्रक्रियाओं - परिस्थितियों को सृजक दृष्टि के साथ प्रस्तुत करता है।

समाज और साहित्य की तथा इनके संबंधों की चर्चा करते समय एक तथ्य और है जो बहुत महत्वपूर्ण है। वह है कवि भी उसी समाज का एक भाग होता है जैसा की पाठक। हमारे शास्त्रों में भी कवि उसे ही माना गया है जो भूत, भविष्य और वर्तमान को जानता है। अर्थात् कवि को सदैव से 'द्रष्टा' के रूप में देखा गया है जो समाज के जीवन के और जीवन के क्रिया-कलापों को सूक्ष्म दृष्टि से देखता और अनुभूत करता है तथा अपने साहित्य में उसे ही अभिव्यक्त करता है। कवि को 'द्रष्टा' कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह सिर्फ देखते रहनेवाला प्राणी है, बल्कि समाज को देखने की उसकी सूक्ष्म दृष्टि। वह दृष्टि उस समाज में रहनेवाले व्यक्ति या पूरे समाज के भविष्य का निर्माण भी करती है क्योंकि प्रत्येक रचना किसी न किसी जीवन व्यवस्था को ही संपूर्णतः या अंशतः अभिव्यक्त करती है। जीवन व्यवस्था से तात्पर्य है, मनुष्य और उसके परिवेशगत संबंधों और उनसे जुड़ी हुई स्थितियों की व्याख्या।

साहित्य में समाज का जो पक्ष रहता है, उसमें आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी तत्व अपनी परम्परा और परिवर्तित स्वरूप के साथ गुंथे होते हैं। साहित्य में ये सभी विचार और सामाजिक तत्व इस प्रकार समन्वित होकर आते हैं कि उन्हें साहित्य से अलग करके देख पाना संभव ही नहीं है। इतना ही नहीं जो जो कृति हमारे सामने आती है और उसके पीछे उसके लेखक की जो सृजनशक्ति कार्य करती है, वह भी समाज से अलग-अलग नहीं रहती। लेखक के सामने सदैव उसका समाज और पाठक रहता है।

इस प्रकार साहित्य, समाज और लेखक पूरी सृजन-प्रक्रिया से जुड़ जाते हैं। इसीलिए सही साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से यह अनिवार्य माना गया है कि समीक्षा दो पक्षों पर अपनी दृष्टि साथ-साथ रखे। एक पक्ष द्वारा वह कवि या साहित्यकार की समाज संबंधी क्षमता या कुशलता की गहराई का मूल्यांकन करे और दूसरे पक्ष द्वारा वह कवि द्वारा रची गई कृति में व्यक्त जीवन तत्व की विशिष्टता का आकलन करे। यहाँ यह ध्यान देना होगा कि साहित्यकार के समाज संबंधी तत्व और कृति में व्यक्त होनेवाले जीवन तत्व परिवर्तशील होते हैं। युग या कालक्रम के साथ साहित्य भी बदलता है। यदि हम यह देखना चाहें कि साहित्यिक परिवर्तनों का कारण क्या है तो पहला उत्तर यही होगा कि 'जीवन'। लेकिन इसे जब गहराई से देखा जाए तो जीवन के साथ-साथ इतिहास-दर्शन और समाजशास्त्र के क्षेत्रों में भी जाकर इन परिवर्तनों के कारणों को देखना होगा।

यही हमें साहित्य के समाजशास्त्र की चर्चा उठानी चाहिए। पहला प्रश्न यही उठता है कि इसकी सार्थकता क्या है। The Sociology of Literature नामक पुस्तक में इस दृष्टि का विस्तार से विवेचन किया गया है कि साहित्य और समाज को जोड़कर, साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की परम्परा 19 वीं शताब्दी में यूरोप में प्रारंभ हुई थी जिसका विकास वर्तमान युग की लोकवादी विचारधारा और विशेष रूप से मार्क्सवाद के प्रभाव से निरंतर होता रहा। साहित्य के समाज-शास्त्रीय अध्ययन के केन्द्र में साहित्य ही रहता है। समाज-शास्त्र का प्रयोग यहाँ औजार के रूप में ही होता है। उदाहरण के लिए 'गोदान' के समाज शास्त्रीय अध्ययन के केन्द्र में यह कृति ही रहेगी लेकिन सामाजिक पक्ष से इसे देखने के लिए तत्कालीन सामाजिक जीवन और व्यवस्था के अंतर्गत सामन्ती प्रथा, ग्रामदशा, मध्यवर्गीय मनोवृत्ति, शोषक-शोषित की स्थिति, वर्गभेद और सर्वहारा वर्ग की दयनीय दशा इत्यादि को इसी कृति के माध्यम से उद्घाटित किया जाएगा।

इस प्रकार साहित्य के समाज-शास्त्र का सीधा अर्थ है, उसका समाजशास्त्रीय अध्ययन अर्थात् सामाजिक जीवन और सामाजिक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में साहित्य की आलोचना।

साहित्य और समाज के इस संबंध में कलाकार की अनुभूति सामाजिकता से जुड़ती है। कलाकार और समाज के सदस्यों के बीच कृति सम्पर्क सूत्र बनती है। सफल कृति में सामाजिक शक्ति निहित रहती है, इसलिए वह जन-समुदाय को प्रेरित और आंदोलन भी करती है। इस प्रकार साहित्य और समाज की सम्बद्धता का अपना महत्व भी है और इसीलिए इनमें अनिवार्य संबंध होता है। अदोल्फो के शब्दों में 'कोई कला समाज के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकती'।

कला और समाज के बीच जो संबंध है, वह एकदम सरल नहीं होता बल्कि जटिल होता है। इसके कई ऐतिहासिक एवं तात्विक कारण हैं। एक तो यही कि ऐतिहासिक कारणों द्वारा कलाकार और समाज का दृष्टिकोण एक-दूसरे के प्रति बदलता रहता है और तात्विक कारण यह है कि कला की मूल प्रकृति स्वयं में अनिश्चित होती है। इसीलिए इस जटिल संबंध को भिन्न-भिन्न रूपों में देखा गया है तथा साहित्य और समाज के परस्पर संबंधों को अनेक रूपों में विश्लेषित किया गया है।

इन संबंधों के विश्लेषण को दो वर्गों में देखा जा सकता है -

- (1) अनुलोम संबंध: जिसमें दो प्रकार से साहित्य और समाज के संबंध को देखा गया है-
(क) साहित्य समाज का दर्पण है और (ख) साहित्य समाज की समीक्षा है।
- (2) विलोम संबंध: इसमें भी साहित्य और समाज के संबंध को दो दृष्टियों से विश्लेषित किया-
(क) साहित्य समाज से पलायन है और (ख) साहित्य समाज के प्रति विद्रोह है।

अनुलोम संबंध वे हैं जो साहित्य और समाज के संबंध को सकारात्मक (Positive) दृष्टि से देखते हैं। साहित्य समाज का प्रतिबिंब है- यह अनुलोम संबंध वाली दृष्टि हमें वर्ड्सवर्थ (1770-1850) के विचारों में भी दिखाई देती है। उनका कहना है कि 'कविता मानव और प्रकृति का प्रतिबिंब होती है।' इस प्रतिबिंब को स्पष्ट दिखा सकने के लिए ही वर्ड्सवर्थ ने काव्य में 'साधारण', 'ग्रामीण' भाषा और शब्दों के प्रयोग पर बल दिया था। बाद की यथार्थवादी आलोचना में इस दृष्टि का बेहद विस्तार हुआ। रूसी विचारकों में यह विस्तार हमें साफ दिखाई देता है। इस समय तक 'समाज का प्रतिबिंब' होने का तात्पर्य यह निर्धारित किया गया था कि साहित्य में 'वास्तविकता' हो, अर्थात् तथ्यों में, अर्थों में हर जगह वास्तविकता के उद्घाटन को साहित्य का परम कर्तव्य माना गया। अनुलोम संबंधों की दूसरी दृष्टि साहित्य को समाज या जीवन की आलोचना मानती है। इस दृष्टिकोण का सूत्रपात हमें मैथ्यू अर्नाल्ड के विचारों में मिल जाता है, जहाँ वे साहित्य को 'जीवन की आलोचना' स्वीकार करते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य द्वारा समाज में उदात्त मूल्यों की स्थापना अनिवार्य है। समाज में जो भी अस्थायी है, अपूर्ण है, अमंगलकारी है, साहित्य को उसकी आलोचना करनी चाहिए। विलोम संबंधों का पहला दृष्टिकोण कलावादियों द्वारा प्रस्तुत किया गया। 'कला कला के लिए'- इस सूत्र को सिद्धान्त माननेवाले कलावादी कहे जाते हैं। कलावादियों का यह मत है कि कला जीवन से भिन्न, उससे बाहर की वस्तु है और इन दोनों का कोई अन्योन्याश्रित संबंध नहीं है। टी.एस.इलियट ने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि कविता भावों का उन्मोचन नहीं है, बल्कि भावों से पलायन है, वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं, व्यक्तित्व हमें बीसवीं शताब्दी में दिखाई देती है। महायुद्ध, विज्ञान की प्रगति, आदर्शों का टकराव, पूँजीवादी जगत का सांस्कृतिक पतन साम्राज्यवाद- उपनिवेशवाद का संघर्ष, आदि कुछ ऐसे मुद्दे थे जिनके कारण विश्व के साहित्य-मंच पर हमें 'खोयी पीढ़ी', 'क्रुद्ध नौजवान' (angry young men) वर्ग के लेखक- आलोचक दिखाई देते हैं, जो साहित्य को समाज के प्रति विद्रोह करने का औजार मानते हैं। वे आधुनिक युग को 'त्रास युग' की संज्ञा देते हैं और यह मानते हैं कि लेखक का कोई सामाजिक दायित्व नहीं होता। इसलिए उनकी दृष्टि अनास्था, कुंठा, निराशा, मानवद्रोह जैसी भावनाओं की अभिव्यक्ति 'नये प्रयोग' के नाम पर और 'माध्यम के सही उपयोग' के नाम पर करते रहे।

हर एक युग में साहित्य के अध्ययन की अनेक पद्धतियाँ विकसित होती रहती हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि साहित्य-समीक्षा और साहित्य-दर्शन में मूलभूत भेद होते हैं। उदहरण के लिए प्रसिद्ध समीक्षक क्रोचे मूलतः दर्शन और इतिहास-दर्शन के विद्वान थे। इसीलिए उन्हें साहित्य-दार्शनिक भी माना जाता है। और यही कारण है कि साहित्य संबंधी उनकी धारणाएँ भी आदर्शवादिता तथा मानसिक और चेतनाजन्य वास्तविकताओं को ही स्वीकार करती हैं। इनके विपरीत इलियट कवि और साहित्य-समीक्षक के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। इसीलिए वे साहित्य में दर्शन द्वारा प्रतिपादित प्रतिमानों का ही पूर्वमूल्यांकन नहीं करते बल्कि साहित्य-समीक्षा-पद्धति को मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक उपलब्धियों से जोड़कर उसे एक आधार देने का प्रयत्न करते हैं। एक तीसरी पद्धति भी है जो मूलतः दर्शन, इतिहास, शास्त्र या विज्ञान के अध्येताओं की है जो इन विषयों के निष्कर्षों को सिद्ध करने के लिए साहित्य को एक साधन के रूप में इस्तेमाल करते हैं। यहाँ प्रसिद्ध आलोचक और इतिहासवेत्ता तेन की पद्धति को देखा जा सकता है, जो समाज में व्याप्त सभी ऐतिहासिक सांस्कृतिक उपलब्धियों को जाति, वातावरण और काल द्वारा नियमित मानते हैं और अपने सिद्धान्त को साहित्य पर घटित करते हैं। उपरोक्त समीक्षा दृष्टियाँ समाज से और सामाजिक प्रयोजनों से पूरी तरह असंबद्ध नहीं हैं, लेकिन आज साहित्य और समाज से जुड़ी जो समीक्षा विकसित हुई है, उसका स्थान अति महत्वपूर्ण बन गया है। इस समीक्षा-पद्धति की सीमा आज बहुत व्यापक हो गई है। जब कोई सिद्धान्त या ज्ञान-विज्ञान की कोई शाखा या कोई दर्शन अति व्यापक रूप में विस्तार पाता है तो उसके प्रति भ्रान्त धारणाएँ भी उभर आती हैं। इस दृष्टि से समाज-शास्त्रीय समीक्षा पद्धति के संबंध में भी कुछ भ्रान्त धारणाएँ हमें दिखाई देती हैं।

इस समीक्षा पद्धति के प्रति जो सबसे प्रचलित और प्रबल भ्रान्त धारणा है, वह यह है कि इस पद्धति का श्रेय मार्क्सवाद को है। यह सर्वमान्य तथ्य है और स्वीकार किया जाता है कि मार्क्सवाद ने साहित्य को सामाजिक दृष्टि से देखने-परखने का यत्न किया है। परंतु मार्क्सवाद अंतिम अर्थों में न तो समाजशास्त्रीय-समीक्षा सिद्धान्त को ग्रहण करता है और न ही उसकी समीक्षा में उतनी वैज्ञानिकता है, जिसकी अपेक्षा की जाती है।

मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विचारों में जो परिवर्तन होते हैं, वे आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन के अनुरूप ही होते हैं अर्थात् समाज का परिवर्तन आर्थिक कारणों पर ही निर्भर है। समाज के विकास में कार्य करते हैं। लेखक यदि सामाजिक प्राणी है तो उसके प्रयत्न की सार्थकता इसी में है कि वह समाज के दूसरे व्यक्तियों की भांति कुछ उपयोगिता की सृष्टि करे। विकास द्वारा समाज को सामर्थ्य और पूर्णता की ओर ले जाने में ही उसकी सामाजिक उपयोगिता है। इस प्रकार मार्क्सवाद सारे सामाजिक परिवर्तनों का कारण आर्थिक नियंत्रण को मान लेता है जबकि समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति में आर्थिक स्थिति को अन्य अंगों की तरह सामान्य रूप में ही देखा गया है।

यह भ्रान्त धारणा कि मार्क्सवाद समाज-शास्त्रीय आलोचना पद्धति के मूल में है, जब हम साहित्यिक-समीक्षा के पारचात्य इतिहास को देखते हैं तब और भी स्पष्ट हो जाती है।

मार्क्स और उनके समकालीन इतिहासकार तेन द्वारा जो विचार समाज और साहित्य के संबंध में प्रस्तुत किए गए, उन पर हमें काफी विस्तार से लगभग एक शताब्दी पूर्व ही जर्मन, फ्रांसिसी तथा अंग्रेज आलोचकों में चर्चा मिल जाती है।

तेन ने साहित्य के इतिहास की जो भूमिका लिखी है, उसमें यह उल्लेख किया है कि साहित्य की समाजशास्त्रीय व्याख्या के लिए तीन प्रमुख सूत्र हैं— जाति, वातावरण, काल (Larce, Le-mieu, Le-momen)। इस सूत्र के आधार पर किसी भी साहित्यिक कृति की व्याख्या की जा सकती है और तीन निष्कर्षों पर पहुँचा जा सकता है। पहला यह कि संदर्भित कृति किन जातिगत तत्वों को अभिव्यक्ति देती है। दूसरा यह कि उस कृति का तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थितियों से क्या संबंध है। तीसरा यह कि वह कृति इतिहास के क्रम में अपनी क्या विशिष्टता रखती है।

अंग्रेजी समीक्षा शास्त्र में 18 वीं शताब्दी के मध्य से ही साहित्यिक आलोचना में समाजशास्त्रीय मान्यताएँ स्थापित और प्रतिष्ठित दिखाई देती हैं। फ्रांस में वाल्टेयर तथा जर्मनी में लेसिंग तथा हर्डर जैसे कई आलोचकों ने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को विस्तार दिया था। 18वीं शताब्दी के अंत में फ्रांस की आलोचिका स्तेलव ने साहित्य के अध्ययन में सामाजिक संस्कथाओं को उभारते हुए 'Literature considered in its relations with social intutions' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें उस साहित्य पर बल दिया गया जो समाज की नैतिक, धार्मिक या राजनैतिक धारणाओं से परिचालित होता है या कैसे इन धारणाओं को स्वयं भी प्रभावित करता है तथा ऐसे साहित्य को उसके पाठक भी समाज की तुलना में रखकर ही देखते-समझते हैं। इतना ही नहीं, इस पुस्तक में इतिहास की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते हुए वातावरण और काल के सूत्रों पर भी विस्तार से विचार किया गया है। मैडम स्तेलव के कई समकालीन आलोचकों ने श्रेष्ठ साहित्य को वातावरण अर्थात् सामाजिक नियम, रीति-रिवाज, स्थानीय-सामाजिक-परिस्थितियों के संदर्भ में ही स्वीकार किया है और साहित्य और उसके वातावरण के कार्यकारण संबंधों को भी स्थापित किया है।

जर्मन के साहित्य समीक्षक हर्डर को यह श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने साहित्य-अध्ययन के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को वैज्ञानिक और व्यवस्थित बनाकर, उसे एक सुव्यवस्थित और सुदृढ़ समीक्षा पद्धति का रूप दिया। यह भी कहा जाता है कि इतिहास और सामाजिक वातावरण के विषय में उनकी मान्यताएँ और निर्णय तेन से अधिक प्रामाणिक हैं। इसीलिए 20 वीं शताब्दी के जर्मन आलोचकों में हर्डर की मान्यताओं को पुनः महत्व एवं विस्तार दिया।

इस प्रकार 18वीं शताब्दी के बाद युरोपीय देशों में समाजशास्त्रीय आलोचना की जो परम्परा विकसित हुई, वही 19वीं शताब्दी के समाज-वैज्ञानिकों की परम्परा का भाग बन जाती है। कान्ट और उनके समसामयिक विचारक इस समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को आगे बढ़ाते हैं। अब यह भी स्पष्ट है कि साहित्य की समाज-शास्त्रीय-अध्ययन-पद्धति का विकास मार्क्सवादी साहित्य-शास्त्र के विकास के बहुत पहले हो चुका था। अतः उसके जन्म का ही नहीं बल्कि विकास का समय भी मार्क्सवाद के पहले का है।

परम्परागत समाजशास्त्रीय आलोचना साहित्य और समाज के संबंध को दृष्टि में रखते हुए दो प्रश्नों के उत्तर देती थी- 1. किन सामाजिक तत्वों ने विचाराधीन कृति को जन्म दिया है। 2. उस कृति ने समाज को कैसे और कितना प्रभावित किया है। मार्क्सवादी समाज-शास्त्रीय-आलोचना इन दो प्रश्नों के साथ-साथ एक और प्रश्न को भी अनिवार्य मानती है कि आलोच्य कृति समाज-शास्त्रीय-दृष्टिकोण से प्रगतिशील तत्वों को व्यक्त करती है या प्रतिक्रियवादी तत्वों को। यहाँ यह सिद्ध हो जाता है कि मार्क्सवादी समीक्षा 18वीं शताब्दी में विकसित समाज-शास्त्रीय-समीक्षा की उत्तराधिकारिणी नहीं थी।

ऊपर की चर्चा समाज और साहित्य के संबंधों के संदर्भ में जो समीक्षा पद्धतियाँ विकसित हुई, उनके विकास और उनके निहित दृष्टिकोणों पर केन्द्रित रही है। अब हमें यह भी देखना चाहिए कि जिन समाज-शास्त्रीय सर्वेक्षकों ने साहित्य को उसके सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहा, इन्होंने इसके किन तत्वों की चर्चा की। प्रभाव-तत्व पर चर्चा करते समय यह बात साफ दिखाई देती है कि अधिकांश समीक्षक साहित्य पर उसके वातावरण के प्रभाव को काफी विस्तार से देखने का प्रयत्न करते हैं, जिसके अन्तर्गत राजनीति, अर्थनीति, समाज-दर्शन आदि का परिवेश भी, अंगों के रूप में स्वीकृति पाता है और यह माना जाता है कि इन सब का परिवेश को पूरी तरह प्रभावित करता है।

प्राचीन चिंतनों में साहित्य और समाज के संबंधों को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया गया लेकिन परोक्ष रूप से इनकी उपेक्षा भी नहीं की गई। उदाहरण के लिए अरस्तू ने कला या साहित्य को प्रकृति का अनुकरण माना। प्लेटों की भाँति ही अरस्तू ने प्रकृति का अर्थ किया भौतिक जगत, मानव जगत। इसमें समाज पूरी तरह लुप्त है लेकिन समाज और साहित्य में संबंध मानते हुए भी, अरस्तू साहित्य को समाज का दर्पण या यथार्थ नहीं मानते। इसीलिए संभवतः अरस्तू के बात की काव्य-समीक्षा में जीवन या समाज के स्थान पर साहित्य की भाषिक-संरचना, रीति-रूप आदि पर बल दिया जाने लगा। इतालवी कवि दांते साहित्य और समाज के संबंध के विषय में उदासीन नहीं थे क्योंकि उन्होंने

अपनी प्रसिद्ध रचना 'लोक भाषा' में जन साधारण की जीवन्त भाषा के प्रयोग का समर्थन किया है। साहित्य और समाज के संबंध के विषय में ड्रायडन (Drydon) का यह स्पष्ट मत है कि साहित्यकार की प्रतिभा में उसके युग का काफी योगदान रहता है। 17वीं शताब्दी में जानसन और गेटे की विचारधाराओं में भी साहित्य और समाज के संबंधों को उभारा गया। समाज और साहित्य के इस दृष्टिकोण को निम्नलिखित रेखाचित्र और स्पष्ट कर सकता है।

समाज-साहित्यकार का सामाजिक व्यक्तित्व, सर्जक-व्यक्तित्व, सृजनप्रक्रिया-साहित्य

साहित्य पर उसके समाज या वातावरण का जो प्रभाव पड़ता है, उसे प्रमाणित करने के लिए हम किसी भी युग की, कोई भी कृति लेकर देख सकते हैं। उदाहरण के लिए क्रांतियों और महायुद्धों के काल में उनका प्रभाव व्यापक समाज पर पड़ा। इसीलिए इन युद्धों-क्रांतियों के काल में भी, और उनसे प्रभावित वातावरण में रचित सभी कृतियाँ उस युग को अभिव्यक्ति देती हैं। इतनी ही नहीं यदि इन कालों में 'शुद्ध-साहित्य' भी लिखा जाता है, तब उस पर भी इस वातावरण का प्रभाव देखा जा सकता है। हिन्दी में महादेवी वर्मा की रचनाएँ केवल सौन्दर्य-चित्र या कुछ बिंब ही निर्मित नहीं करती, बल्कि उनमें उस युग में व्यक्त नैराश्य और करुणा को पूर्ण अभिव्यक्ति भी मिलती है।

समाजशास्त्रीय आलोचना की पद्धति का उद्देश्य कृतियों के गुण-दोष का विवेचन करना कभी नहीं रही है। एक ओर वह कृति के जन्म देनेवाले तत्वों की सूचना देती है और दूसरी ओर वह यह बता सकती है कि कृति में जो सामाजिक मान्यताएँ व्यक्त हुई हैं, वे किसी समाज पर क्या प्रभाव डालती हैं, कैसे प्रभाव डालती हैं और यदि प्रभाव नहीं डाल पाती तो उसके कारण क्या हैं? इस प्रभाव डालने की स्थिति ही कृति को समाज से जोड़ देती है।

हिन्दी साहित्य और हिन्दी आलोचना के परिप्रेक्ष्य में भी हम साहित्य और समाज के इन संदर्भों को परख सकते हैं। यदि हम छायावाद की प्रमुख पदवृत्तियों का निर्धारण करें तो उसके पहले हमें देश-काल की परिस्थितियों का सामान्य परिचय प्राप्त करना होगा। इतना ही नहीं तत्कालीन देश-काल में जीवन क्या और कैसा था। यह जानने के लिए हमें तत्कालीन आम आदमी की जीवन-प्रक्रिया व उसके व्यक्तित्व के गठन को भी समझना होगा। वास्तव में यही आधार है, किसी काल के विरल साहित्य को उसके सामाजिक संदर्भ में देखने का।

जब उपरोक्त आधारों पर हम साहित्य की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते हैं, तब एक प्रश्न और उभरता है, जो इस आलोचनादृष्टि के विकास के साथ ही पल्लवित हुआ और जिसकी चर्चा आज हिन्दी साहित्य के संदर्भ में काफी व्यापक स्तर पर की जाती है। यह प्रश्न सामाजिक यथार्थ का प्रश्न है। सामाजिक यथार्थ व्यक्ति को ही लेकर चलता है लेकिन वह व्यक्ति सामाजिक संस्था से अलग नहीं होता बल्कि वह अपने समाज, संस्कृति, संगठन से पूरी तरह संबद्ध रहता है। क्योंकि साहित्य में सामाजिक यथार्थ को उभारने पर बल दिया जाता है। इसलिए उसका एक कालखंड निर्धारित करना भी अनिवार्य हो जाता है। रचनाकार सामाजिक यथार्थ को अपनी संवेदना द्वारा अपनी अभिव्यक्ति में ढालना और व्यक्त करता है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थ का संबंध ऐतिहासिक कालखंड इतिहास के घात-प्रतिघात से सदैव जुड़ा रहता है।

इतिहास का यह घात-प्रतिघात ही एक विशेष कालखंड के सामाजिक यथार्थ को ठोस रूप देता है। इसीलिए साहित्य को स्वयं में एक सामाजिक प्रक्रिया का प्रयत्न माना गया है। यही पर सामाजिक जीवन में साहित्य की उपयोगिता की बात भी उठती है। आदर्शवादी आलोचक साहित्य की उपयोगिता पर विस्तार से विचार कर चुके हैं। सामाजिक यथार्थ से जुड़े समीक्षक भी साहित्य की सामाजिक उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। यथार्थवादी क्षेत्र में सर्वाधिक प्रचलित समीक्षक जार्ज लुकार्च ने भी यह प्रयत्न किया है। यहाँ भी साहित्य का एक सामाजिक ध्येय निश्चित होता है। यथार्थवादियों का एक पूरा वर्ग है जो यह मानता है कि जिस समाज के साहित्य में उसके सामाजिक जीवन के

ध्येय की अभिव्यक्ति नहीं होती, वह समाज न तो साहित्य-सृजन की प्रक्रिया में योग देता है और न ही जीवन-प्रक्रिया में भाग लेता है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थ को समाजोपयोगी बनाकर, साहित्य सृजन में उसकी अभिव्यक्ति ही सामाजिक यथार्थ को सशक्त बना पाती है।

काल के किसी भी खण्ड में जब साहित्य में परिवर्तन लक्षित होता है तो निश्चित ही वह परिवर्तन उस युग या उसके सामाजिक यथार्थ में होता है, उसके दृष्टिकोण में होता है। इसलिए साहित्य से समाज और उसकी विचारधारा को निष्कासित नहीं किया जा सकता। समाज मात्र व्यक्तियों का समूह नहीं है। व्यक्तियों की परस्पर अन्तर्निर्भरता, उनका सहजीवन, भावना-विचार और प्रवृत्तियों के उनके पारस्परिक संबंध ही उन्हें एक सूत्र में बद्ध करते हैं। जब इस पूरे ढांचे में परिवर्तन होता है, तभी समाज में परिवर्तन होता है और तभी उस समाज की विचारधारा और उस विचारधारा को मूर्त करनेवाले साहित्य में भी परिवर्तन गठित होता है। जब हम यह कहते हैं कि साहित्य में परिवर्तन हुआ है तो वह सामाजिक परिवर्तन से भिन्न तात्पर्य नहीं रखता।

इस प्रकार साहित्य सामाजिक प्रक्रिया में योगदान देता है और सामाजिक प्रक्रियाएँ साहित्य के परिवर्तन का कारण बनती हैं। समाज का परिवर्तनशील स्वरूप ही युग-युग में साहित्य को अनंत संभावनाओं से युक्त करता रहा है और साहित्य भी युगीन परिस्थितियों से जुड़कर ही अपना स्वरूप निर्मित करता रहा है। यह भी निश्चित है कि समाज साहित्य से बोध नहीं पाता, साहित्य ही समाज से अपनी चेतना और विषय-वस्तु प्राप्त करता है। जो लोग साहित्य की शक्ति पर अनुचित भरोसा करते हैं, वे साहित्य का प्रयोग प्रचार के रूप में कर, समाज को प्रभावित करना चाहते हैं। ऐसा साहित्य समाज के लिए उपयोगी न बनकर, प्रदर्शन और नुमाइश की वस्तु बन जाता है। हिन्दी साहित्य में भी नई कविता या अकविता के आन्दोलनों में इस स्थिति को देखा जा सकता है।

समाज की संवेदना का संस्कार साहित्य करता है, इसमें सन्देह नहीं है। संवेदना मनुष्य और समाज से निरंतर जुड़ी रहती है। हमारे सामाजिक जीवन में जो विषमताएँ या विसंगतियाँ आती हैं, उनके प्रति हमें सजग करना और हमारी संवेदना को इस स्तर तक ले जाना कि हम उसे साहित्य के माध्यम से भी देख सकें, यही साहित्य का कार्य है।

यह कार्य साहित्य करता भी है। साहित्यकार एक संस्कार संपन्न संवेदनशील और युगीन प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक व्यक्ति होता है। इसलिए उसकी अनुभूतियों का प्रभाव समाज पर पड़ता है। सामाजिक प्रयोजन की जो सिद्धि साहित्य द्वारा संभव है, वह दो बातों पर निर्भर है। समाज में साहित्य का क्या स्थान है और दूसरे साहित्य सामाजिक यथार्थ की कितनी सही स्वीकार समाज को दे रहा है।

यही पर साहित्य के लेखक का दायित्व भी बढ़ जाता है। हिन्दी की नई कविता में आधुनिक कवि को देखा जाए तो यह स्पष्ट होता है कि वह सामयिक विचारों को, परिस्थितियों को अपने कवि-व्यक्तित्व को घुला नहीं पाया। न तो वह मूल्य और आदर्श विषयक उद्देश्यों को प्राप्त कर सका है और न ही वह भावों की संपन्नता और भावुकता के बीच अंतर कर पाता है। आधुनिक के व्यामोह ने उसके भीतर एक ऐसी बचकानी प्रवृत्ति और कलात्मक तटस्थता भर दी है जिससे कि वह किसी विचार-प्रणाली के प्रचार का साधन मात्र बनकर रह गया है। इसका एकमात्र कारण यही है कि वह समाज और इतिहास के गहरे परिवर्तनों को सूक्ष्मता से देख नहीं पाया है तथा उसका क्या प्रभाव उसका साहित्य ग्रहण करे और उसे किस रूप में वह अपने समाज को संप्रेषित करे, इसकी या तो उसे चिंता नहीं है या वह अपनी ही भ्रातियों में इनके महत्व को देख नहीं पाता। इसीलिए ऐसा साहित्य कुछ समय तक शायद प्रभावित कर सके लेकिन उसका गहरा और कालजयी प्रभाव समाज कभी ग्रहण नहीं कर सकेगा। क्योंकि यह साहित्य समाज के प्रति अपने दायित्व से ही अनजान है।

3.4 सारांश

इस पाठ में हमने साहित्य व समाज के संबंधों को देखा। साहित्य का रचनाकार व पाठक दोनों ही सामाजिक प्राणी होते हैं। अतः साहित्यिक कृति सामाजिक प्रतिक्रिया जगा पाती है। साहित्य में समाज के संबंधों को सकारात्मक और नकारात्मक दोनों दृष्टियों से देखा गया है। तेन सौन्दर्यात्मक सापेक्षता के सिद्धान्त के द्वारा ऐतिहासिकता के संदर्भ में देशकाल और युग के द्वंद्व को देखने पर बल देते हैं। समाजशास्त्रीय आलोचना दृष्टि का विकास समाज व साहित्य के संबंधों की छानबीन के लिए ही होता है। पाश्चात्य आलोचना में समाजशास्त्रीय आलोचना दृष्टि का एक लंबा इतिहास है। अतः मार्क्सवादी विचारधारा को इस दृष्टि का जन्मदाता मानना भ्रम है। साहित्य की समाजशास्त्रीय समीक्षा में सर्वाधिक बल वातावरण पर दिया गया है, इसके बाद साहित्य के प्रभाव पर। आदर्शवादी-नैतिकवादी ढाँचे से निकल कर, समाजशास्त्रीय आलोचना सामाजिक यथार्थ, सामाजिक चेतना, संवेदना और उपयोगिता को देखते हुए साहित्य और समाज के संबंधों को स्थापित करती है।

3.5 शब्दार्थ

अस्वादन	: जिस साहित्य को पाठक पढ़ता है, उसके भावों को ग्रहण कर उसकी अर्थ-अभिव्यंजना को ग्रहण करने का भाव।
दृष्टा	: साहित्यकार जो वर्तमान, भविष्य व भूत को देख पाता है, और अपने पाठक को भी उन्हें दिखाने में समर्थ होता है।
साहित्य में समाजशास्त्र	: साहित्य में समाजशास्त्र में निहित जो वर्ग-भेद, विघटन, संगठन के तत्व आते हैं, उन्हें हम साहित्य में समाजशास्त्र कह सकते हैं।
साहित्य का समाजशास्त्र	: साहित्य का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन, इसका दूसरा तात्पर्य है। साहित्य में यथार्थ जीवन व समाज का चित्रण समाज पर साहित्य का प्रभाव आदि इसके विचारणीय रूप है।

3.6 अभ्यास

3.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न

1. साहित्य की सार्थकता किस बात पर निर्भर है?
2. साहित्य और समाज के बीच के संबंधों की प्रवृत्ति कैसी होती है?
3. "समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति के विकास का श्रेय मार्क्सवाद को है"- क्या आप इस कथन से सहमत हैं? नहीं तो क्यों?
4. साहित्य-अध्ययन की समीक्षा-पद्धतियों में समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति क्यों विशिष्ट है?

3.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

1. 'साहित्य का समाजशास्त्र' से क्या तात्पर्य है?
2. साहित्य और समाज के अनुलोम संबंध पर प्रकाश डालिए।
3. साहित्य और समाज के विलोम संबंध पर प्रकाश डालिए।
4. "साहित्य सामाजिक प्रक्रिया में योगदान देता है"- इस कथन की समीक्षा कीजिए।

3.7 नमूने के उत्तर

3.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति के विकास का श्रेय मार्क्सवाद को है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

उत्तर: समाजशास्त्रीय आलोचना की यह सीमित और भ्रान्त धारणा है कि मार्क्सवाद समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति के मूल में है। यह विचार तब और भी स्पष्ट हो जाता है जब हम साहित्यिक समीक्षा के पाश्चात्य इतिहास को देखते हैं।

मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विचारों में जो परिवर्तन होते हैं, वे आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन के अनुरूप ही होते हैं अर्थात् समाज का परिवर्तन आर्थिक तत्व प्रधान रूप में तथा अन्य तत्व सहायक रूप में कार्य करते हैं। लेखक यदि सामाजिक प्राणी है तो उसके प्रयत्न की सार्थकता इसी में है कि वह समाज के दूसरे व्यक्तियों की भांति कुछ उपयोगिता की सृष्टि करे। विकास द्वारा समाज को सामर्थ्य और पूर्णता की ओर ले जाने में ही उसकी उपयोगिता है। इस प्रकार मार्क्सवाद सारे सामाजिक परिवर्तनों का कारण आर्थिक नियंत्रण को मान लेता है जब कि समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति में आर्थिक स्थिति को अन्य अंगों की तरह सामान्य रूप में ही देखा गया है।

3.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: अनुलोम संबंध के दोनों प्रकारों की चर्चा कीजिए।

उत्तर: साहित्य और समाज के संबंधों के विश्लेषण को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है।

(1) अनुलोम संबंध: जिसमें दो प्रकार से साहित्य और समाज के संबंध को देखा गया है (क) साहित्य समाज का दर्पण है और (ख) साहित्य समाज की समीक्षा है। (2) विलोम संबंध: इसमें भी साहित्य और समाज के संबंध को दो दृष्टियों से विश्लेषित किया गया है (क) साहित्य समाज से पलायन, है और (ख) साहित्य समाज के प्रति विद्रोह है।

अनुलोम संबंध वे हैं जो समाज के संबंध को सकारात्मक दृष्टि से देखते हैं। साहित्य समाज का दर्पण है या साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है— यह अनुलोम संबंध वाली दृष्टि हमें वर्ड्सवर्थ के विचारों में भी दिखाई देती है। बाद की यथार्थवादी आलोचना में इस दृष्टि का बेहद विस्तार हुआ। रूसी विचारकों में यह विस्तार हमें साफ दिखाई देता है। अनुलोम संबंधों की दूसरी दृष्टि साहित्य को समाज या जीवन की आलोचना मानती है। इस दृष्टिकोण का सूत्रपात हमें मैथ्यू अर्नाल्ड के विचारों में मिल जाता है।

3.8 पठनीय पुस्तकें

- | | |
|---------------------------------------|--|
| 1. साहित्य समीक्षा | : मुद्राराक्षस, नेशनल पब्लिशर्स, नई दिल्ली. |
| 2. नई समीक्षा नए संदर्भ | : नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशर्स, नई दिल्ली. |
| 3. भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका | : नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशर्स, नई दिल्ली. |
| 4. साहित्य: स्थायी मूल्य और मूल्यांकन | : रामविलास शर्मा, अक्षर-अक्षर, नई दिल्ली. |
| 5. कविता के नये प्रतिमान | : नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली. |
| 6. पाश्चात्य काव्यशास्त्र | : देवेन्द्रनाथ शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली. |

इकाई-4: साहित्य: लेखक-पाठक-आलोचक के संबंध

- 4.0 विषय प्रवेश
- 4.1 उद्देश्य
- 4.2 पाठ परिचय
- 4.3 मूलपाठ
 - 4.3.1 साहित्य और साहित्यकार
 - 4.3.2 साहित्यकार और पाठक
 - 4.3.3 साहित्य और आलोचक
- 4.4 सारांश
- 4.5 शब्दार्थ
- 4.6 अभ्यास
 - 4.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 4.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 4.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 4.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 4.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 4.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.1 उद्देश्य

इस पाठ में साहित्य में लेखक, पाठक और आलोचक के संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। इसके अध्ययन से आप:

- साहित्य में परिवेश और पाठक के महत्व पर विचार कर सकेंगे।
- साहित्य में लेखक, पाठक और आलोचक के संबंधों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- आलोचक की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।
- साहित्य सर्जन की प्रक्रिया पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- साहित्य के मूल्यांकन की प्रक्रिया पर विचार कर सकेंगे।

4.2 पाठ परिचय

साहित्य के लेखक को द्रष्टा माना गया है। यह इसलिए कि वह साहित्य की समाजिक, सांस्कृतिक या अन्य परिवर्तनों की गहन अनुभूति करने में सक्षम होता है। इतना ही नहीं अपनी इस अनुभूति को वह साहित्य के रूप में अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार लेखक के संबंध में साहित्य की दृष्टि से जो विचार व्यक्त किए गए हैं, इस पाठ में आएंगे। पाठक को साहित्य का आस्वादक माना गया है। पाठक समाज का एक अंग होता है। साहित्य के माध्यम से वह वे संवेदनाएं प्राप्त करता है जो उसकी स्थूल दृष्टि नहीं देख पाती। आलोचक भी सामान्य घरातल पर रचना का पाठक ही होता है, लेकिन एक विशिष्ट पाठक क्योंकि वह सामान्य पाठक को यह दिखा पाता है जो उसकी बुद्धि रचना में देख न सकी थी। क्योंकि आलोचक कृति को कई स्तरों पर देखता है।

विषय की व्यापकता को देखते हुए पाठ को तीन भागों में बाँट दिया गया है— साहित्य और साहित्यकार, साहित्य और पाठक, साहित्य और आलोचक।

4.3 मूल पाठ

4.3.1 साहित्य और साहित्यकार

साहित्य और उसके सृजन में लेखक, पाठक और आलोचक के जो संबंध होते हैं, उनके विषय में चर्चा करते समय साहित्य और उसके रचयिता के संबंधों पर विचार करना चाहिए। सृजन-प्रक्रिया के समय ये ही दोनों महत्वपूर्ण होते हैं। पाठक और आलोचक कृति से उसके सृजन के बाद ही संबद्ध होते हैं।

प्लेटो ने यह कहा था कि कवि ईश्वरीय प्रेरणा से काव्य-रचना करता है। कवि की अंतःप्रेरणा को ही उन्होंने काव्य-रचना का हेतु माना था। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया था कि कवि अपनी कल्पना से जीवन के गंभीरतम सत्यों की प्रतीति कर लेता है। यह अलग बात है कि जब उन्होंने अपने नैतिकता के मानदंड पर कवि को देखा तो उसे 'प्रमादी', गैरजिम्मेदार और अनैतिक' भी कहा। पर यहाँ इस तर्क में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ देखना ही पर्याप्त होगा कि प्लेटो ने कवि को गंभीरतम सत्यों की प्रतीति कर लेनेवाला स्वीकार किया है।

सृजन की प्रक्रिया से निरंतर जुड़े रहने के कारण ही साहित्यकार को 'सर्जक' माना गया है और उसके पास 'गंभीरता सत्यों' की प्रतीति करने की, भूत और भविष्य को देखने-दिखाने की जो विशिष्ट दृष्टि होती है, उसके कारण उसको 'द्रष्टा' भी कहा गया है। ऐसा इसलिए कि साहित्यकार अपने आस-पास के समस्त सामाजिक-सांस्कृतिक विघटनों-परिवर्तनों को देखते हुए, अपनी अनुभूति के रूप में उनकी अभिव्यक्ति या प्रस्तुतीकरण करता है।

लेखक द्वारा अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति किसी भी रूप में हो इसकी अपेक्षा उससे नहीं की जाती। साहित्य के लेखक से बड़ी अपेक्षाएँ की जाती हैं और जब वह इन पर खरा उतरता है, तभी उसे महान लेखक की श्रेणी में स्वीकार किया जाता है। उदाहरण के लिए यहाँ लेखक के संबंध में लौजाइन्स ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उन्हें देखा जा सकता है। उनके अनुसार औदात्य का गुण ही महान लेखक की विशिष्टता होती है। उनका यह भी कहना है कि साहित्य में औदात्य का गुण तभी उत्पन्न होता है जब उसका लेखक महान विचारों के ऐश्वर्य से संपन्न हो अर्थात् उसमें महान विचारों की अवधारणा करने की क्षमता हो और उसकी वाणी (यानी, अभिव्यक्ति) में वास्तविक और सच्ची रागात्मकता का उत्कर्ष हो। इस प्रकार साहित्यकार यदि अपनी अनुभूति को अपने पाठकों तक पहुँचाना चाहता है, साहित्य को उत्कर्ष देना चाहता है, साहित्य में भावोद्देक और प्रभावित करने की क्षमता भरना चाहता है तो यह अति अनिवार्य है कि लेखक की आत्मा सचमुच उदात्त और शालीन हो, क्षुद्रता और दास्यभाव से युक्त लेखक महान कृति का सृजन कभी नहीं कर सकता।

लेखक की अनुभूति, अभिव्यक्ति ही नहीं बल्कि उसकी आत्मा और जीवन की उदात्तता व शालीनता भी अच्छे साहित्य के सृजन के लिए लौजाइन्स ने अनिवार्य मानी। साहित्यकार सर्जक और द्रष्टा होता है, साहित्य को उत्कृष्ट और उदात्त बनाना उसका कार्य होता है। इसीलिए साहित्यकार की परिभाषा में सभी लेखक नहीं आते।

इतिहास को, परंपरा को और विज्ञान को एक नई दिशा देनेवाला भी लेखक ही होता है। उदाहरण के लिए मानवशास्त्र और मानव विकास के अध्येता डार्विन ने, मानव मन और प्रक्रियाओं तथा संरचना के अध्येता फ्रायड ने तथा समाज और उसके संगठन के अध्येता मार्क्स ने लगभग 150 साल के इतिहास को मनुष्य जाति की सारी परंपरा से काट दिया। इतना ही नहीं इन तीनों ने अपने-अपने अध्ययन क्षेत्रों पर पुनर्विचार की वैज्ञानिक पद्धति भी दी और मनुष्य को ईश्वरीय और अदृश्य शक्तियों से काटकर उसे यथार्थ स्थितियों को और अपने को देखने-समझने का एक नया और सुदृढ़ आधार दिया। फिर भी इन्हें 'साहित्यकार' के रूप में लेखक नहीं माना जाता। विचारक ये अवश्य थे।

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि साहित्यकार अपने पूरे परिवेश से जुड़ता है। झाड़न ने सबसे पहले कवि की चेतना को देशकाल और समाज की चेतना से संबद्ध करके देखा और यह तथ्य सामने लाए कि कवि अपने राष्ट्र और युग की उन आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देता है जो उसकी प्रगति के अनुकूल होती हैं। इस प्रकार कवि को अपने युग की वाणी मानते हुए उन्होंने कवि के सामाजिक दायित्वों को भी दिखाने का प्रयत्न किया।

झाड़न के विचारों को ही आगे विकास मिलता है। तब यह भी देखने का प्रयत्न होता है कि कवि केवल एक विशेष देश-काल और परिस्थिति की उपज ही नहीं होता, बल्कि वह स्वयं भी इनसे नियंत्रित और निर्देशित हुआ करता है। इसीलिए यह माना जाता है कि अपनी कल्पनाशक्ति से कवि वास्तविकता के साथ सीधा संपर्क स्थापित कर सकता है। कवि का स्थान समाज में शैली ने भी बहुत ऊँचा माना है और उसे 'संसार का बिना माना हुआ नियामक' कहा है।

कवि अपने समाज, अपने युग और फिर विश्व का नियामक तभी बन पाता है जब वह अपने साहित्य को युगांतरकारी व कालजयी बना पाता है। स्वयं साहित्य कोई दिशा नहीं दे सकता, कोई क्रान्ति या परिवर्तन नहीं कर सकता। वह ऐसा तभी कर पाता है जब उसका साहित्य और वह स्वयं भी सामाजिक परिवर्तनों से दिशा लेकर अपने को प्रभावशाली बना सके, अपने साहित्य में जीवित रहने की शक्ति भर सके।

इस संबंध में फ्रांस के प्रसिद्ध आलोचक सैव्यू के विचार देखे जा सकते हैं। उन्होंने सबसे पहले तो 'क्लासिक' की परिभाषा को ही अमान्य ठहराया। पहले यह माना जाता था कि 'क्लासिक' कृति वही है जो प्राचीन, बहुप्रशंसित एवं आदर्श-रूप हो। सैव्यू ने 'क्लासिक' शब्द को 'श्रेष्ठ' का पर्याय मानते हुए वह कहा कि 'श्रेष्ठ रचना का सृष्टा वह होता है जिसने मानव मन को संवृद्ध किया हो, उसके ज्ञान भंडार की अभिवृद्धि की हो, और उसे एक कदम आगे बढ़ाया हो..... जिसने नैतिक सत्य का अन्वेषण किया हो। इस रचनाकार की अभिव्यक्ति को भी उदार-महान, परिष्कृत और युक्तियुक्त, स्वस्थ और सुन्दर होना चाहिए। उसकी शैली विशिष्ट होनी चाहिए—एक ऐसी शैली जो संपूर्ण विश्व की प्रतीत होती हो..... जो किसी एक युग की शैली हो और युग युग की भी'। इस प्रकार सैव्यू ने श्रेष्ठ कृति के रचनाकार से पाठक को, उसकी अपनी अभिव्यक्ति को तथा उसकी विश्वजनीन-ग्राह्यता को जोड़ कर देखने का प्रयत्न किया।

यही हम सर्जनात्मक साहित्य के लेखक और उसके पाठक के संबंधों पर चर्चा कर सकते हैं। भारतीय काव्य-चिंतन में रसवादी धारा के अंतर्गत मूल आचार्य भरतमुनि के विचार भी लेखक-पाठक के संबंध को एक सीमा तक विश्लेषित करते हैं। 'नाट्य (या कलाकृति) में कवि के जिन अंतरिक भावों और मंतव्यों की साकार, सर्वप्रत्ययकारी रस-रूप में परिणति होती है, वह रस आस्वाद्य होने के कारण प्रेक्षक (या पाठक) के मन में भी उन भावों को जाग्रत कर देता है'।

यही कारण है कि अपनी रचना को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने के पहले साहित्यकार को अपने-आप से कई सवाल पूछने चाहिए। पहले तो यह कि पाठक तक क्या और किस रूप में संप्रेषणीय होगा। दूसरे यह कि समाज के लिए उसके सृजन की क्या उपयोगिता होगी। और तीसरे यह कि क्या समाज के सुदृढ़ निर्माण में उसकी रचना अपना योगदान दे सकेगी। इन दृष्टियों से लेखक को निश्चित ही अपने पाठक को अर्थात् अपने और पाठक के परिवेश को, संस्कार को, परम्पराओं को, कालक्रमिक दृष्टि से देखना, परखना पड़ता है। इस प्रकार उसे सत्य (यथार्थ) कहने और सत्य की खोज में जुटने का साहस अपने भीतर पैदा करना होता है, तभी वह पाठक के हृदय तक पहुँच पाता है, उसे प्रभावित, झंकृत कर पाता है, और एक आदर्श साहित्यकार के रूप में समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त कर पाता है। तात्पर्य यह कि पाठक और समाज से गहरे स्तर पर, जुड़ने के लिए साहित्यकार के अपने जीवन-अनुभवों को, अपने काव्यानुभवों से संबद्ध करना पड़ता है।

आज की आलोचना में एक और जीवानुभव और काव्यानुभव की एकरूपता और दोनों की समता तथा उनके अंतः संबंधों को स्वीकार किया जा रहा है और दूसरी ओर काव्यानुभव की स्वायत्तता पर भी बल दिया जा रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि लेखक अपने लौकिक अनुभवों को काव्यानुभवों में ढालकर समाज के सामने, समाज के लिए प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से कवि-आलोचक विस्तार से करते हैं। इस दृष्टि से ही काव्यानुभव की वास्तविकता को लेखक के लिए अनिवार्य माना गया है। यह कहा गया है कि कविता संभावना के रूप में वास्तविकता का रचनात्मक रूपांकन होती है। अतः जहाँ वास्तविकता नहीं, वह रचना असत्य है और उसमें काव्यत्व भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'कलात्मकता' का स्रोत जीवन है।

इस प्रकार साहित्य और साहित्यकार दोनों ही 'जीवन अर्थात् सामाजिक परिस्थितियों से बंधे होते हैं। समाज क्योंकि एक निरंतर परिवर्तनशील इकाई है अतः उसकी परिवर्तनशीलता भी उन्हें स्थिर नहीं रहने देती। इसीलिए साहित्य पर विचार करते समय तत्कालीन परिवेश और कलाकार का विवेचन हमें अनिवार्यतः मिलता है। साहित्यकार साहित्य की रचना वास्तविकता को स्वयं आत्मसात करते हुए, उस वास्तविकता को अपनी प्रतिभा, कल्पना और ज्ञान और ज्ञान के आश्रय से संवेद्य और बहुजन सप्रेष्य बनाते हुए करता है। इस प्रकार साहित्य का संबंध अनिवार्यतः युगीन परिवेश और परिस्थितियों से रहता है। ये परिस्थितियाँ, चाहे वे सामाजिक हों, चाहे राजनैतिक, चाहे धार्मिक या दार्शनिक उस युग के साहित्य में व्यक्त होती हैं। इसीलिए यह माना जाता है कि साहित्य की उत्पत्ति तभी होती है जब इन साहित्येतर संयोजक शक्तियों द्वारा कवि के विचार, संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ संयुक्त हो जाती हैं। तभी कवि की रचना पाठक के लिए सहज सप्रेष्य भी बनती है क्योंकि पाठक भी युगीन परिस्थितियों से उतना ही संबद्ध होता है जितना कि कवि।

4.3.2 साहित्यकार और पाठक

ऊपर हम ने देखा कि वास्तविकता को अपनी कल्पना, प्रतिभा और प्रज्ञा के साथ आत्मसात करते हुए पाठक तक पहुँचने की प्रक्रिया ही सर्जन-प्रक्रिया है। यही प्रक्रिया साहित्यकार को पाठक के निकट ले आती है। इस प्रक्रिया को जो साहित्यकार जितनी अच्छी तरह समझता है, वह (या उसका साहित्य) पाठक के उतने ही निकट पहुँच पाता है और इसी प्रक्रिया के आधार पर ही उसकी रचना कालजयी और प्रासंगिक बने रहने की क्षमता से भी युक्त होती है। इस बात को तुलसीदास के उदाहरण द्वारा पुष्ट किया जा सकता है। तुलसीदास ने अपने युग की वास्तविकता या मानसिकता को अपनी कल्पना, प्रतिभा और ज्ञान के सामंजस्य से संवेद्य बनाकर पाठक तक पहुँचाया। उनकी रचनाओं में उस युग के धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र आदि का स्पष्ट ज्ञान पाठक को होता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि तुलसी ने एक साहित्यकार के रूप में अपने को उस मनुष्य, उसके परिवेश और उसकी वास्तविकताओं के साथ जोड़ा जो उनका पाठक बन सकता था। तभी सारी वास्तविकताओं के साथ वे उसे प्रभावित भी कर सके और उसके हृदय तक अपने को सप्रेषित भी कर सके। इसके विपरीत जब साहित्यकार अपने पाठक और परिवेश से नहीं जुड़ता या उसकी वास्तविकताओं को सही ढंग से सामाजिक परिवर्तनशीलता के साहित्येतर घटकों के साथ व्यक्त नहीं करता तो उसका साहित्य बनावटी और मिथ्या लगने लगता है। और ऐसा साहित्य कभी पाठक के हृदय तक नहीं पहुँच पाता।

पाठक और परिवेश से असंबद्ध साहित्यकारों को हम रीतिकालीन हिन्दी साहित्य के संदर्भ में देख सकते हैं। रीतिकालीन साहित्यकारों ने व्यक्ति, उसकी वास्तविकता, उसकी मानसिकता और उसके परिवेश से कोई प्रेरणा नहीं ली बल्कि संस्थाओं, व्यवस्थाओं से प्रेरणा ली, जिसके कारण उनकी रचनाएँ अप्रामाणिक लगती हैं। इसके साथ ही उन्होंने पुराने साहित्य और लक्षणशास्त्रों से अधिक प्रेरणा ली। फलस्वरूप उन्होंने अपने साहित्य को मनुष्य से नहीं लिया और उनका साहित्य बेजान, मिथ्याभाषी और अप्रासंगिक बन गया। इसीलिए रीतिकालीन साहित्य को उसके चरित्र के आधार पर मनोरंजन और पलायन का साहित्य माना गया है।

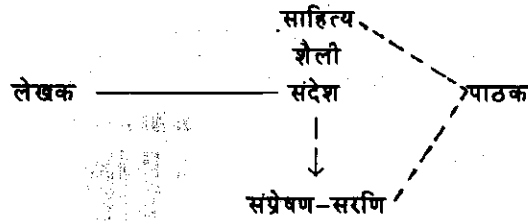
पिछले कुछ वर्षों में साहित्य ने समाजशास्त्रीयों का ध्यान भी अपनी ओर आकृष्ट करना प्रारंभ किया। इसका एकमात्र कारण यही है कि साहित्य को व्यक्ति और समाज से अभिन्न माना गया है। इतना ही नहीं साहित्य को समाज का प्रतिनिधि व सामाजिक यथार्थ का प्रामाणिक दस्तावेज़ भी माना गया है। यदि साहित्यकार अपने आस-पास के मनुष्यों की आकांक्षाओं, प्रयत्नों, कुंठाओं और हताशाओं को ईमानदारी से व्यक्त करता है तो उसका साहित्य स्वतः उसके पाठकों को प्रभावित करेगा और ऐसी स्थिति में उसे किसी शास्त्रीय प्रामाणिकता की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसलिए साहित्य को अपने काल-युग से जोड़ना प्रत्येक साहित्यकार का परम दायित्व है तभी वह सामाजिक दायित्वों के प्रति भी अपनी कृति की पहचान करवा सकता है।

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि हर साहित्य का एक काल या युग होता है और उसके अनुरूप ही, प्रत्येक युग के साहित्य का एक प्रमुख स्वर होता है। उदाहरण के लिए मध्यकाल का मुख्य स्वर धर्म था और बिना धर्म को समझे मध्यकालीन साहित्य और मध्यकालीन परिस्थितियों को नहीं समझा जा सकता। इसी प्रकार आज के साहित्य का प्रमुख स्वर राजनैतिक है और इसीलिए राजनैतिक चेतना के अभाव में आज का साहित्यकार न तो सफल साहित्य का सृजन कर सकता है और न ही उसका पाठक साहित्य से अपने को संबद्ध महसूस कर सकता है।

काल या युग के साथ ही सभ्यता का विकास होता है, इस विकास के साथ ही पाठक और साहित्यकार के अनुभव का क्षेत्र भी विकसित होता है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ उन्हें व्यक्त करने के उपकरण भी विकसित हो जाते हैं। इस दृष्टि से सभ्यता के विकास के साथ काव्यानुभूति को व्यक्त करने के उपकरण भी हमें विकसित होते दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन-मध्यकालीन काव्य के संदर्भ में 'नैतिकता' की बात तथा काव्य की ग्राह्यता-अग्राह्यता की चर्चा प्रमुख रही पर आधुनिक काल में जीवन-वास्तव के संपूर्ण मूर्त, कलात्मक प्रतिबिम्बन को साहित्य का लक्ष्य मानते हुए, काव्य में वास्तविकता के सत्य को कला की अंतिम कसौटी घोषित कर दिया गया। यही लेखक के विश्व-बोध की बात भी उठाई गई जो मध्ययुगीन काव्य दृष्टि में कभी सोची भी नहीं गई थी। अतः सभ्यता के विकास को व्यक्त करने की दृष्टि से काव्य में बाह्य यथार्थ (तथ्य/वास्तविकता) और कवि के यथार्थ के संबंधों की गंभीरता को भी आज महत्वपूर्ण ही नहीं, साहित्यपरक व कवि-कर्म की दृष्टि से सर्वोच्च स्थान माना जाता है।

कवि-कर्म से यहाँ तात्पर्य है कवि द्वारा अनुभूत यथार्थ का संप्रेषण। जो बाह्य यथार्थ होते हैं, उन्हें अभिव्यक्त करते समय साहित्यकार अपनी अनुभूति से उन्हें जोड़कर काव्य का यथार्थ निर्मित करता है। बाह्य यथार्थ से सभी परिचित होते हैं लेकिन साहित्यकार उन्हें अपनी सुक्ष्म दृष्टि से देखकर एक नए रूप में संप्रेषित करता है। इसीलिए प्राचीन काव्यशास्त्र में 'साधारणीकरण' की संकल्पना पर बल दिया गया था और आज संप्रेषण की संकल्पना को साहित्यकार और पाठक के बीच अनिवार्य माना गया है। साहित्य के संप्रेषण की मात्रा पाठक-पाठक में भिन्न हो सकती है। पाठक और साहित्यकार का संबंध यहाँ इस रूप में स्थापित होता है कि पाठक साहित्यकार की अनुभूति में साझेदार बनता है। साहित्यकार की अनुभूति की सीमा यदि आत्माभिव्यक्ति तक ही रह जाती है तो उसके साहित्य को 'काव्य-सत्य' की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

साहित्य और पाठक के बीच संबंध-सूत्र के रूप में कृति या रचना होती है। इस रचना के माध्यम से ही कोई संदेश साहित्यकार पाठक तक संप्रेषित करना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्यकार संदेश के अनुरूप शैली का चयन करता है जिसके माध्यम से वह अपनी अनुभूति को सशक्त और प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करता है। पाठक-लेख के बीच के इस संबंध को नीचे दिए गए चित्र में देखा जा सकता है:



पाठक एक साधारण व्यक्ति होता है। साहित्यकार द्वारा संप्रेषित संदेश को वह अपनी बौद्धिक क्षमता की सीमा में ही ग्रहण कर पाता है। इसलिए एक ही रचना को सभी पाठक समान स्तरों पर ग्रहण नहीं कर पाते। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि कोई भी रचना सभी पाठकों में सम्मान रूप से संप्रेषित नहीं होती। यह सामान्य पाठक की सीमा है।

संप्रेषण के संदर्भ में पाठक की इस सीमा को, देखते हुए ही इलियट ने पाठक के तीन स्तर निर्धारित किए। उन्होंने यह स्थापित किया था कि एक प्रकार के पाठक वे होते हैं जो बड़े भोलेपन के साथ कविता को पढ़ते हैं और अपनी सीमित चेतना के साथ उसका आनंद लेते हैं। दूसरे स्तर का पाठक कई अन्य रचनाओं के बीच कृति को रखकर तुलनात्मक दृष्टि से उसे पसन्द या नापसन्द करता है। पाठक का तीसरा स्तर वह है जब वह समग्र को जानते हुए नए सृजन का मूल्य निर्धारित करता है और साहित्य द्वारा उद्घाटित नई परिस्थितियों के कारणों को स्पष्ट कर पाता है। तीसरे स्तर के पाठक को इलियट ने श्रेष्ठ आलोचक कहा है।

पाठक के संबंध में भारतीय काव्य शास्त्रीय परम्परा में भी हमें कुछ नियम मिलते हैं। वामन ने कवि के संबंध में विचार करते हुए उन्हें 'काव्य के अधिकारी' कहते हुए इनका निरूपण किया। 'अधिकारी' शब्द को विवेचित करते हुए उन्होंने कवियों के दो वर्ग किए: अरोचकी और सत्रिणाभ्यवहारी। जिनका क्रमशः अर्थ होता है- विवेकी और अविवेकी। वामन ने विवेकी कवि को ही काव्य-शास्त्र की शिक्षा का सर्वथा अभाव रहता है। आगे चलकर राज-शेखर ने पाठक (आलोचक) के भी यही भेद किए। पाठक के संबंध में यह वर्गीकरण अधिक उचित प्रतीत होता है। एक सीमित संदर्भ में सामान्य पाठक को अविवेकी और सजग पाठक को विवेकी कहा जा सकता है। वैसे संस्कृत काव्यशास्त्र में विवेक और अविवेक की दृष्टि से साहित्यकार और पाठक में कोई मौलिक भेद नहीं माना गया है।

साहित्यकार अपनी अनुभूति को वास्तविकताओं से जोड़ने के बावजूद पूरी तरह व्यक्त नहीं कर पाता। इसका प्रमुख कारण यह है कि समाज और उसकी परिस्थितियों से संबद्ध अनुभूतियाँ इतनी जटिल होती हैं कि भाषा या चुनी गयी शैली, उनकी तदनुरूप अभिव्यक्ति में पूर्णतः सफल नहीं हो पाती। इस कारण ही साहित्यकार, पाठक के बीच संप्रेषण-अनुभूति के तादात्म्य में अवरोध उत्पन्न करते हैं। साहित्यकार अपनी अनुभूति को जिस सीमा तक भी व्यक्त कर पाता है, उसे भी सामान्य-पाठक एक सीमा तक ही ग्रहण कर पाता है। ऐसी स्थिति में ही श्रेष्ठ पाठक अर्थात् आलोचक की भूमिका साहित्य के संदर्भ में महत्वपूर्ण बनकर उभरती है क्योंकि जो कुछ सामान्य पाठक ग्रहण नहीं कर पाता उसे विवेचित करके, उसके प्रदत्त रूप में आलोचक सामान्य पाठक तक उसे पहुँचाता है और साहित्यकार की सीमाओं का विश्लेषण करके साहित्यकार को भी मूल्यांकन का एवं अपनी कृति को पहचान-पाने का एक आधार देता है।

4.3.3 साहित्य और आलोचक

साहित्य का आलोचक भी सबसे पहले पाठक ही होता है। यह बात भारतीय और पाश्चात्य आलोचना चिंतन के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाती है। आलोचक को यदी सामान्य पाठक से अलग करके देखना हो तो हम उसे 'विशिष्ट पाठक' कह सकते हैं। क्योंकि वह सामान्य पाठक को रचना के उन तत्वों से परिचित करता है जिनकी ओर सामान्य पाठक की दृष्टि नहीं जाती। इसके साथ ही आलोचक रचना की सीमाओं का परिचय भी पाठक को देता है।

रचना की सीमाओं या उसके गुण-दोषों के विवेचन के लिए आलोचक उसे कई स्तरों पर देखता है। कवि की संवेदना, कवि द्वारा निर्मित प्रतिमाओं (images) और उनके संवेगों की चर्चा आलोचक शैली तथा अनेक तत्कालीन और युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में करता है। इस प्रकार वह रचना के विविध आयामों को स्वयं भी देख पाता है तथा सामान्य पाठक की दृष्टि को भी साहित्य के मर्म तक पहुँचाने में मदद देता है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय चिंतन में राजशेखर ने कवि और भावक (आलोचक) में कोई मौलिक अंतर नहीं माना। उन्होंने आलोचक को चार श्रेणियों में बाँटा: 1. अरोचकी: जिन्हें किसी की अच्छी-से-अच्छी रचना भी नहीं जैचती, 2. सतृष्णाभ्यगहारी: जो भली-बुरी सभी प्रकार की रचनाओं पर 'वाह वाह' कर उठते हैं, 3. मत्सरी: जो ईर्ष्यावश किसी रचना को पसंद नहीं करके, कुछ न कुछ दोष दिखाने की कोशिश करते हैं और 4. तत्वाभिवेशी: जो निष्पक्ष और सच्चे आलोचक होते हैं। आलोचक की चौथी विशेषता के साथ वाले आलोचकों को ही राजशेखर ने 'भावयित्री प्रतिभा' से युक्त माना और यह भी कहा कि मत्सरी प्रकृति से आलोचक को दूर रहना चाहिए, जब कि इससे रहित गुणज्ञ, आलोचक विरले ही होते हैं।

उपरोक्त वर्गीकरण आलोचक के स्वरूप पर प्रकाश डालता है जिसके केन्द्र में आलोचक की 'तटस्थता' और उसकी 'विवेचन शक्ति' को रखा गया है। बाद में आलोचक की समीक्षा दृष्टि और उसकी आलोचना-प्रक्रिया की दृष्टि में रखकर भी अनेक विचार हमारे सामने आते हैं। उनके आधार पर आलोचक के संबंध में हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

पहली बात यह कि आलोचक, सामान्य पाठक की तरह मात्र साहित्य का आस्वादक नहीं होता, बल्कि वह साहित्य क्या है? - अच्छा साहित्य कौन-सा है? उसकी उपयोगिता क्या है? वह पाठक की किन इच्छाओं की पूर्ति करता है? आदि अनेक प्रश्नों के हल प्रस्तुत करता है। इतना ही नहीं आलोचक परम्परा को एक दृष्टि देते हुए, ऐतिहासिक क्रम में आधुनिकता से जोड़ता है और परम्परा को आधुनिकता की एक कड़ी के रूप में प्रस्तुत करता है। इसलिए यह भी माना गया कि आलोचक में युग की चेतना को प्रभावित करने, परिवर्तित करने, परिवर्तित और पुनःनिर्धारित करने की क्षमता होती है। इन क्षमताओं का उपयोग वह पूरे अधिकार के साथ करता है। आलोचक को यह अधिकार युग की परम्पराएँ देती हैं। सामान्य पाठक क्योंकि साहित्य के आंतरिक घटकों से परिचित नहीं होता, इसलिए उसकी दृष्टि भी सूक्ष्मताओं की ओर नहीं जाती। आलोचक सामान्य पाठक की इस काव्य-संबंधी दृष्टिहीनता को परिपक्व बनाता है। अपनी स्थूल दृष्टि द्वारा सामान्य पाठक जो कुछ रचना में नहीं देख पाता उसे दिखाने में आलोचक समर्थ होता है और सामान्य पाठक को अच्छी रचना और बुरी रचना में अंतर करने की दृष्टि भी प्रदान करता है।

साहित्य का मूल्यांकन करनेवाला अर्थात् आलोचक भी एक व्यक्ति ही होता है। लेकिन कृति संबंधी उसका निर्णय व्यक्तिगत नहीं होता क्योंकि कृति और आलोचना एक व्यापक मानवीय प्रक्रिया का अंग होती है। साहित्य की यह व्यापक मानवीय प्रक्रिया ही उसे युगीन परिस्थितियों और अन्य विचारों-संवेदनाओं से सहयोजित करती है। सामान्य पाठक इन्हें पहचान नहीं पाता जबकि आलोचक इन्हीं के आधार पर रचना के अर्थ और मूल्यों तक पहुँचता है। इसलिए साहित्य संबंधी उसका निर्णय व्यक्तिगत नहीं होता। साहित्य में मूल्यों, अर्थ और अनुभूतियों का सतुलित सहयोजन है या नहीं, यह आलोचक ही उद्घाटित करता है। उदाहरण के लिए हिन्दी के वीरगाथा युग में चंद, जगनिक, नाल्ह आदि कवियों ने सामन्ती-प्रवृत्ति-प्रधान साहित्य की जिसे परंपरा को जन्म दिया था, वह रीतिकाल (केशव, भूषण) तक अदृष्ट चली आई है। इस प्रवृत्ति के साहित्य में शौर्य और श्रृंगार प्रधान तत्व हैं। इन कृतियों की पहचान व मूल्यांकन तब तक संभव नहीं है जब तक आलोचक युगीन मूल्यों और परिस्थितियों से रचना को संबंधित करके न देखे। आलोचक यही करता है। वह साहित्य को साधारण रूप में एक व्यक्ति के रूप में नहीं देखता, बल्कि उसे एक पाठक की संज्ञा दी गई है। इतना ही नहीं साहित्य संबंधी उनकी स्थापनाएँ सामान्य पाठक को भी कृति के प्रति सजग करती हैं। इसीलिए आलोचक और आलोचना प्रक्रिया के संबंध में व्यापक विचार हमें समय-समय पर मिलते हैं।

पाश्चात्य शास्त्रीय दृष्टि से क्रोचे ने 'कला' से अधिक महत्व 'कलाकार' को दिया। इस प्रकार उन्होंने 'कला' के भिन्न अंगों-पाठक और संप्रेषण की उपेक्षा की, जिसके कारण कला मूल्य-निरपेक्ष बन जाती है और उसकी सार्थकता पर ही प्रश्न चिह्न लग जाता है। 'कला' उसके पाठक दर्शक को प्रभावित करे, वह प्रभावित तभी करेगी जब उसमें निहित भाव-विचार-वस्तु पाठक दर्शक के लिए ग्राह्य और संप्रेक्ष्य होंगे। पाठक और संप्रेषण के प्रति उदासीन क्रोचे की इस धारणा को आलोचना नहीं माना गया है, अपितु इसे एक व्यक्तिगत प्रतिक्रिया या धारणा माना गया है। अतः आलोचक को किसी पूर्वाग्रह या विचारधारा से ग्रसित नहीं होना चाहिए।

क्रोचे की तुलना में इलियट के विचार अधिक सुलझे हुए हैं। वे साहित्यकार को उसकी प्रज्ञा (individual talent) को पूरा महत्व देते हैं, पर उसे परम्परा से अलग नहीं करते। उनकी बात को स्पष्ट करने के लिए हम हिन्दी साहित्य में तुलसीदास और प्रसाद को उदाहरण के रूप में रखकर देख सकते हैं। तुलसीदास ने अपने से पहले की रामकाव्य-परंपरा से बहुत कुछ लिया और इससे उनका काव्योत्कर्ष कम नहीं हुआ। 'कामायनी' में प्रागैतिहासिक युग से लेकर आधुनिक युग तक की भारतीय मनीषा का श्रेष्ठ अंश उद्घाटित किया गया है। अतः परंपरा कवि प्रज्ञा के विकास में बाधक नहीं, सहायक होती है। इसीलिए जब आलोचक किसी रचना को उसके पूर्ववर्ती रचनाकारों की सापेक्षता में युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में संप्रेक्षणीयता के संदर्भ में देखता है तभी वह रचना की सार्थकता की बात कर सकता है।

यही कारण है कि आलोचक किसी रचना का मूल्यांकन केवल 'कलाकार को केन्द्र में रखकर नहीं कर सकता। काव्य के लिए सार्थक भाव की अभिव्यजना को अनिवार्य माना गया है, कवि के जीवन-वृत्त को नहीं। अतः आलोचक के लिए काव्य को समझना अधिक आवश्यक है। आलोचना का मूल तत्व और उद्देश्य भी यही है- अच्छी कविता का चयन और बुरी कविता के त्याग की क्षमता। पाठक की दृष्टि से 'सार्थक' भाव और संप्रेषण की दृष्टि से उनकी 'अभिव्यजना'।

4.4 सारांश

सामान्य रूप से साहित्यिक कृति का जो विवेचन आलोचक करता है, उसमें उससे निम्न लिखित प्रकार्यों को अपनाने-समेटने की अपेक्षा की जाती है:

1. काव्य के स्वरूप का अनुसंधान
2. अच्छे और बुरे काव्य का भेद निरूपण
3. साहित्य की जीवन्त परंपरा का परीक्षण
4. कलाकृतियों का माध्यमपरक विश्लेषण
5. रुचि का परिष्कार
6. साहित्य के बोध और आस्वाद का संवर्धन
7. स्थायी कलात्मक मूल्यों और मापदंडों का सम-सामयिक कला पर विनियोग।

इन प्रकार्यों से जुड़ने पर आलोचक का घनिष्ठ संबंध साहित्य और उसके पाठक से जुड़ जाता है। साहित्यिक कृति की सृजन-प्रक्रिया से साहित्यकार का संबंध होता है। जीवनानुभव और काव्यानुभव के द्वंद्व को साहित्यकार अपनी प्रतिभा, कल्पना एवं ज्ञान के सहयोजन से साहित्य में अभिव्यक्त करता है। साधारण पाठक उसकी इस कृति या रचना का आस्वादक होता है। अर्थात् अपनी क्षमता के अनुसार वह कृति का रसस्वादन कर पाता है। पाठक के माध्यम से साहित्यकार संप्रेषण का उद्देश्य प्राप्त करता है। सामान्य पाठक और कृति के बीच जो संप्रेषण के अवरोधक तत्व होते हैं या साहित्य में निहित परिस्थितिजन्य जो सूक्ष्म दृष्टिकोण होते हैं, उन्हें आलोचक अपनी सूक्ष्म अनुसंधानपरक दृष्टि द्वारा पाठक के लिए सहज बनाता है।

45. पारिभाषिक शब्द

सृजन	:
प्रतिबद्ध	:
कल्पना	:
प्रतिभा	:
प्रज्ञा	:
भाव	:
विकृत	:
प्रासंगिक	:
व्यवस्था	:
अकांक्षा	:
कुंठा	:
अनुभूति	:
संप्रेषण	:
शैली	:
बोध	:
परम्परा	:
अंतर्दृष्टि	:
नीति-आचार शास्त्र	:
रुचि	:
परिष्कार	:

4.6 अभ्यास

4.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न

1. साहित्य में लेखक, पाठक और आलोचक के संबंधों पर प्रकाश डालिए।
2. साहित्य में परिवेश और पाठक के महत्व पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
3. आलोचक की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित कीजिए।

4.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

1. लेखक के संबंध में इंडियन के विचार व्यक्त कीजिए।
2. रचनाओं को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने से पहले लेखक को कौन से प्रश्न अपने आप से पूछने चाहिए।
3. सभ्यता का विकास और कवि कर्म के संबंध में अपने विचार व्यक्त कीजिए।
4. लेखक से पाठक को जोड़कर देखने की दृष्टि सबसे पहले किसने दी? विवेचन कीजिए।
5. कवि कर्म के संबंध में यथार्थ के संप्रेषण को समझाइए।

4.7 नमूने के उत्तर

4.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: साहित्य में परिवेश और पाठक के महत्व पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

उत्तर: अपनी रचना को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने के पहले साहित्यकार को अपने आप से कई सवाल पूछने चाहिए, पहले तो यह कि पाठक तक क्या और किस रूप में संप्रेषणीय होगा। दूसरे यह कि समज के लिए उसके सृजन की क्या उपयोगिता होगी और तीसरे यह कि क्या समाज के सुदृढनिर्माण में उसकी रचना अपना योगदान दे सकेगी। इन दृष्टियों से निश्चित ही लेखक को अपने पाठक अर्थात् अपने और पाठक के परिवेश को, संस्कार को, परम्पराओं को कालक्रमिक दृष्टि से देखना-परखना पड़ता है, इस प्रकार साहित्य और साहित्यकार दोनों ही 'जीवन' अर्थात् सामाजिक परिस्थितियों से बंधे होते हैं। समाज क्योंकि एक निरंतर परिवर्तनशील इकाई है अतः उसकी परिवर्तनशीलता भी उन्हें स्थिर नहीं रहने देती। इसलिए साहित्य पर विचार करते समय तत्कालीन परिवेश और कलाकार का विवेचन हमें अनिवार्यतः मिलता है। जैसे तुलसीदास ने अपने युग की वास्तविकता या मानसिकता को पाठक तक पहुँचाया। तुलसीदास ने एक साहित्यकार के रूप में अपने को उस मनुष्य, उसके परिवेश और उसकी वास्तविकताओं के साथ जोड़ा जो उनका पाठक बन सकता था। इसके विपरीत जब साहित्यकार अपने पाठक और परिवेश से नहीं जुड़ता तो उसका साहित्य बनावटी और मिथ्या लगने लगता है। जैसे रीतिकालीन साहित्यकारों ने व्यक्ति, उसकी वास्तविकता, उसकी मानसिकता और उसके परिवेश से कोई प्रेरणा नहीं ली। बल्कि उन्होंने संस्थाओं, व्यवस्थाओं से प्रेरण ली, जिसके कारण उनकी रचनाएँ अप्रमाणिक लगती हैं।

4.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: लेखक के संबंधों में ड्राइडन के विचार व्यक्त कीजिए।

उत्तर: ड्राइडन ने सबसे पहले कवि की चेतना को देशकाल और समाज की चेतना से संबद्ध करके देखा और तथ्य सामने लाए कि कवि अपने राष्ट्र और युग की उन आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देता है जो उसकी प्रगति के अनुकूल होती हैं। इस प्रकार कवि को अपने युग की वाणी मानते हुए उन्होंने कवि के सामाजिक दायित्वों को भी दिखाने का प्रयत्न किया। ड्राइडन के विचारों को ही आगे विकास मिलता है। तब यह भी देखने का प्रयत्न होता है कि कवि केवल एक विशेषदेश, काल और परिस्थिति की उपज ही नहीं होता, बल्कि वह स्वयं भी इनसे नियंत्रित और निर्देशित हुआ करता है। इसीलिए यह माना जाता है कि अपनी कल्पना शक्ति से कवि वास्तविकता के साथ सीधा संपर्क स्थापित कर सकता है।

4.8 पठनीय पुस्तकें

साहित्य समीक्षा

नई समीक्षा नए सदर्थ

भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका

साहित्य: स्थायी मूल्य और मूल्यांकन

कविता के नये प्रतिमान

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

: मुद्राराक्षस, नेशनल, नई दिल्ली

: नगेन्द्र, नेशनल, नई दिल्ली

: नगेन्द्र, नेशनल, नई दिल्ली

: रामविलास शर्मा, अक्षर, नई दिल्ली

: नामवर सिंह, राजकमल, नई दिल्ली

: देवेन्द्रनाथ शर्मा, नेशनल, नई दिल्ली

इकाई-5: लोक साहित्य: परिभाषा, तत्व और प्रकार

- 5.0 विषय प्रवेश
- 5.1 पाठ का उद्देश्य
- 5.2 पाठ परिचय
- 5.3 मूलपाठ
 - 5.3.1 विषय प्रवेश
 - 5.3.2 साहित्य और लोक वार्ता
 - 5.3.3 लोक साहित्य की परिभाषा
 - 5.3.4 लोक साहित्य के प्रकार
 - 5.3.5 हिन्दी साहित्य और लोक साहित्य
- 5.4 पाठ का सारांश
- 5.5 शब्दार्थ
- 5.6 अभ्यास
 - 5.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 5.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 5.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 5.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 5.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 5.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.1 पाठ का उद्देश्य

इस पाठ में लोक साहित्य की परिभाषा और प्रकार पर प्रकाश डाला गया है। इसके अध्ययन से आप:

- साहित्य और लोक साहित्य के भेद को स्पष्ट कर सकेंगे।
- लोक वार्ता पर विचार कर सकेंगे।
- लोक साहित्य को परिभाषित कर सकेंगे।
- लोक साहित्य के प्रकार पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- लोक साहित्य की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।

5.2 पाठ परिचय

'लोकवार्ता' परिनिष्ठित साहित्य का आधार होती है। 'लोकवार्ता' के महत्व की चर्चा साहित्य के संदर्भ में करते हैं प्रस्तुत पाठ में भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से अभिव्यक्त लोक-तत्वों का आकलन प्रस्तुत किया गया है। भारत में हिन्दी और विभिन्न भारतीय भाषाओं के लोक-साहित्य पर हुए अध्ययनों, संश्लेषों को परिचय की इस पाठ में है। पश्चिमी और भारतीय विद्वानों द्वारा किए गए महत्वपूर्ण कार्यों का परिचय इससे विद्यार्थियों को मिलेगा।

इस पाठ में 'लोक' और 'लोक-साहित्य' की परिभाषा के रूप में प्रमुख विचारकों के विचारों का उल्लेख किया गया है। लोक-साहित्य के प्रभाव प्रकारों का परिचय देते हुए हिन्दी-लोक-साहित्य के तत्वों को आदिकाल के हिन्दी-साहित्य से लेकर आधुनिक हिन्दी साहित्य तक में देखा गया है। आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य में भी लोक-तत्वों के प्रवेश का परिचय पाठ देता है। पाठ के अंत में पूरे पाठ के सार रूप लोक साहित्य के संबंध में दस निष्कर्ष दिए गए हैं जो विद्यार्थियों के लिए अति-उपयोगी बिंदु हैं और पूरे पाठ को समझने में सहायक भी।

5.3 मूल पाठ

5.3.1 विषय प्रवेश

यह तो हम सभी जानते हैं कि साहित्य का तात्पर्य है- परिनिष्ठित साहित्य। यह साहित्य व्यक्ति विशेष की कृति है और इस पर रचयिता के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप पड़ती है।

यह भी एक वास्तविकता है कि मनुष्य के विकास में उसके विश्वासों, आचारों-विचारों, मूल्यों, कलात्मक अभिव्यक्तियों को समझने में, लोकवार्ता (Folklore) हमेशा सहायक होती है। साहित्य भी मनुष्य की एक कलात्मक अभिव्यक्ति है। साहित्य हमेशा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में ही पनपता और विकसित होता है। यही कारण है कि साहित्य के मूल स्रोतों एवं उसके रूप पर अध्ययन करने वाले विद्वान यह मानते हैं कि साहित्य के विविध रूपों का विश्वास लोकवार्ता की गोद में ही होता है। प्रसिद्ध लोक-साहित्य अध्येता एल.के.चिजविक का यह मानना है कि 'लौकिक स्रोतों के विभिन्न काल-क्रम धीरे-धीरे पल्लवित हो कर कालांतर में परिनिष्ठित साहित्य के रूप में विशिष्ट और स्वतंत्र रूप धारण कर लेते हैं।'

भारत में साहित्य-सर्जन का इतिहास बहुत पुराना है। भारत में जितनी प्राचीन परंपरा साहित्य के इतिहास की है उतनी ही प्राचीन परंपरा लोकवार्ता की भी है। डॉ. त्रिलोचन पांडेय का यह कथन इस बात को प्रमाणित भी करता है कि 'ऋग्वेद के प्राचीन संवाद, सूक्तों, प्रेमाख्यानों, अनुष्ठानों, रीति-रिवाजों तथा लोक-विश्वसों के रूप में लोकवार्ता के विविध रूप परिलक्षित किये जा सकते हैं। वास्तव में यही लौकिक स्रोत लोक साहित्य की आधार-सामग्री बनते हैं।

यदि हम भारतीय नाट्यशास्त्र का गहन विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि नाट्यशास्त्र के विभिन्न अध्यायों में उस समय लोक प्रचलित ज्ञान-शैलियों, भाषारूपों, परंपराओं, लोक-विश्वासों तथा काव्य रूपों के उल्लेख हमें मिलते हैं।

इतना ही नहीं भारतीय आचार्य साहित्य सर्जन के लिए लोकतत्वों के ज्ञान और साहित्य में उनके समीचीन उपयोग को अनिवार्य मानते थे। संस्कृत के आचार्यों में राजशेखर का स्थान सर्वोपरि है। अपने ग्रंथ ज्ञान-सीमांसा (11वीं शताब्दी) में उन्होंने साहित्य के व्यापक आयामों पर चर्चा करते हुए लोक-तत्व के महत्व को रेखांकित किया है। उन्होंने यह भी बताया है कि रचना करते समय काव्य को किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। काव्य के विभिन्न स्रोतों का उल्लेख करते हुए उन्होंने श्रुति, स्मृति के साथ ही पुराण और लोक विधाओं को भी सम्मिलित किया है। अर्थात् वे किसी काव्य के लिए शास्त्रों के ज्ञान के अतिरिक्त लौकिक काव्यों का ज्ञान भी आवश्यक मानते थे।

स्थानीय संस्कृति या 'लोकल कलर' की साहित्य में उपादेयता को अस्वीकार करने वाले आचार्यों में मम्मट (12 वीं शताब्दी) प्रमुख हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ 'काव्य-प्रकाश' में परिनिष्ठित साहित्य को ही विवेचन के लिए प्रयुक्त माना है। इसीलिए मम्मट काव्य-सर्जन के लिए शक्ति, निपुणता और अभ्यास को सर्वाधिक महत्व देते हैं। लोक-साहित्य में हेह ग्रामीण शब्दों के प्रयोग, वाक्यों की आवृत्ति, अपशब्दों के प्रयोग, स्थानीय प्रतीकों, लोकगीतों, लोकोक्तियों आदि के प्रयोग को लोक साहित्य की विशेषता माना जाता है। परन्तु मम्मट ने इन विशेषताओं को काव्य-दो मानते हुए इन्हें श्रुति-कटुत्व, भ्रमत्व, अश्लीलत्व आदि शीर्षकों से संबोधित किया है। इस प्रकार मम्मट लोककाव्य को आदर्श-काव्य नहीं स्वीकार करते।

परन्तु विश्वनाथ रविराज (14वीं शताब्दी) से भारतीय साहित्य चिंतन में पुनः हमें लोक-तत्व के दर्शन होने लगते हैं। अपने ग्रंथ 'साहित्य दर्पण' में विश्वनाथ रविराज अपनी लोकोन्मुखी दृष्टि का परिचय देते हैं। उन्होंने लोक-नाट्यों पर विस्तृत चर्चा की है। मध्यकाल में मुस्लिम शासन होने के बावजूद लोक-समारोहों में लोग रुचि लेते थे। इन समारोहों में रामलीला और रासलीला जैसे लोक-नाटक उच्च वर्ग और निम्न वर्ग को समान रूप से आकर्षित करते थे। विश्वनाथ ने नायकों की चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट कहा कि लोक-नायकों की प्रेरणा से ही परिनिष्ठित कथा-साहित्य के नायकों की रूपरेखा निर्धारित की जाती है।

इन चर्चाओं का तात्पर्य यह है कि संस्कृत के आचार्यों ने लोक-परंपरा के तत्वों के महत्व को स्वीकार किया था।

5.3.2 साहित्य और लोकवार्ता

साहित्य में लोकवार्ताओं के सम्मिश्रण से एक नया आयाम उद्घाटित किया जाता है जो साहित्य को लोक के निकट ले आता है। इस प्रकार के लोकवार्ता संबंधी अध्ययनों ने पाश्चात्य और भारतीय दोनों भूभागों के विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। भारतीय समाज और भारत के जन-जीवन को 1865 में विदेशी विद्वान जेम्स कार ने देखा अपनी पुस्तक में उन्होंने हिन्दुओं की दिनचर्या, उनके स्वभाव, रीति-रिवाजों के साथ-साथ सामाजिक-प्रथाओं, धार्मिक त्योहारों, अंधविश्वासों का व्यापक परिचय दिया। डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय ने लोक-साहित्य की दृष्टि से मिस फ्रेयर की पुस्तक 'ओल्ड डेकन डेज' (1868), मेन स्टोक्स की पुस्तक 'इंडियन फेयरी टेल्स', चार्ल्स गोवर के लोकगीत संग्रह 'फोक सांग्स ऑफ सदर्न इंडिया' (1872) को अति महत्वपूर्ण माना है।

भारत में लोक-साहित्य की ओर भारतीयों का ध्यान बीसवीं शताब्दी में गया। इस समय तक राष्ट्रीय जागरण और राष्ट्रीय-चेतना की लहर भारत में फैल चुकी थी जिसने भारतीयों को अपनी जातीय संस्कृति और सांस्कृतिक गौरव के प्रति सचेत कर दिया था। दिनेश चन्द्र सेन का 'फोक लिटरेचर ऑफ बंगाल' (1920) इस दिशा में एक उल्लेखनीय कार्य है। इसमें उन्होंने लोक-कथा के चार प्रकार बताए हैं— रूपकथा, हास्यकथा, व्रतकथा और गीतकथा।

गुजरात के कालिदास पेघणी ने अनेक लोरियाँ और लोक-गीत संपादित किये जिनमें विवाहगीत, खेलगीत, रूपगीत सभी हैं। 1928 में 'चूंदड़ी' नाम से उन्होंने लगभग सौ विवाह गीतों का संकलन भी प्रकाशित करवाया।

श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'हमारा ग्राम साहित्य' (1940) में हिन्दी लोकगीतों, मुहावरों, कहावतों का संकलन किया। 'सोहर' नामक पुस्तक में पुत्र-जन्म के गीत हैं। यह सभी सामग्री बाद में 'ग्राम साहित्य' (1951) नाम से प्रकाशित हुआ श्री त्रिपाठी हिन्दी लोक-साहित्य के अग्रणी संकलनकर्ता थे।

भारतीय लोकगीतों को राष्ट्रीय धरताल पर स्थापित करने वाले और उनमें 'भारतीयता' के तत्व दृढ़ करने वाले विद्वानों में पंजाब के श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम प्रसिद्ध है। देवेन्द्रजी ने पूरे भारत का भ्रमण करके सभी प्रांतों का लोक-साहित्य एकत्रित किया। सन 1936 से 1952 के बीच उनके द्वारा एकत्रित सामग्री 10 पुस्तकों में प्रकाशित हुई। 'घरती गाती है', 'धीरे बहो गंगा', 'बेला फूले आधी रात' (हिन्दी में), 'दीवा बले सारी रात' (पंजाबी में), 'मैं हूँ खानाबदोश', 'गाए जा हिंदुस्तान (उर्दू में) और 'मीट माई पीपुल' (अंग्रेजी में है, जिसमें अन्य भारतीय भाषाओं का लोक साहित्य संकलित है)।

अपने अनुभवों को श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने इन शब्दों में व्यक्त किया जो हम सभी भारतीयों को गर्व और एकता की भावना से ओतप्रोत कर देता है— 'भारतीय लोक-गीत अनेक शैलियाँ प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक जनपद का अपना रंग है, अपना रूप। ये सभी रंग एक दूसरे के पूरक हैं। समस्त भारत एक है, भारतीय लोकगीत इस तथ्य का समर्थन करते हैं। भाषा और बोली के भेद सब ऊपरी हैं। इनमें भारतीय संस्कृति की एकता दिखाई देती है— अनेकता के घामों में गुँथी हुई एकता'।

1884 में 'फोकलोर ऑफ सदर्न इंडिया' में नरेश शास्त्री ने दक्षिण भारत की चारों भाषाओं की लोकवार्ताओं पर प्रकाश डाला। रविपति ग्रूरयादर 1866 में ही तेलुगु कहावतों का महत्वपूर्ण संग्रह प्रकाशित करवाया था। बाद में दक्षिण भारत की चारों भाषाओं में स्वतंत्र कार्य होते रहे। केरल में डॉ. एस.के. नाटर का 'मल्लुआरों के गीत' नामक संग्रह प्रसिद्ध है। आंध्र प्रदेश में मल्लिकार्जन ने लोक-कवियों की रचनाएँ संग्रहित किए हैं। डॉ. बी. रामराजू तेलुगु लोकवार्ता के प्रसिद्ध विद्वान माने जाते हैं। कर्नाटक में बी.आर.बेन्द्रे का लोक हृदयों पर लिखा गया कार्य सभी चर्चित रहा है। तमिलनाडु में डॉ. स्वामिनाथन आय्यर ने तमिल लोक-वार्ता पर काव्य लिखा है।

5.3.3 लोक साहित्य की परिभाषा

लोक साहित्य को परिभाषित करने से पहले हमें उन विचारों को भी देखना चाहिए जिनमें 'लोक' शब्द को परिभाषित और व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया गया है। पाश्चात्य देशों की तरह 'लोक' शब्द का अर्थ ग्रामीण जन समुदाय नहीं किया गया है। भारतीय चिंतन मानव समूहों में ग्रामीण और नगरीय जैसा कोई भेद नहीं करता। सभ्य समाज या संस्कृति में यह भेद संभव भी नहीं है अर्थात् लोक शब्द से वे सभी मानव समूह संकेतित होते हैं जो नगरीय या ग्रामीण जातियों में कहीं भी रहते हों। आधुनिक भारतीय विद्वान लोक संबंधी धारणा के दो खेमों में बंटे हुए हैं कुछ पाश्चात्य अध्येताओं की तरह ग्रामीण और नगरीय भेद को मानते हैं और कुछ इस भेद को स्वीकार नहीं करते।

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल श्रम के साथ संबद्धित प्रत्येक निवासी को लोक का अधिकारी मानते हैं। उनकी पुस्तक "पृथ्वी पुत्र" में उनके ये विचार उभर कर सामने आये हैं। प्रसिद्ध साहित्यकार, चिंतक और प्रकाण्ड पंडित डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक शब्द के अर्थ को इस प्रकार समझाने का प्रयत्न किया है, "लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरीय और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत रुचि संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं।" इसी बात को डॉ. सत्येन्द्र ने भिन्न शब्दावली में इस प्रकार अभिव्यक्त किया, "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शुन्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।"

इन दोनों महत्वपूर्ण विवेचनों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य विषय वस्तु से परे सहज जीवन पद्धति और मानवमूल्यों को आधार बना कर जब चलता है लोक संस्कृति प्रबल होती है और वह समाज को प्रगति की ओर अग्रसर होती है इसका तात्पर्य यह है कि संस्कृति का प्रवाह केवल नगरीय से ग्रामीण की ओर या उच्च वर्गों से निम्न वर्ग की ओर नहीं होता बल्कि समस्त समाज तब लोक समाज बनता है जब वह लोक जीवन और लोक-संस्कृति का समावेश अपनी जीवन-चर्या में सरलता से कर लेता है। यही कारण है कि लोक हमेशा परिनिष्ठित साहित्य के सर्जक को भी प्रभावित करता रहा है। यदि हम आधुनिक साहित्य को देखें तो उसमें लोक की अनुगूँज हमें बराबर सुनाई पड़ेगी क्योंकि साहित्यकार उसी लोक का सहृदय प्राणी है जिसका सर्वाधिक प्रभाव उसके जीवन पर पड़ा है। अतः किसी भी साहित्य में लोक-तत्वों को देख पाना कठिन नहीं है।

5.3.4 लोक साहित्य के प्रकार

लोक साहित्य के अंतर्गत सामान्य रूप से कुछ विषय समाहित किए जाते हैं। इन्हें ही हम लोक साहित्य के प्रकार भी कह सकते हैं। इनका एक परंपरागत ढाँचा समाज में मौखिक या लिखित परंपरा द्वारा जीवित रहता है और इनके माध्यम से ही यह समाज पहचाना जाता है और यही उस समाज की वास्तविक घड़कन होते हैं। लोक साहित्य को हम निम्नलिखित प्रकारों में बाँट सकते हैं (1) लोकगीत (2) लोक कथाएँ (3) लोक नाट्य (4) धर्म गाथा (5) लोक गाथाएँ। इसी के साथ-लोक का अपना विश्वास होता है और अपनी मान्यताएँ होती हैं जैसे मंत्र, तंत्र, शकुन अपशकुन, अंधविश्वास आदि। इसी प्रकार समाज के अपने लोकाचार और रीतिरिवाज होते हैं जैसे संस्कार, पर्व त्योहार पूजा व्रत, मेले इत्यादि। इसी के साथ लोक कला और लोकक्रीड़ाएँ भी समाज के सहज जीवन प्रवाह से जुड़ी रहती हैं जैसे लोकनृत्य लोक शिल्प, शिशुगीत, नटों के खेल, कटपुतली का नाच इत्यादि। ये सभी लोक के अंग भी हैं और परिनिष्ठित साहित्य में इनका व्यापक स्तर पर उपयोग भी किया जाता है इसीकी अचार्य रामचंद्र शुक्ल ने यह कहा था, "भारतीय हृदय का सामान्य रूप पहचानने के लिए पुराने परिचित लोक व्यापी साहित्य पर ध्यान देने की आवश्यकता है।" इसी कथन की पुष्टि के तीन उन्होंने यह भी प्रमाणित किया कि सूर सागर मौखिक रूप से चली आ रही किसी गीति काव्य परंपरा का विकास है आगे अवधी में प्रचलित कहानी को ले कर ही जायसी ने उस महान काव्य का रूप दे दिया। शुक्ल जी के कथन का तात्पर्य यही है कि लोक प्रचलित साहित्य रूप और लोक प्रचलित व्यवहार साहित्य सर्जक को निरंतर आकर्षित करते हैं।

पिछले कुछ वर्षों में हिंदी विद्वानों का ध्यान इस प्रकार के अध्ययन की ओर गया जहाँ लोक तत्व आकर्षित साहित्यिक कृतियों में से भाँकते हैं, पृथ्वीराज रासो की कथानक रुढ़ियों पर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने

हमारा ध्यान केन्द्रित किया। द्विवेदी जी ने कहा भी कि "भक्ति साहित्य की प्रवृत्तियाँ जिन सामाजिक अवस्थाओं में प्रारंभ हुईं उन्हें जानने का महत्वपूर्ण साधन लोकगीत, लोक-कथाएँ, लोकोत्तियों ही हैं। इनके साथ विभिन्न जातियों और संप्रदायों की पूजा साधना अनुष्ठानों, अचार-विचारों का ज्ञान आवश्यक है।"

हिन्दी का लोक साहित्य : सामान्यतः यह माना जाता है कि हिन्दी साहित्य का तात्पर्य हिन्दी भाषा का साहित्य है। हिन्दी भाषी प्रदेश की बोलियों में लिखा गया साहित्य लोक साहित्य भी है। बोलियों में जो कुछ लिखा जाए वह आवश्यक नहीं कि वह सभी लोक साहित्य हो। लेकिन इस बात में कोई संदेह नहीं कि लोक साहित्य की रचना जनपदीय भाषाओं, लोक भाषाओं और आंचलिक बोलियों में होती है, इस प्रकार हिन्दी साहित्य में दो प्रकार का साहित्य है एक तो मानक भाषा हिन्दी को माध्यम बनाने वाला साहित्य है। जिसे हम वास्तविक रूप में परिनिष्ठित हिन्दी साहित्य कह सकते हैं दूसरा वह है जिसमें लोक बोली का सम्मिश्रण होता है लेकिन इन दोनों साहित्यों के भीतर लोक तत्व निश्चित रूप से समाहित रहता है। इन दोनों के अतिरिक्त हिन्दी की बोलियों के सामूहिक रूप से रचित जनता का साहित्य है वही वास्तविक लोक साहित्य है, लोक साहित्य का ऐतिहासिक विकास क्रम भी हम हिन्दी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में साफ-साफ देख सकते हैं।

आदिकाल की हिन्दी रचनाओं में वीर गाथाएँ और प्रेममूलक साहित्य प्रमुख हैं, यह तो हमें मालूम ही है। इन्हीं में पृथ्वीराज रासो और 'आल्हाखंड' जैसी रचनाएँ भी हैं जो अपने लिखित रूप में आने के पहले मौखिक लौकिक परंपरा का हिस्सा थीं और उनकी मौखिक परंपरा आज भी जीवित है। 'रासो' को तो तत्कालीन रीति-रिवाजों, त्योहार-उत्सवों और प्रथा-परंपराओं का कोश ही माना जाता है जिसमें तत्कालीन लोकवार्ताओं का अपूर्व भंडार है।

डॉ. त्रिलोचन पांडेय ने यह बात स्पष्ट रूप से कही भी है कि 'इस प्रकार की गाथाएँ मूलतः किसी व्यक्ति विशेष द्वारा ही रची जाती हैं। लेकिन व्यक्ति विशेष की रचना होते हुए भी अनेक व्यक्तियों के मुँह से गाए जाते रहने के कारण इन गाथाओं में परिवर्तन-परिवर्धन होता रहता है। और ये गाथाएँ जन सामान्य की संपत्ति बनी रहती हैं।' इस बात के प्रमाण सावरूप हम 'आल्हाखंड' को देख सकते हैं जो आदिकाल से लेकर आज तक लोककंठ में व्याप्त है और पूरे उत्तर-भारत में उसके कई रूपांतर गाए जाते हैं। इसी तरह प्रारंभिक हिन्दी में 'ढोला मारूँ रा दुहा' तथा 'बौसलदेव रासो' भी लोक-घातल पर निर्मित रचनाएँ हैं जो परंपरा से वर्षों गई जाती रही और फिर किसी प्रतिभा संपन्न कवि ने उन्हें परिष्कृत रूप दे दिया।

5.3.5 हिन्दी साहित्य और लोक साहित्य

हिन्दी साहित्य के उत्थान युग में जो साहित्य तीन-चार सौ वर्षों तक रचा गया वह पूरी तरह लोक साहित्य तो नहीं है लेकिन उसमें लोक साहित्य के सभी लक्षण उपस्थित हैं। इसके दो कारण विद्वानों ने दिए हैं— (1) इस साहित्य के रचयिता अधिकांशतः निम्न और निम्न मध्य वर्ग के थे और (2) इस साहित्य की भाषा ठेठ लोक-भाषा है। कुम्हारों, शिल्पकारों, चर्मकारों, जुलाहों द्वारा रचे जाने के कारण और भाषा के बोलचाल के रूप, मुहावरों और शब्दावली को उसी रूप में अपनाने के कारण यह साहित्य लोक साहित्य के लक्षणों से बहुत दूर नहीं है।

आदिकाल की इस लोकवादी प्रवृत्ति का विकास मध्यकाल में भी हमें दिखाई देता है। मध्यकाल के अधिकतर हिन्दी कवि चाहे वे जैन हों, हिन्दू हों या मुसलमान सूफी कवि, लोक-समाज के ही कवि थे। इसीलिए इन कवियों ने अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए माध्यम के रूप में लोक-भाषाओं को ही चुना। संस्कृत जैसी शास्त्र की भाषा को नहीं। इस बात के प्रमाण के लिए हम कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, रहीम, मीरा, रसवान की रचनाओं को देख सकते हैं।

मध्यकालीन हिन्दी काव्य में लोक परंपरा की प्रधानता रही है, इसमें कोई संदेह नहीं। यहाँ तक कि मध्यकाल में तुलसी और नंददास जैसे पंडित कवियों ने शास्त्रीय तत्वों को तो ग्रहण किया है परन्तु ये तत्व शास्त्रीय ग्रंथों से नहीं किए गए हैं। ये तत्व लोक में पहले से ही प्रचलित थे। इन कवियों ने इन्हें जन-सामान्य तक पहुँचाया मात्र।

लोकगीतों, लोकाख्यानों, कहावतों, पहेलियों की सामग्री इन कवियों ने ग्रहण की। उदाहरण के लिए कबीर ने अनेक लोक-प्रचलित गीतों को स्वीकार किया। प्रसिद्ध आलोचक डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने 'कबीर ग्रंथावली' के उदाहरणों द्वारा इस कथन को सिद्ध करते हुए कहा भी है कि 'इसके कितने ही दोहे राजस्थानी लौकिक काव्य 'ढोला मारू स दूहा' में ज्यों के त्यों प्राप्त होते हैं, जो कबीर के दोहों के लौकिक स्रोतों को प्रमाणित करते हैं।' 'सूरसागर' ब्रज-प्रदेश के लोक-जीवन की विविध झलकियों से भरा पड़ा है। हिन्दू पर्वों, त्योहारों, प्रथाओं का विस्तृत वर्णन सूर ने किया है। गोवर्धन पर्वत की पूजा, फाग के दृश्य, रासलीला, मंगल-गीत, वसंतोत्सव आदि का व्यापक विवरण इसमें बिखर पड़ा है। तुलसी ने 'रामचरित मानस' में 'सोहर' (विवाह, पुत्र जन्म के अवसर पर गाए जाने वाले लोक-गीत), विवाह-गीत, गालियों (विवाह के अवसर पर वधू पक्ष की ओर से वर पक्ष को दी जाने वाली गालियाँ) आदि का सर्जनात्मक उपयोग किया है।

इसका तात्पर्य यह है कि लोक-साहित्य का महत्व आदिकाल से ही कवि समझने लगे थे। आधुनिक युग में लोक साहित्य के महत्व की यह धारणा और भी पुष्ट और ग्राह्य बनी। 'भारतेन्दु युग' नामक अपनी पुस्तक में डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के लोक-साहित्य प्रेम को उन्हीं के शब्दों में उद्धरित किया है "जहाँ कहीं ऐसे गीत (लोकगीत) सुनें, उनका अभिनन्दन करें। कजली, कुमरी, कहरवा, चैती, होली, लावनी, बिरहा, गजल आदि ग्रामगीत सब देश की भाषाओं में हों।" भारतेन्दु ने स्वयं लगभग चालीस कजलियों की रचना की। वे लोक-साहित्य की रचना को समाज और संस्कृति के उत्थान में उपयोगी मानते थे।

भारतेन्दु की लोक साहित्य संबंधी इस धारणा ने आधुनिक हिन्दी कविता के रचनाकारों को भी प्रभावित किया। 'निराला' ने पूर्वी उत्तर-प्रदेश के लोकगीत 'कजली' की धुन पर 'काले काले बादल आए न आए, वीर जवाहर लाल' कविता लिखी। यह कविता उनके कविता-संग्रह 'बेला' में संकलित है। हिन्दी कविता में शम्भूनाथ सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, रमानाथ अवस्थी, ठाकुर प्रसाद सिंह, नागार्जुन आदि के कई गीत लोकधुनों पर आधारित हैं। नई-कविता के प्रतिष्ठित समीक्षक डॉ. शिवकुमार मिश्र ने नई हिन्दी कविता में लोक-साहित्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा भी है कि "इन कवियों ने न केवल ग्रामों की धरती, प्रकृति या निर्वासियों को ही अपने गीतों में उतारा बल्कि लोक और ग्रामगीतों की लयों, धुनों तथा भाषा आदि को भी पूरे उत्साह से ग्रहण कर अपने गीतों को नया कलेवर प्रदान किया। इससे उनके गीतों का सौंदर्य भी बढ़ा और वे जनता में लोकप्रिय भी हुए।"

आधुनिक युग के हिन्दी कथा-साहित्य और गद्य-साहित्य में भी लोक-साहित्य की झलक मिलती है। उपन्यासों में इस लोक-जीवन संबंधी विशिष्टता की प्रमुखता के आधार पर उपन्यासों की एक अलग श्रेणी ही 'आंचलिक' के नाम से निर्धारित कर दी गई है। बृन्दावनलाल वर्मा ('गढ़कुंआर', 'कचनार', 'मृगनयनी' आदि उपन्यास) ने स्थानीय जीवन और लोक-संस्कृति को यथोचित स्थान दिया है। फणीश्वर नाथ रेणु कां, 'मैला आंचल', 'परती-परीकथा' उपन्यास एक प्रकार से लोक-साहित्य ही हैं। अन्य उपन्यासकारों में शिवप्रसाद सिंह, धैरव प्रसाद गुप्त, शैलेश भाटियानी आदि प्रमुख हैं। इन तीनों उपन्यासकारों के उपन्यासों में लोक-साहित्य की दृष्टि से क्रमशः 'गली आगे मुड़ती है', गंगा मैया, सती मैया का चौरा आदि प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार हम लोक-साहित्य और हिन्दी-लोक साहित्य के संबंध में निम्न लिखित निष्कर्ष दे सकते हैं:

- (1) लोक-साहित्य के विकास में लोकवार्ताओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है।
- (2) साहित्य में लोक-तत्व के महत्व को भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही आचार्य स्वीकार करते हैं।
- (3) भारत की हर भाषा के लोक-साहित्य का सकलन-विवेचन हुआ है।
- (4) लोक साहित्य के प्रकारों के अंतर्गत लोककथा, लोकगीत, लोक-नाट्य आदि आ जाते हैं।
- (5) रीति-रिवाज, खेल कूद, व्रत-त्योहार, उत्सव-मेले, विश्वास-मान्यताएँ लोक साहित्य के सहायक तत्व हैं।
- (6) लोक भाषा, लोक-साहित्य को प्रामाणिक और वास्तविक स्वरूप प्रदान करती है।
- (7) हिन्दी साहित्य के आदिकाल, मध्यकाल, आधुनिक काल की अनेक रचनाओं का आधार हिन्दी और उसकी बोलियों का लोक साहित्य बना है।

- (8) हिन्दी लोक साहित्य के अंतर्गत हम लोकगीत, लोक कथा, लोक गाथा, धर्म गाथा, लोक नाट्य आदि को रख सकते हैं।
- (9) इन विविध प्रकार के लोक साहित्य में साहर, चुती, कजली, विवाहगीत (लोकगीत), नौटंकी, रासलीला, स्वांग (लोक नाट्य), रासों, प्रेम कथाएँ (लोक गाथा), शिव व सदस्य, सीता-विवाह, गोपी-वियोग (धर्म गाथा) और पशु-कथा, पक्षी कथा, राजकुमारी-राक्षस कथा (लोक कथा) आदि हिन्दी में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।
- (10) लोक साहित्य किसी समाज और संस्कृति का वास्तविक और सहज प्रतिबिम्ब होते हैं।

5.5 पारिभाषिक शब्दावली

परिनिष्ठित साहित्य	: Standard or established literature
लोक वार्ता	: Folklore
लोक साहित्य	: Folk literature
लोक संस्कृति	: Folk culture
राष्ट्रीय जागरण	: Reinsensac
आभिजात्य संस्कार	: Elite
शास्त्रीयता	: Theoretical y
बोलियाँ	: Dialects

5.6 अभ्यास

5.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. भारतीय आचार्यों की लोक-साहित्य संबंधी धारणाओं का तार्किक विवेचन कीजिए।
2. भारतीय भाषाओं के लोक-साहित्यों पर जो अध्ययन हुए हैं उन पर प्रकाश डालिए।
3. मध्य काल के हिन्दी साहित्य में लोकतत्वों का आकलन कीजिए।
4. लोक साहित्य की प्रमुख विशेषताएं बताइए।

5.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)

1. भारतीय लोक-वार्ता परंपरा का परिचय दीजिए।
2. 'लोक' शब्द का अर्थ समझाइए।
3. आदिकाल के हिन्दी साहित्य में निहित लोकतत्वों का उल्लेख कीजिए।
4. आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य में निहित लोकतत्वों का उल्लेख कीजिए।
5. हिन्दी के कथा-साहित्य में लोक-साहित्य का आकलन कीजिए।

5.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

5.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न : साहित्य में लोकवार्ताओं की उपयोगिता सिद्ध कीजिए।

उत्तर : मनुष्य के विकास में उसके विश्वासों, आचारों-विचारों, मूल्यों और कलात्मक अभिव्यक्तियों को समझने में लोकवार्ता हमेशा सहायक होती है। क्योंकि साहित्य भी मनुष्य की एक कलात्मक अभिव्यक्ति है। साहित्य

हमेशा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में ही पनपता और विकसित होता है। यही कारण है कि साहित्य के मूल स्रोतों एवं उसके विकास पर अध्ययन करने वाले विद्वान यह मानते हैं कि साहित्य के विविध रूपों का विकास लोकवार्ता के गोद में ही होता है। प्रसिद्ध लोक साहित्य अध्येता एन.के.चिउविक का यह मानना है कि, लौकिक स्रोतों के विभिन्न काव्य-रूप धीरे-धीरे पल्लवित हो कर कालांतर में परिनिष्ठित साहित्य के रूप में विशिष्ट और स्वतंत्र रूप धारण कर लेते हैं।

5.8 पठनीय पुस्तकें

- हिन्दी काव्य शास्त्र में कविता का स्वरूप-विकास, बंसल, 1976, दिल्ली: शोध प्रबंध प्रकाशन
 मानव मूल्य और साहित्य : डॉ. धर्मवीर भारती, 1960, वारणासी:
 लोक साहित्य : त्रिलोचन पांडेय, 1978, इलाहाबाद: लोकभनती
 लोक साहित्य की भूमिका : कृष्णदेव उपाध्याय
 साहित्य और संस्कृति : मोहन राकेश, दिल्ली: राधाकृष्ण
 Verbal icon, W.K. Wimsalt, USA, 1957.
 Literary Style: A Symposium. (Ed.) S. Chatman, 1971. London: OUP

सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध श्रमिक, मजदूर, किसानों का विद्रोह व उत्पादन सम्पत्ति पर उत्पादक व सर्वहारा के अधिकार के लिए लड़ाई थी। डॉ. नामवरसिंह ने इस सारे संघर्ष के प्रति अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि पहली बार सामान्य लोगों के जीवन में राजनीति का और राजनीति में सामान्य व्यक्ति का प्रवेश हुआ है। यह राष्ट्रव्यापी साहित्यिक पुनर्जागरण काल था। इसका प्रभाव प्रगतिवादी काव्य-मूलों पर पड़ा है।

प्रगतिवादी विचारधारा का साहित्य पर जिस तरह प्रभाव पड़ा है वह समाज और राष्ट्र प्रेरित था। लेकिन कुछ आलोचकों ने इसे राष्ट्रीयता का विरोधी माना है। लेकिन प्रगतिवाद ने पूँजीवाद, सामान्य जनता की उन्नति के मार्ग में आनेवाले अवरोधों के खिलाफ संघर्ष किया है। इसने अर्थ-प्रेरित वर्ग-संघर्ष को भी नवमुक्ति में बाधक मानकर सामाजिक जागरण की नवीन भूमिका प्रस्तुत की है। बौद्धिक जड़ता को दूर करने का प्रयत्न किया है। यथार्थ जीवन के निकट, प्रगतिवादी काव्य, मानव को खींच लाया है। सर्वसाधारण जनता की मनोभूमि को स्वीकारते हुए उसके द्वन्द्व को प्रस्तुत किया है। नागार्जुन के अनुसार "सबसे महत्वपूर्ण और अच्छी व जानदार चीज़ें आज मजदूर वर्ग द्वारा लिखी जा रही हैं। उनकी विपन्नता, उनपर अत्याचार और परिश्रम का शोषण, उनके अनुभव के अनुकूल व्यक्त हुआ है।

21.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. प्रगतिवाद - डॉ. शिवकुमार मिश्र
2. प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य मूल्य - अजय तिवारी
3. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ - डॉ. नामवरसिंह
4. "तार सप्तक" - संपादक, अज्ञेय
5. साहित्यिक निबन्ध - डॉ. चंद्रभान रावत
6. साहित्यिक निबन्ध - शिवबालकराय
7. प्रगतिवाद, एक समीक्षा - डॉ. धर्मवीर भारती
8. आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ - नरेन्द्र मोहन
9. सम सामयिक हिन्दी साहित्य - शम्भूनाथ सिङ

इकाई-6: साहित्य का प्रयोजन

- 6.0 विषय प्रवेश
- 6.1 उद्देश्य
- 6.2 पाठ परिचय
- 6.3 मूलपाठ
- 6.4 सारांश
- 6.5 शब्दार्थ
- 6.6 अध्यास
 - 6.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 6.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 6.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 6.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 6.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.1 उद्देश्य

इस पाठ में साहित्य के प्रयोजन पर प्रकाश डाला गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- साहित्य के प्रयोजन का विश्लेषण कर सकेंगे।
- साहित्य के प्रयोजन की भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा दृष्टियों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- प्रयोजन के रूप में 'साहित्य की सोद्देश्यता' और 'सर्जन प्रक्रिया' पर विचार कर सकेंगे।
- साहित्य में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के साथ उसके सामाजिक प्रयोजनों को स्पष्ट कर सकेंगे।

6.2 पाठ का परिचय

साहित्य लेखन के पीछे लेखक का कोई न कोई उद्देश्य होता है, उद्देश्य या प्रयोजन से रहित कोई भी कर्म नहीं होता। साहित्य सृजन को 'कवि-कर्म' माना गया है, अतः साहित्य-शास्त्रों में उसकी व्यापक चर्चा की गई है। कामन, भामह, मम्मट आदि ने इस प्रयोजन पर विस्तार से चर्चा की है। कुछ प्रयोजन कवि को, कुछ पाठक को तथा कुछ समाज को दृष्टि में रख कर दिये गए हैं। पाश्चात्य काव्य चिंतन में भी साहित्य के प्रयोजन को देखा गया है, इनमें भी समाज या पाठक की दृष्टि से ही काव्य के प्रयोजनों की चर्चा की गई है। प्रस्तुत पाठ में प्रत्येक चिंतक के प्रयोजन-संबंधी विचारों का विवेचन किया गया है।

6.3 मूल पाठ

प्रत्येक शास्त्र तथा काव्य का निश्चित प्रयोजन होता है, बिना प्रयोजन के इनकी कोई सार्थकता नहीं मानी जाती। भारतीय आचार्यों ने जो काव्य का प्रयोजन काव्य को मानते हैं वे भी प्रयोजन के अस्तित्व का निषेध नहीं करते। भारतीय काव्यशास्त्र में यह माना गया है कि जो सत्काव्य होता है उसके सेवन से चारों पुरुषार्थों— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है, कलाओं में निपुणता आती है और कीर्ति तथा प्रीति की उपलब्धि होती है। आगे चलकर काव्य प्रयोजन को मम्मट ने एक निश्चित शब्दावली देकर स्पष्ट किया:

‘काव्य यशसैर्धकृते व्यावहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परनिवृत्तये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे ॥

इस प्रकार मम्मट ने काव्य के छः प्रयोजन निर्धारित किए जिनमें यश, अर्थ, व्यावहार ज्ञान, अशिव की क्षति, तात्कालिक आनंद और कान्ता-सम्मित उपदेश आ जाते हैं।

सामान्य रूप से मनुष्य जो भी कर्म करता है, उसका कोई न कोई प्रयोजन या उद्देश्य होता है। निष्काम कर्म का भी कोई न कोई प्रयोजन होता है। साहित्य-रचना भी या शास्त्र-रचना भी कवि या आचार्य कर्म है, अतः इसका भी निश्चित प्रयोजन होता है। बिना प्रयोजन के इनकी सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती।

काव्य या साहित्य को कवि-कर्म मानते हुए उसके प्रयोजन के अस्तित्व को भी स्वीकार करना होगा। यह निश्चित है कि काव्य का प्रयोजन स्थूल या भौतिक न होकर, सूक्ष्म और काव्य से अभिन्न होता है। काव्य का प्रयोजन काव्य माननेवाले (कला कला के लिए) भी साहित्य में प्रयोजन के अस्तित्व की उपेक्षा नहीं करते।

संस्कृत वाङ्मय में प्रत्येक शास्त्र के चार अनुबंध माने गए हैं- जिन्हें ‘अनुबंध चतुष्टय’ कहा गया है:

1. अधिकारी, 2. विषय, 3. सम्बन्ध और 4. प्रयोजन।

अधिकारी से तात्पर्य कवि से है। वामन ने इनका निरूपण विवेकी और अविवेकी के रूप में किया। अविवेकी व्यक्ति में विवेचन बुद्धि नहीं होती। इसलिए वह कवि नहीं हो सकता और न तो वह शास्त्र को ही समझ सकता है। इसलिए काव्य का अधिकारी व्युत्पन्न मतिवाला और विवेकशील व्यक्ति ही है।

विषय का संबंध वामन ने गद्य-पद्यमय काव्य से जोड़ा और काव्य के दो भेद-अनिबद्ध और निबद्ध-हमारे सामने रखे। अनिबद्ध को मुक्तक का पर्याय कह सकते हैं। निबद्ध के लिए भारतीय काव्य शास्त्र में ‘प्रबंध’ शब्द प्रचलित है।

संबन्ध: वामन (740 ई.) ने भी काव्य के संबंध में ‘सत् काव्य’ की चर्चा की है। उनका यह कहना है कि सत्काव्य दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के प्रयोजन सिद्ध करता है। इसका दृष्ट प्रयोजन है आनंद और अदृष्ट प्रयोजन है कीर्ति। अर्थात् सुन्दर काव्य पाठक को आनंद-प्रदान करता है और कवि को कीर्ति। इन्हें हम सामान्य भाषा में मुख्य और गौण प्रयोजन कह सकते हैं।

प्रयोजन: वामन से पहले और उनके बाद भी अनेक आचार्यों ने काव्य के प्रयोजन के संबंध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। भरत मुनि ने धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि और उपदेश को काव्य का प्रयोजन माना और उनके बाद थोड़े से परिवर्तन के साथ भामह ने कीर्ति, प्रीति, निपुणता को प्रयोजन मानते हुए सत् काव्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का माध्यम भी माना। भामह की प्रीति ही आनंद है।

काव्य के प्रयोजनों में आनंद को, भारतीय-साहित्य-चिन्तन में सबसे महत्वपूर्ण माना गया है और व्यापक व्याख्या द्वारा कुन्तक ने इसे प्रबल ढंग से प्रतिष्ठित किया। आगे चलकर विभिन्न आचार्यों ने प्रायः इन्हीं प्रयोजनों की चर्चा की है।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों ने, भरत से लेकर मम्मट तक सभी ने, काव्य-प्रयोजन का विवेचन कवि और सहृदय की दृष्टि से ही किया है।

इन प्रयोजनों में काव्य सृजन के द्वारा कवि यश प्राप्त करे, उसके द्वारा पाठक प्रीति या आनंद का अनुभव करे, कवि काव्य-सृजन द्वारा अर्थोपार्जन कर सके, समाज में जो कुछ भी अशिव है, उसे साहित्य समाप्त कर सके या उसकी सीमाओं से पाठक को परिचित करा सके, पाठक को जीवन का, समाज का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो सके, साहित्य के द्वारा अच्छे उपदेश पाठक तक पहुँच सके आदि आते हैं।

वामन ने एक प्रयोजन के अन्तर्गत केवल आनंद और कीर्ति को ही स्थान दिया है। उन्होंने वामन की तरह काव्य प्रयोजन को धर्म, मोक्ष जैसे पुरुषार्थों से नहीं जोड़ा और न ही उन्होंने मम्मट की तरह इसके द्वारा अर्थोपार्जन को ही काव्य का प्रयोजन माना है। यदि लोक-व्यवहार, ज्ञान, उपदेश आदि की बात की जाए तो इन सबका समाहार लोक मंगल में हो जाता है।

वामन ने अन्य जिन प्रयोजनों की चर्चा नहीं की है उनका भी अपना महत्व है। जैसे मोक्ष को रूढ़ अर्थ में तो काव्य का प्रयोजन नहीं माना जा सकता लेकिन यदि उसका प्रयोग मुक्तावस्था किया जाए (जैसे कि शुक्ल जी ने माना है कि काव्य का उच्चतम लक्ष्य हृदय की मुक्त-अवस्था है) तब मोक्ष को भी एक महत्वपूर्ण प्रयोजन स्वीकार किया जा सकता है। हृदय की मुक्तावस्था उसे कहा गया है जहाँ मनुष्य अपने तुच्छ और क्षुद्र राग-द्वेष और स्व-पर भेद की भावनाओं से ऊपर उठकर, काव्य की रसभूमि में पहुँच जाता है। काव्य का इससे उच्च स्तरीय लक्ष्य या प्रयोजन आधुनिक काव्य-शास्त्र और मनो-विज्ञान भी नहीं दे सके हैं।

दूसरी सीमा जो वामन की है वह यह कि उन्होंने आनंद और कीर्ति में से कीर्ति को ही अधिक प्रशस्ति दी है। कवि में कीर्ति की इच्छा होती है। यह इच्छा प्रत्येक व्यक्ति में होती है लेकिन काव्य का आधारभूत प्रयोजन यह नहीं है। अर्थोपार्जन की भांति ही इसे भी निम्न कोटि का माना जा सकता है। काव्य का मूल प्रयोजन आनंद है जिसे वामन ने स्वीकार तो किया है लेकिन उसे उचित गौरव और महत्व नहीं दिया।

आधुनिक काव्य शास्त्र में काव्य के मुख्यतः दो प्रयोजन माने गए हैं जिनमें भारतीय काव्यशास्त्र में दिए गए सभी प्रयोजनों का समाहार हो जाता है। ये दो प्रयोजन व्यक्तिगत और सामाजिक आधार पर वर्गीकृत किए गए हैं। व्यक्तिगत के अन्तर्गत आनंद और सामाजिक के अन्तर्गत लोकमंगल को स्थान दिया गया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में विवेचित प्रीति, बुद्धिवर्द्धन आदि व्यक्तिगत के अन्तर्गत तथा लोक व्यवहार, लोकोपदेश, हित आदि सामाजिक के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

आधुनिक काव्य-शास्त्र में कीर्ति और अर्थ की गणना व्यक्तिगत सिद्धियों के अन्तर्गत ही हो सकती है और वे भी काव्य की प्रासंगिक सिद्धियाँ मात्र हैं, उसका लक्ष्य नहीं है। यह निश्चित है कि भारतीय काव्य शास्त्र-परम्परा में काव्य के सामाजिक पक्ष को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया गया है और वामन ने तो इसकी पूरी तरह उपेक्षा की है।

पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी प्लेटो से लेकर इलियट तक ने काव्य के प्रयोजन पर विचार किया है और भारतीय चिंतन की दृष्टि से प्रयोजन का जो रूप अभी हमने सामने रखा है, वह इन विचारों में भी हमें दिखाई देता है।

प्लेटो के अनुसार महान साहित्य या उत्कृष्ट साहित्य वही है, जो बुद्धि के उन्नयन और आत्मा के उत्थरण में सक्षम हो। अर्थात् प्लेटो साहित्य का प्रयोजन यह मानते हैं कि उसके द्वारा मनुष्य या समाज का नैतिक पक्ष समृद्ध और शक्तिशाली हो। प्रयोजन के विषय में अपने इस निर्णय के कारण ही प्लेटो को उपयोगितावादी तथा नैतिकतावादी कहा जाता है। क्योंकि वे यह मानते हैं कि वही साहित्य सुन्दर है जो सत्य और शिव है। अर्थात् जो साहित्य समाज के लिए उपयोगी और नैतिक नहीं है, वह ग्राह्य नहीं होगा। अर्थात् भारतीय काव्य शास्त्र में आनंद और उपदेश के दो प्रयोजनों में से प्लेटो ने उपदेश को प्राथमिकता दी है। उनका यह भी मानना है कि उपदेश के बाद यदि

आनंद की प्राप्ति होती है तो ठीक है लेकिन आनंद की प्राप्ति उपदेश के बाद ही होनी चाहिए। उसके पहले भी नहीं और उसके अभाव में भी नहीं। इस प्रकार प्लेटो कला और साहित्य का प्रयोजन एवं मूल्य उसकी सामाजिकता मानते हैं।

अरस्तू ने प्लेटो के विपरीत आनंद को काव्य का प्रयोजन सिद्ध किया। उसे उस नैतिक घेरे से बाहर निकाला जिसमें प्लेटो उसे बांध चुके थे। प्लेटो ने वास्तव में काव्य को समाज के नैतिक-शैक्षिक-सुधार का साधन मान लिया था। अरस्तू ने काव्य की सामाजिकता का विरोध नहीं किया लेकिन उन्होंने काव्य की सामाजिकता को आनंद प्रदान की क्षमता में देखा। इसीलिए उन्होंने काव्य के आनंदात्मक मूल्यों को स्थापित किया और प्लेटो की शंका का निवारण करते हुए यह प्रतिपादित किया कि काव्य से उत्पन्न आनंद मन, आत्मा, व्यक्ति और समाज के लिए अहितकार नहीं होता।

आगे के दो विचारकों में होरेस ने आनंद को उपदेश से मिलाकर काव्य के दोनों प्रयोजनों को भी माना। यह बात स्पष्ट है कि प्लेटो, अरस्तू और होरेस तीनों ही आनंद को काव्य का मूलभूत प्रयोजन मानने में हिचकते रहे। लॉजाइनस ने पहली बार आह्लाद या आनंद को काव्य का प्रयोजन माना। इतना ही नहीं उन्होंने पूरे वाग्विलास का परम प्रयोजन आनंद को घोषित किया और उपदेश आदि को उसके सामने तुच्छ बताया।

विलियम वर्ड्सवर्थ ने काव्य की सोद्देश्यता को ही उसका प्रयोजन माना। वे यह मानते हैं कि काव्य मनुष्य के नैतिक, स्वास्थ्य तथा सुख का साधन है। उनकी यह बात भी महत्वपूर्ण है कि सामाजिक व्यक्ति को संसार की वास्तविकता दिखाना और उसमें सामयिक भाव एवं बोध उत्पन्न करना भी साहित्य का उद्देश्य है जिससे कि पाठक की बुद्धि शुद्ध और परिष्कृत हो सके। अर्थात् मनुष्य जिन कृत्रिम संस्कारों, सामाजिक रूढ़ियों और संकीर्णताओं के कारण घृणा और द्वेष से ग्रस्त है काव्य का उद्देश्य है कि वह मनुष्य में मानवीय संवेदन का विस्तार करे और इस प्रकार मनुष्य के आनंद, गौरव एवं कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे।

कॉलरिज ने आलोचना का केन्द्र बिन्दु ही सर्जन प्रक्रिया को माना। उनका यह कहना है कि काव्य का प्रेरणास्त्रोत भाव होता है। भाव का अर्थ है अनुभूति और अनुभूति के अनुसार ही अभिव्यक्ति की पद्धति भी विशिष्ट होती है। इसीलिए उन्होंने काव्य के प्रयोजन में भी काव्य की प्रक्रिया और रचनाकार की प्रकृति पर बल दिया अर्थात् उन्होंने यह माना कि कवि की इच्छा, रुचि और शक्ति और रचना देश, काल, परिस्थिति के प्रयोजन को स्पष्ट करते हैं। इसीलिए एक ही विधा में लिखी गई रचनाएँ भी भिन्न होती हैं और उनका अपना व्यक्तित्व भी होता है। जैसे साकेत और कामावनी दोनों एक ही युग के महाकाव्य हैं लेकिन महाकाव्य होने के अतिरिक्त इसमें और कोई समानता नहीं है। इसी संदर्भ में कॉलरिज ने कल्पना (imagination) और रम्य कल्पना (Fancy) के भेद को भी स्पष्ट किया और साहित्य के प्रयोजन को सृजन प्रक्रिया से जोड़ कर देखा।

अर्नाल्ड ने काव्य को जीवन की आलोचना माना और इस जीवन को ही काव्य के कवि की मार्मिक दृष्टि की सहायता से विवेचित किया है। जीवन की आलोचना में अर्नाल्ड विचारों के सुन्दर विनियोग को महत्वपूर्ण मानते हैं और यह भी कि काव्य को प्लेटो की भाँति जीवन का चित्र नहीं बन जाना चाहिए अर्थात् काव्य में जिस विचार को निरूपित किया गया है, उसका जीवन के साथ सामंजस्य होना चाहिए और काव्य को जीवन का आदर्शकृत पुनर्निर्माण करना चाहिए।

अर्नाल्ड ने पहली बार काव्य में जीवन के चित्रण को पूरी तरह स्थापित किया। उनके पहले की विचारधाराएँ इसकी उपेक्षा कर जाती थीं। पहले की विचारधाराओं में एक विचारधारा कला कला के लिए के सिद्धान्त को स्वीकार करती थी तो शुद्ध कविता पर बल देती थी। इसका काव्यान्दोलन कवि की आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति को ही सर्वाधिक महत्व देता था और रोमांटिक आन्दोलन कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों को ही प्रधानता देता था। अर्नाल्ड ने यह स्पष्ट घोषणा की कि जीवन-निरपेक्ष

काव्य काव्य ही नहीं है। काव्य में जब तक जीवन की व्याख्या नहीं होती, जीवन की समस्याओं का निरूपण नहीं होता तब तक साहित्य का कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। कलावादियों में क्रोचे का नाम महत्वपूर्ण है। क्रोचे के अनुसार कला का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता, वह अपना प्रयोजन आप ही है। इसलिए क्रोचे यह मानते हैं कि काव्य के जितने भी प्रयोजन प्राचीन आचार्यों ने निर्मित किए हैं, वे सब कला को विभाजित कर देते हैं। उनका यह भी कहना है कि कला को इस प्रकार के वर्गीकरणों में विभाजित करनेवाले सभी ग्रन्थों को यदि जला भी दिया जाए तो कोई हानि नहीं होगी।

कलावाद और स्वच्छन्ततावाद का यह आन्दोलन जो काव्य में किसी प्रयोजन को स्थान नहीं देता, 19वीं शताब्दी में फ्रांस और इंग्लैण्ड में विकसित हुआ। अतः इस दृष्टि के प्रवर्तक न तो साहित्य में उपदेश को और न ही प्रयोजन को महत्व देते हैं और न ही आलोचना को इनका अनुवर्ती बनाना चाहते हैं। इनके अनुसार कला केवल कला होती है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। वह न तो उपदेश देती है न सूचना और न ही वह प्रयोजनमूलक होती है।

'कला-कला के लिए' की प्रतिक्रिया-स्वरूप ही प्रयोजन की दृष्टि से समाज-शास्त्रीय-पक्ष को साहित्य के प्रयोजन में महत्व देते हुए, उसे विकसित किया गया। जिसे हमने लोकमंगल कहा है, उसे ही अनेक दृष्टियों से समाजशास्त्रीय आलोचना ने हमारे सामने रखा

यह माना जाने लगा है कि साहित्य निश्चित रूप से मनुष्य के मन पर प्रभाव डालता है, औद्योगिक और तकनीकी विकास के प्रभाव में भी कविता के मूल्य और महत्व को स्थपित किया गया है। साहित्य के द्वारा मनुष्य की रुचियों का परिष्कार संभव है। उसके द्वारा हम सामाजिक जीवन में छिपी विसंगतियों और क्षमताओं के प्रति समाज को सजग कर सकते हैं। इतना ही नहीं, साहित्य जीवन की जटिलता का बोध दे कर, मनुष्य को सामाजिक चेतना से युक्त भी कर सकता है और उसे एक सामाजिक के रूप में जागरूक भी बनाता है।

साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं, सामाजिक यथार्थ का एक दस्तावेज माना जाता है। साहित्य में सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का ही रूपांतरण होता है। रचनाकार भी और उसकी संवेदना भी उसे सामाजिक परिस्थितियों से सम्बद्ध करती है। उसकी पूरी दृष्टि भी सामाजिक सरोकारों से कभी नहीं होती। इस दृष्टि से ही साहित्य का मूल प्रयोजन जीवन की व्याख्या करना होता है।

साहित्य को जीवन से जोड़नेवाले साहित्यकार के लिए यह अनिवार्य है कि उसकी दृष्टि यथार्थवादी हो। अर्थात् जब तक साहित्यकार सामाजिक यथार्थ को गहराई और ईमानदारी से नहीं देखता, तब तक साहित्य का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। गहराई और ईमानदारी से सामाजिक यथार्थ को देखने का तात्पर्य है कि अपने आसपास के परिवेश को वह विविधता के संबंधों में और जटिलता भरी स्थितियों में देखे और उससे अपने को संबद्ध करें।

साहित्य सामाजिक दायित्वों से बंधा होता है। इसलिए साहित्य के कुछ अन्य जटिल दायित्व भी स्वतः बन जाते हैं। जैसे समाज के कुछ ऐसे जड या जटिल मूल्य होते हैं जो उसे जटिल, स्थिर और गतिहीन बना देते हैं। इसी प्रकार समाज में कुछ ऐसी रूढ़ियों, परम्पराएँ अपना स्थान बना लेती हैं जो समाज के सर्वांगीण व सार्थक विकास में बाधक बनती हैं। अतः साहित्य का यह दायित्व है कि वह इन्हें परिवर्तित करने या निकाल फेंकने का प्रयत्न करें।

सामाजिक यथार्थ का यह रूप साहित्य प्रयोजन को एक विस्तृत दृष्टि से देखता है। समाज और उसके लिए साहित्य की उपयोगिता को देखने तथा समाज के भीतर साहित्य के प्रतिफलन को उद्घाटित करनेवाला आलोचना सिद्धान्त दो रूपों में प्रतिफलित हुआ। एक को समाजवादी यथार्थवाद कहा गया और दूसरे को मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद। इनमें दो बातें महत्वपूर्ण हो जाती हैं, एक तो यह कि साहित्य

सामाजिक चेतना की रसात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम है। अतः समाजवादी यथार्थवाद को साहित्य अपने में समेटता है और दूसरे यह कि सामाजिक परिस्थितियों के साथ मनुष्य की प्रतिक्रिया से तो अन्तःप्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। उन्हें मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद माना गया है। इसका संबंध साहित्यकार और समाज दोनों के मनोविज्ञान से रहता है।

सामाजिक प्रयोजन साहित्य को सामाजिक समस्याओं से भी जोड़ता है जिसमें एक ओर सामाजिक रुढ़ियाँ रहती हैं, जिन्हें मानव के मंगल के लिए तोड़ना साहित्य का प्रयोजन बन जाता है। हिन्दी साहित्य में उसका पुनर्जागरण काल का साहित्य इस साहित्यिक प्रयोजन की सिद्धि करता हुआ देखा जा सकता है। प्रयोजन इस बात को भी बल देकर कहता है कि जो किसी कृति का वस्तु-पक्ष होता है, उसमें सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से उत्पन्न मनोवृत्ति अनिवार्य रूप से रहती है। इसीलिए प्रसाद, प्रेमचंद, निराला की जो मूलभूत चेतना है, उसे सामाजिक संस्कार या सांस्कृतिक मूल्यों से अलग करके नहीं पहचाना जा सकता। आगे भी लेखक जैसे जैसे अपने परिवेश के प्रति अर्थात् सामाजिक यथार्थ के प्रति सचेत होता गया, उसने साहित्य के सामाजिक प्रयोजन को महत्व दिया। इस प्रकार के साहित्य में जहाँ एक ओर परिवेश के प्रति अतिरिक्त सजगता आई है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ में सामयिक कारणों से आ गई निरीहता, अनिश्चय, अनिर्णय और विवशता के कारण संपूर्ण अस्वाकार का भाव भी आ गया है। इसके साथ सामाजिक प्रयोजन को पूरी तरह सिद्ध करनेवाले रचनाकार भी हमें दिखाई देते हैं जो जीवन मूल्यों से अपने को प्रतिबद्ध कर, काव्य के सामाजिक प्रयोजन को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार की प्रतिबद्धता जीवन को समग्र रूप में देखती है। इसलिए इसमें कविता व्यापक भी हुई है, वैविध्यपूर्ण भी, गहन भी और सरस भी।

इस प्रकार साहित्य के समाज शास्त्रीय विवेचन का संबंध जीवन के प्रत्येक अंग से हो गया है, जिसमें अर्थव्यवस्था का, राजनीति का, शिक्षा का, विधि का, धर्म का, कोई अलग पक्ष नहीं रह गया है। बल्कि सबके सब समाज की इकाइयों के रूप में हमारे सामने आते हैं।

इस व्यापकता के कारण ही आज साहित्य-शास्त्र और उसकी सार्थकता पर भी प्रश्नचिह्न लगाए जा रहे हैं। यह कहा जा रहा है कि साहित्यशास्त्र साहित्य का शास्त्र है और यदि साहित्य हर युग में परिवर्तित होता है तो साहित्य शास्त्र को भी बदलना होगा। साहित्य के पुराने प्रतिमान और प्रयोजन हर युग के साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं हो सकते। अतः साहित्य-शास्त्र से अधिक महत्व साहित्य को देना चाहिए।

परम्परागत साहित्य-शास्त्र के प्रयोजन समसामयिक प्रयोजन पर खरे नहीं उतरते। आज देश-विदेश में जो साहित्य लिखा जा रहा है, वह सामाजिक यथार्थ और सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों से जुड़ा हुआ साहित्य है। उसके प्रयोजन को देखने के लिए हमें सामाजिक परिप्रेक्ष्य को निश्चित रूप में देखना होगा।

आज इसीलिए साहित्य का जो व्यक्त रूप है, उसके अंदर साहित्यकार साहित्यिक कृति और पाठक वर्ग के त्रिकोण को स्थान दिया गया और यह माना गया है कि इन तीनों का ही अपना अलग और फिर एक संश्लिष्ट सामाजिक परिवेश होता है। इसीलिए आज साहित्य के साथ मानव जीवन और उसके प्रयोजनों को पूरा महत्व दिया गया है। इस संदर्भ में सुसान लैंगर का कथन देखा जा सकता है जिसमें साहित्य में मानव जीवन तथा उसकी प्रभावकारिता और सार्वदेशिकता के संदर्भ में उसके प्रयोजन को देखने का प्रयत्न किया गया है।

इस दृष्टि से परम्परागत साहित्य के प्रयोजन काफी कुछ बदल गए हैं। आज केवल सुंदर और शुभ या उपयोगी या अनुपयोगी का प्रश्न काव्य के प्रयोजन से बाहरकर दिए गए हैं। आज साहित्य समाज की मजबूरी और उसकी चारित्रिक दुर्बलताओं को उकेरता है, जीवन की गतिहीनता, एकरसता को उभारता है। ये कविताएं आनंद के प्रयोजन की सिद्धि शायद न करती हो लेकिन इसमें पाठक की

संवेदना को झिझोड़ने की शक्ति है और इस दृष्टि से जिस सामाजिक यथार्थ की अनुभूति कवि ने की, उसे पाठक के समक्ष रखने का उसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। आज काव्य का सत्य किसी भी रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है।

आज के साहित्य को मात्र शास्त्रीय या साहित्यिक मूल्यों द्वारा नहीं समझा जा सकता। आज के साहित्य को समझने के लिए अपने समय के संदर्भ को समझना होगा। राजनीति, समाज शास्त्र, आर्थिक ढांचे और सामाजिक बनावट को समझना होगा, तभी हम इस साहित्य का प्रयोजन भी निश्चित कर सकेंगे।

पिछले कुछ वर्षों में साहित्य ने समाज शास्त्रियों को जिस तरह आकर्षित किया है, वह आकस्मिक या आश्चर्यजनक नहीं है। साहित्य क्योंकि सामाजिक व्यक्ति का प्रामाणिक दस्तावेज है इसलिए वह आज के मनुष्य की कुंठाओं, आकांक्षाओं आदि को ईमानदारी और कलात्मक प्रभाविष्णुता से आकंता है और यही उसका प्रयोजन भी है।

6.4 सारांश

प्रत्येक कार्य की तरह साहित्य भी प्रयोजनरहित नहीं होता। व्यक्ति और समाज के प्रति उसके कुछ दायित्व होते हैं। भारतीय काव्य शास्त्र में आनंद को पाठक की दृष्टि से और अर्थोपार्जन को कवि की दृष्टि से काव्य का प्रयोजन माना गया। वाग्न ने काव्य के छः प्रयोजन निर्धारित किए। पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी काव्य के प्रयोजन में प्रारंभिक यूनानी दार्शनिक प्लेटो, अरस्तु आदि साहित्य के नैतिक और उपयोगितावादी होने को ही उसका प्रयोजन मानते हैं। अरस्तु आनंद को। फिर आगे आनेवाले पाश्चात्य विचारकों ने काव्य की सोद्देश्यता, काव्य की प्रक्रिया और काव्य में जीवन के चित्रण आदि को काव्य का प्रयोजन माना और बाद में जब समाजशास्त्रीय आलोचना विकसित हुई तब साहित्य का प्रयोजन यथार्थवादी दृष्टि को सामाजिक चेतना की रुढ़ियों के खंडन को काव्य के प्रयोजन के रूप में देखा गया। इस सभी दृष्टिकोणों की क्रमिक चर्चा आपको इस पाठ में दी गई है।

6.5 पारिभाषिक शब्दावली

नैतिक	:	
साहित्यशास्त्र	:	
आनंद	:	
सहृदय	:	जो काव्यका पाठक या दर्शक के रूप में रसास्वादन करता है
प्रयोजन	:	

6.6 अभ्यास

6.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न

1. साहित्य के प्रयोजन से क्या तात्पर्य है? चर्चा कीजिए।
2. प्रयोजना के रूप में 'साहित्य की सोद्देश्यता तथा सर्जन प्रक्रिया को स्वीकृति मिली है', इसका परिचय दीजिए।
3. भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिपादित काव्य के प्रयोजनों की व्याख्या कीजिए।
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रतिपादित काव्य प्रयोजनों की विवेचना कीजिए।

6.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

1. 'काव्य जीवन की आलोचना है' इस कथन की चर्चा कीजिए।
2. साहित्य में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के साथ उसके सामाजिक प्रयोजनों को स्पष्ट कीजिए।
3. 'कला कला के लिए' विचारधारा की सीमाओं का उल्लेख कीजिए।
4. 'अनुबंध चतुष्टय' से क्या तात्पर्य है?

6.7 नमूने के उत्तर

6.7.1 अ श्रेणी के प्रश्न

प्रश्न: साहित्य के प्रयोजन से क्या तात्पर्य है, चर्चा कीजिए।

उत्तर: प्रत्येक शास्त्र तथा काव्य के निश्चित प्रयोजन होते हैं। बिना प्रयोजन के इनकी कोई सार्थकता नहीं मानी जाती। सामान्य रूप से भी मनुष्य जो भी कर्म करता है, उसका कोई न कोई प्रयोजन या उद्देश्य होता है। साहित्य रचना भी कवि कर्म है अतः इसकी सार्थकता भी बिना प्रयोजन के सिद्ध नहीं हो सकती। साहित्य के प्रयोजन से कवि, पाठक और समाज तीनों जुड़े रहते हैं। भारतीय आचार्यों में आनंद को काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना गया है। भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य के प्रयोजन कवि और सहृदय (पाठक-दर्शक) की दृष्टि से निर्धारित किए गए हैं। कवि के लिए प्रीति और अर्थोपार्जन को काव्य का प्रयोजन माना गया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य के व्यक्तिगत और सामाजिक प्रयोजन माने गये हैं जिनमें क्रमशः आनंद और लोक-मंगल को स्थान दिया गया है। काव्य को नैतिक उत्थान का साधन मानने की बात भी यूनानी विचारकों ने की है। पाश्चात्य विचारकों ने काव्य की सोद्देश्यता को अर्थात् कृत्रिम संस्कारों, सामाजिक रुढ़ियों, संकीर्णताओं को दूर करने को काव्य का प्रयोजन माना जिससे मानव संवेदना का विकास हो। कॉलरिज जैसे पाश्चात्य आलोचक ने सर्जन-प्रक्रिया को काव्य के प्रयोजन से जोड़कर देखा जिसमें उन्होंने ने कवि की कल्पना, इच्छा, रुचि, शक्ति को सहयोगी माना। काव्य जीवन का चित्रण करे, उसकी आलोचना करे, यह प्रयोजन मैथ्यु आर्नाल्ड ने निर्धारित किया। इसी आधार पर यथार्थवादी आलोचना में साहित्य को सामाजिक यथार्थ का दस्तावेज मानते हुए साहित्य को जीवन से जुड़नेवाला माना गया। इसके लिए कवि ने साहित्यिक यथार्थ को ईमानदारी और गहराई से देखने की दृष्टि अनिवार्य मानी गई। इस प्रकार समाजवादी, यथार्थवादी व मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद जैसी दो आलोचना दृष्टियाँ हमारे समक्ष आती हैं।

6.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

प्रश्न: 'कला कला के लिए' विचारधारा की सीमाओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर: 'कला कला के लिए' आन्दोलन जिसे स्वच्छन्दतावाद भी कहते हैं काव्य में किसी प्रयोजन को स्थान नहीं देता। 19वीं शताब्दी में इंग्लैंड और फ्रांस में विकसित यह विचारधारा साहित्य में उपदेश को, प्रयोजन का महत्व नहीं देती। वे आलोचना को प्रयोजन की अनुवर्ती भी बनाना नहीं चाहते। इनके अनुसार कला, केवल कला होती है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। वह न तो उपदेश देती है, न सूचना और न ही प्रयोजनमूलक होती है। इस सीमा की प्रतिक्रिया स्वरूप ही समाज-शास्त्रीय आलोचना हमारे सामने आती है। साहित्य मनुष्य व समाज से, उसकी प्रवृत्तियों से जुड़ा है, इसे कलावादी सिद्धांत स्वीकार नहीं करता। जबकि साहित्य मनुष्य के मन पर अपना निश्चित प्राभाव डालता है, इसके द्वारा मनुष्य की रुचियों का परिष्कार होता है और यह जीवन में विसंगतियों के प्रति समाज को सचेत करता है, जैसे महत्वपूर्ण साहित्यिक गुणों को यह विचारधारा अनदेखा कर देती है।

6.8 पठनीय पुस्तके

1. पाश्चात्य काव्य शास्त्र : देवेन्द्रनाथ शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउज, नई दिल्ली।
2. भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका : आचार्य नगेन्द्र, नई दिल्ली।
3. साहित्य: स्थायी मूल्य और मूल्यांकन : डा. रामविलास शर्मा, अक्षर, नई दिल्ली।

BRAOU

इकाई-7: साहित्य अध्ययन की पद्धतियाँ

- 7.0 विषय प्रवेश
- 7.1 पाठ का उद्देश्य
- 7.2 पाठ परिचय
- 7.3 मूल पाठ
- 7.4 पाठ का सारांश
- 7.5 शब्दार्थ
- 7.6 अभ्यास
 - 7.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 7.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 7.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 7.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 7.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 7.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.1 पाठ का उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में साहित्य अध्ययन की पद्धतियों पर प्रकाश डाला गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- साहित्य अध्ययन की प्रमुख पद्धतियों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- उसके विकास को दर्शा सकेंगे।
- मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धति पर विचार कर सकेंगे।
- नैतिकवादी समीक्षा पद्धति का विश्लेषण कर सकेंगे।
- साहित्य अध्ययन पद्धतियों की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।

7.2 पाठ परिचय

साहित्य के गुण-दोषों के विवेचन और मूल्यांकन की अनेक पद्धतियाँ विकसित होती रही हैं। कृति या रचना के अंगों पर प्रकाश डालने वाली इन पद्धतियों का परिचय प्रस्तुत पाठ में दिया गया है। प्रारंभ में ही इन पद्धतियों की चर्चा की गई है। भारतीय और पाश्चात्य साहित्य अध्ययनों में पद्धतियों के विकास और उनके पीछे दिये कारणों की चर्चा करते हुए प्राचीन काव्यशास्त्रों के संदर्भ में इन्हें देखा गया है।

साहित्य अध्ययन की पद्धतियों को अरस्तू और प्लेटो के विचारों से जोड़ते हुए 'आदर्शवादी' और 'यथार्थवादी' साहित्य अध्ययन पद्धति की चर्चा की गई है।

आधुनिक साहित्य अध्ययन पद्धतियों को डॉ. नरेंद्र के वर्गीकरण के आधार पर 'व्यक्ति' के और 'समाज' के संदर्भ में साहित्य को देखने की प्रवृत्ति के अंतर्गत मनोविश्लेषणवादी साहित्य अध्ययन की पद्धति, नैतिकतावादी साहित्य अध्ययन की पद्धति और आकर्षवादी साहित्य अध्ययन की पद्धति की व्यापक चर्चा की गई है।

इन सभी पद्धतियों में एक-दूसरे के सहयोग या एक पद्धति में इसी पद्धति के आवागमन को स्वाभाविक माना गया है।

7.3 मूलपाठ

7.3.1 विषय प्रवेश

साहित्य का अध्ययन करना और उसका अध्ययन कर के उसके गुण-दोषों का निधारण करना दो भिन्न बातें हैं। साहित्यिक कृतियों को पढ़ कर उनपर अपना मत व्यक्त करना बहुत आसान नहीं है। इस कठिनाई का कारण यह है कि साहित्य के विविध रूपों को अनेक दृष्टिकोणों और संदर्भों से देखा जाता है। इसीलिए साहित्य अध्ययन की विविध पद्धतियाँ विकसित हुईं। इन पद्धतियों को ही 'आलोचना' का नाम भी दिया गया है। इसकी परिभाषा देते हुए डॉ. श्याम-सुन्दर दास ने लिखा है कि 'साहित्य-क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़ कर उसके गुणों और दोषों की विवेचना करना और उसके संबंध में अपना मत प्रकट करना 'आलोचना' कहलाता है। ... यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या माने तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।' इस परिभाषा से हमारे सामने यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य अध्ययन की पद्धति चाहे कोई भी हो वह साहित्य की व्याख्या करती है। अर्थात् यदि कोई अच्छा कवि जीवन की व्याख्या करता है, तो एक अच्छा आलोचक हमें वह व्याख्या समझाने में सहायक होता है। आलोचना की इसी 'सहायक' होने की धारणा के आधार पर बाबू गुलाबराय ने आलोचना के उद्देश्य को इन शब्दों में प्रस्तुत किया "आलोचना का मूल उद्देश्य-कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गतिविधि निर्धारित करने में योग देना है।"

साहित्य अध्ययन या आलोचना की जितनी भी पद्धतियाँ हैं वे कृति के भिन्न अंगों पर प्रकाश डालती हैं। यह प्रकाश डालते समय वे दो कार्य करती हैं- (1) कवि या लेखक के कृति की विस्तृत व्याख्या करना और (2) उसके संबंध में मत स्थिर करना। इन दोनों ही कार्यों का विवेचन करता है। इसके साथ ही कृति में छिपे हुए गुणों को प्रकाशित करता है। इस प्रकाशन द्वारा वह बतलाता है कि विषय, भाव और कला की दृष्टि से कृति कैसी है। ऐसा करने के लिए अध्येता साहित्य अध्ययन की अनेकों पद्धतियों को अपना सकता है (1) वह केवल आलोच्य ग्रंथ को पढ़ कर उसकी आलोचना कर सकता है, (2) उसी विषय के दूसरे ग्रंथों के साथ आलोच्य कृति की तुलना कर सकता है, (3) आवश्यकता पड़ने पर ऐतिहासिक दृष्टि से उस पर विचार कर सकता है, (4) नैतिक दृष्टि से कृति पर विचार कर सकता है, (5) सामाजिक दृष्टि से कृति पर विचार कर सकता है और (6) साहित्यिक दृष्टि से विचार कर सकता है। अन्य दृष्टियाँ भी वह अपना सकता है, अपनाता है। जिनकी चर्चा आगे विस्तार से की जाएगी। परन्तु एक बात निश्चित है। वह चाहे जिस अध्ययन पद्धति को अपनाए उसका एक मात्र उद्देश्य यही होगा कि वह उस कृति और उसके रचयिता का अभिप्राय समझे और दूसरों को भी समझाये।

भारतीय परंपरा में कवि को 'सर्जक' ही नहीं, स्रष्टा भी माना गया है। इसीलिए भारतीय आचार्यों ने कवि की सृष्टि को 'नियतिकृत नियम रहिताम्' मानते हुए भी उसे 'व्यवहार विदे' और 'कांतासम्मितयोपदेशयुजे' भी माना है, अतः कवि की सृष्टि इस कृति के रहस्यों से पाठक को परिचित कराना ही सच्चे आलोचक का कार्य और कर्तव्य है। इस दृष्टि से आलोचना के दो प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं- (1) असत् साहित्य का निराकरण और (2) सत्साहित्य के निर्माण को प्रोत्साहन।

इन्हीं दो उद्देश्यों की प्राप्ति का मार्ग विभिन्न साहित्य अध्ययन की दृष्टियाँ प्रशस्त करती हैं। साहित्य अध्ययन की दृष्टियाँ पाठक और लेखक के बीच माध्यम का कार्य करती हैं अतः इनका दोनों के प्रति उत्तरदायित्व बनता है। इस दुहरे उत्तरदायित्व के कारण ही आलोचक के लिए यह अनिवार्य माना गया कि वह कृति को बिल्कुल वास्तविक स्वरूप में देखे। केवल दोष और छिद्रान्वेषण के लिए की गई आलोचना का स्तर निम्न और सतही होता है और सत्साहित्य के लिए घातक भी होता है।

7.3.2 साहित्य अध्ययन की पद्धतियों का विकास

प्रत्येक वस्तु को परखने और उसके गुण-दोषों को निश्चित करने की प्रवृत्ति हर मनुष्य में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मनुष्य को किसी भी वस्तु के लिए वह 'अच्छी है

या बुरि है या किस श्रेणी की है' इस संबंध में अपना कोई-न-कोई मत निश्चित करना ही होता है। कला के सौंदर्य से जो रसानुभूति होती है उसकी व्याख्या भी अध्येता या कला-प्रेमी करना चाहता है। इस कार्य के लिए साहित्य अध्ययन की पद्धतियाँ प्रारंभिक स्तर पर दो रूपों में विकसित होती हुई दिखाई देती हैं— (1) जिनका संबंध शुद्ध सिद्धांत से है और (2) जिनमें इन सिद्धांतों का प्रयोग होता है। 'काव्यमीमांसा', 'काव्य प्रकाश', 'साहित्य दर्पण' जैसे ग्रंथ पहले रूप के उदाहरण हैं तो, सूर, तुलसी कबीर आदि रचनाकारों पर किए गए अध्ययन दूसरे रूप के।

भारतीय साहित्य अध्ययन की पद्धतियाँ अत्यंत प्राचीन हैं। भारतीय पद्धति शुद्ध सैद्धांतिक आलोचना को ही केन्द्र में रहती है। वह यह भी मानता है कि यही सैद्धांतिक अध्ययन पद्धति का सामाज और चिरंतन स्वरूप है जो साहित्य के सामान्य मापदंड भी उपस्थित करती है। यह अध्ययन पद्धति समालोचना के सामान्य सिद्धांतों की स्थापना करती है। इस पद्धति का मूल कार्य या विषय है— साहित्य या काव्य के स्वरूप का विश्लेषण। साहित्य क्या है?, कविता क्या है? उसका लक्ष्य क्या है? प्रत्यक्ष सामग्री को कलाएँ किस रूप में और किस माध्यम से ग्रहण करती है? इन प्रश्नों पर सम्मति देना इस पद्धति का केंद्रीय कार्य है।

यह अध्ययन पद्धति यह मान कर चलती है कि रचनात्मक-साहित्य के दो पक्ष होते हैं: (1) कवि का पक्ष और (2) श्रोता या पाठक का पक्ष। अतः यह दृष्टि काव्य क्या है? इस प्रश्न के साथ-साथ कई अन्य प्रश्नों को भी अपनी अध्ययन-दृष्टि में समेटती है। जैसे काव्य का अध्ययन-अनुशीलन किस दृष्टि से और कैसा होना चाहिए? पाठक की साहित्य संबंधी रुचि कैसी होनी चाहिए? पारंपरिक या पूर्वाग्रह युक्त साहित्य रुचि के क्या घातक परिणाम हो सकते हैं? आदि। अतः साहित्य अध्ययन की यह पद्धति एक प्रकार से आलोचना का शास्त्रीय पक्ष है। अन्य साहित्य अध्ययन की पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से इसी शास्त्रीयता का प्रयोग करती हैं। भारतीय काव्य शास्त्र और पाश्चात्य-काव्य शास्त्र इस साहित्य अध्ययन पद्धति के ज्वलंत उदाहरण हैं।

पाश्चात्य साहित्य अध्ययन की पद्धतियों ने 'आलोचना' या साहित्यिक समालोचना (Literary Criticism) का अभिप्राय 'विवेचन करना या निर्णय देना' माना। इस अध्ययन-पद्धति में किसी कृति-विशेष के समुचित अध्ययन के साथ ही उसके सृजन की प्रक्रिया, उसके रचनाकार के व्यक्तित्व तथा उसके युग और तत्कालीन प्रवृत्तियों का अध्ययन आदि सभी समाविष्ट हो जाते हैं। पाश्चात्य साहित्यलोचन के आदि गुरु प्लेटो साहित्य के साथ-साथ साहित्यकार में भी श्रेष्ठ चरित्र, श्रेष्ठ आचरण तथा सत्य के अनुसरण का समावेश चाहते थे। यह साहित्य अध्ययन की नैतिकतावादी पद्धति को प्रोत्साहित करने वाली मान्यता थी। जिसके आधार पर नैतिकतावादी आलोचना का कालांतर में विकास हुआ। अरस्तू ने इस नैतिकतावादी साहित्य अध्ययन दृष्टि के सामित आयामों व संकुचित क्षेत्र को पहचाना। उन्होंने इस दृष्टि का परिष्कार किया और इसे परिवर्धित करते हेतु साहित्य अध्ययन की पद्धति में 'संभावित सत्य' की स्थापना की। अर्थात् साहित्य की अभिव्यक्ति को उन्होंने विस्तार की अइभ्यक्ति से भिन्न किया। यह साहित्य अध्ययन पद्धति की यथार्थवादी दृष्टि बनी। पाश्चात्य साहित्य अध्ययन की इन पद्धतियों में रचना के विषय, सौंदर्य-सिद्धांत, रचनाकार की जीवनी आदि की दृष्टि से रचना के गुण-दोषों और रचनाकार की आंतरिक वृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन किया जाता रहा। बाद में यही विवेचन भिन्न साहित्य अध्ययन पद्धतियों के रूप में निरूपित हुए।

7.3.3 साहित्य अध्ययन की पद्धतियाँ

साहित्य अध्ययन की जो पद्धतियाँ पश्चिमी देशों में विकसित हुईं उनमें सबसे प्रमुख और प्रमुख आचार्य प्लेटो हैं। प्लेटो ने साहित्य का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन किया। अतः हम यह कह सकते हैं कि यूनान में साहित्य का विकास ईसा से तीन शताब्दी पूर्व हो चुका था। प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने इस दृष्टि को आगे बढ़ाया, विकसित किया। प्लेटो के प्रसिद्ध ग्रंथ 'रिपब्लिक' का एक अंश में 'साहित्य की आलोचना और विवेचन' की चर्चा भी थी। परन्तु अरस्तू ने इस विषय पर अलग से एक पूरा ग्रंथ लिखा जैसा कि पहले भी कहा गया प्लेटो की साहित्य अध्ययन की पद्धति कला और सत्य में घनिष्ठ संबंध मानती है। 'सत्य' को प्लेटो ने सदाचार और नीति से जोड़ा और इसीलिए कलाकार या कवि को सत्पुरुष होना चाहिए, ऐसा कहा। उनकी साहित्य अध्ययन की दृष्टि यह मानती है कि कला के सत् या असत् होने से

समाज पर भी उसका अच्छा और बुरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार सत् साहित्य समाज को अच्छा और असत् साहित्य उसे बुरा बनाता है। इस पद्धति के आधार पर प्लेटो का साहित्य संबंधी सिद्धांत निर्मित हुआ। सिद्धांत यह ही कि काव्य या कला की सबसे बड़ी कसौटी यह है कि उसके माध्यम से जो कुछ अभिव्यक्त हुआ है या प्रतिपादित किया गया है, वह यथार्थ है। इस प्रकार प्लेटो की साहित्य अध्ययन दृष्टि यथार्थवाद पर बल देती है। लेकिन मूलतः उनकी दृष्टि आदर्शवादी है क्योंकि वे सत्य के एक निश्चित आदर्श को सामने रख कर कला और काव्य के अध्ययन की पद्धति निर्मित करते हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्लेटो की साहित्य अध्ययन पद्धति को आदर्शवादी पद्धति के रूप में ही स्वीकार किया जाता है।

अरस्तू ने मूलतः यथार्थवादी अध्ययन पद्धति को अपनाया। उनकी साहित्य अध्ययन पद्धति उपलब्ध साहित्यिक सामग्री को केन्द्र में रखकर ही साहित्य की विवेचना करने वाली है। अरस्तू ने ही सबसे पहले काव्य को 'ललित-कला' माना। प्लेटो की अध्ययन दृष्टि काव्य को सत्य की 'प्रतिमा' मानती है अरस्तू ने उसे 'अनुकृति' माना तथा काव्य-साहित्य और सामान्य साहित्य में भेद भी स्थापित किया। अरस्तू की पद्धति यह मान कर चलती है कि काव्य-साहित्य में सामान्य घटनाओं और सूक्ष्म सत्यों की भी अभिव्यक्ति होती है। केवल विशेष घटनाओं अथवा स्थूल सत्यों को नहीं, जैसा कि प्लेटो की पद्धति मानती है। अरस्तू की साहित्य अध्ययन की दृष्टि वस्तु, चरित्र, भाव और भाषा आदि के शास्त्रीय नियम बना कर साहित्य अध्ययन की आधुनिक पद्धतियों का मार्ग-दर्शन भी करती है और उन्हें एक आधार भी प्रदान करती है।

साहित्य अध्ययन के क्षेत्र में एडिसन ने कल्पना का प्रतिपादन किया। कल्पना पर प्रभाव डालने की शक्ति को ही एडिसन काव्य तथा कला का प्राण मानते हैं। एडिसन ने अपनी साहित्य अध्ययन संबंधी दृष्टि में सत्य, सौंदर्य और कल्पना के आधार को मान्यता दी। इसीलिए इस समय साहित्य अध्ययन की जो पद्धतियाँ निर्मित हुईं उनमें आलोचना के तीन तत्व स्थिर हो गए— (1) वस्तु, (2) रीति और (3) सुखानुभव कराने की योग्यता। इन तत्वों के आधार पर ही आगे चल कर आधुनिक पाश्चात्य साहित्य-अध्ययन के क्षेत्र में मेथ्यू आर्नाल्ड, बर्सफोल्ड, रिचर्ड्स आदि ने व्यापक पद्धतियाँ निर्मित कीं। परन्तु इन सभी के मूल में उपरोक्त तीनों तत्व ही प्रधान बने रहे।

भारतीय साहित्य अध्ययन पद्धतियों का विकास लगभग दो हजार वर्षों तक होता रहा है। पाश्चात्य और भारतीय चिंतन में प्रतिपादन की भिन्नता है परन्तु तत्व तो प्रायः यही हैं। भारतीय साहित्य अध्ययन के चिंतनों का समन्वय करके मम्मट ने विभिन्न पद्धतियों जैसे अलंकार, गुण, रीति, रस आदि का समन्वय करके एक पद्धति का सूत्रपात किया। भारतीय और पाश्चात्य पद्धतियों की यदि तुलना की जाय तो उनकी समानता का बोध हमें स्पष्ट हो जाता है।

इसीलिए आज साहित्य अध्ययन की पद्धतियाँ चार रूपों में विकसित दिखाई देती हैं: (1) इतिहास, (2) तुलना, (3) भूमिका और (4) परिचय। इन्हीं चारों पद्धतियों के आधार पर विभिन्न साहित्यों के इतिहास लिखे गए कवियों, कालों, विधाओं का तुलनात्मक विवेचन हुआ, प्राचीन और नए साहित्य की भूमिकाएँ लिखी गईं तथा परिचय के रूप में पत्र-पत्रिकाओं में महत्वपूर्ण रचनाओं पर टिप्पणियाँ देने का प्रचलन बढ़ा।

हिन्दी साहित्य के संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'नई समीक्षा: नए संदर्भ' में साहित्य अध्ययन की पद्धति को दो मूल वर्गों में विभाजित किया। एक को उन्होंने ऐतिहासिक आलोचना कहा और दूसरी को रूपात्मक आलोचना। उन्होंने यह कहा कि आधुनिक समीक्षा की विविध प्रणालियों और पद्धतियों का आकलन इन्हीं दो की परिधि में रह कर भी किया जा सकता है।

ऐतिहासिक आलोचना रचयिता और उसके समाज के बीच अनिवार्य संबंध मान कर चलती है। इस साहित्य अध्ययन पद्धति में रचना तो होती ही है, रचना के पीछे उसका रचयिता और रचयिता के साथ उसका युग भी विद्यमान रहता है। अतः इस पद्धति में रचनाकार का अनुभव जगत और उसका सामाजिक परिवेश दोनों केन्द्र में रखे जाते हैं। यही कारण है कि साहित्य अध्ययन की यह पद्धति रचना को 'व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति' और 'जीवन की समीक्षा' दोनों मानते हुए विवेचित करती है। प्रारंभ के कुछ वर्षों तक साहित्य अध्ययन की यह ऐतिहासिक पद्धति अपनी परिधि या अपने क्षेत्र को सामाजिक परिवेश तक ही सीमित किए हुए थी। लेकिन

वर्तमान युग में जब क्लॉथ ब्रक्स ने कहा कि 'काव्य का सत्य संवादिता का सत्य नहीं बल्कि समन्वित का ही सत्य है।' (Poetry is the truth of coherence rather than the truth of correspondence) तब ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति का क्षेत्र विस्तृत हुआ। और अब इसपद्धति की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ दो भिन्न साहित्य अध्ययन पद्धतियों के रूप में विकसित हुईं— (1) कवि या भावक के संदर्भ में: मनोविश्लेषणात्मक पद्धति और (2) समाज के संदर्भ में: नवमानवतावादी पद्धति। इन दोनों पद्धतियों को क्रमशः व्यक्ति के संदर्भ में और समाज के संदर्भ में केन्द्रित पद्धतियाँ भी कहा जा सकता है।

7.3.4 मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा

प्रसिद्ध मनोविश्लेषक फ्रॉयड के सिद्धांतों के आधार पर इस आलोचना-पद्धति का विकास हुआ फ्रॉयड ने अपने विषय अध्ययन द्वारा अवचेतन विज्ञान का प्रतिपादन किया। यह समीक्षा-पद्धति इसी विज्ञान से प्रभावित है। फ्रॉयड ने यह मान्यता स्थापित की थी कि कला द्वारा मनुष्य अपनी दमित वासनाओं का उद्घटन करता है। वह यह भी मानते हैं कि मनुष्य के अवचेतन मन की जो मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं उन सभी का केन्द्र यौन प्रवृत्ति होती है। फ्रॉयड काव्य के निर्माण में मनुष्य के अवचेतन मन का योगदान स्वीकार करते हैं। काव्य में प्रयुक्त बिंब प्रतीक, मिथक, रूपक आदि को वे अवचेतन विज्ञान के समक्ष ही रखते हैं।

फ्रॉयड की इन मान्यताओं ने व्यक्ति केन्द्रित आलोचना को स्थापित किया। इस प्रकार कविता के विश्लेषण में अवचेतन-विज्ञान का सहज प्रयोग प्रारंभ हो गया। इस आलोचना-पद्धति द्वारा सृजन-प्रतिभा, रचनाकार की मनोभूमि और मानसिक द्वंद्वों को स्थान मिला। मनोविश्लेषणात्मक आलोचना पद्धति में एक ओर लेखक की मनोवृत्ति, मानसिक स्वरूप पर उसके वातावरण के प्रभाव, उसकी आनुवंशिकता आदि का विवेचन प्रारंभ हुआ। तथा दूसरी ओर कृति के पात्रों की परिस्थितिजन्य मानसिक स्थितियों, विकारों, मनोवेदों के विवेचन को भी स्थान मिला।

इस प्रकार आलोचना की इस पद्धति ने साहित्य के अंतरंग अध्ययन को एक नया आयाम दिया। जिनमें रचना को मानव जीवन की सूक्ष्म और गहन अभिव्यक्ति माना गया और मानव की मूल-वृत्तियों की जीवंत संवाहिका। मानवीय संवेगों, मानवीय संबंधों, घुटन, तनाव आदि के कारणों आदि का विश्लेषण आदि इस आलोचना-पद्धति के विविध आयामों के रूप में स्थिर होते गए।

डॉ. नगेन्द्र ने इस आलोचना-पद्धति की सीमाओं की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया। पहली सीमा इस कारण है कि सौंदर्यशास्त्र या कला-समीक्षा जैसे विषय फ्रॉयड के विचार-क्षेत्र में नहीं आते थे। दूसरी सीमा का कारण यह है कि कला को अवचेतन मन की क्रिया मानने से इस आलोचना पद्धति में सृजन के चेतनागत और नैतिक आधार की उपेक्षा हो गई है। तीसरा कारण यह है कि साहित्य को अवचेतन-मन से जोड़ने से ऐसा मत यह आलोचना-पद्धति स्थापित करती है जैसे साहित्यकार कोई मनोरोगी हो और कृति कोई दिवास्वप्न। इन सीमाओं के कारण ही यह माना जाता है कि यह आलोचना-पद्धति कला और काव्य की अवमानना करती है। यह आलोचना पद्धति जब कृति में आए पात्रों के माध्यम से कलाकार की मनः स्थितियों और उसकी सृजन-प्रक्रिया आदि का विश्लेषण करती है तब वह कवि द्वारा वर्णित पात्र और जीवित व्यक्ति के मौलिक भेदों को भूल जाती है। इसीलिए डॉ. नगेन्द्र यह कहते हैं कि '(इस आलोचना पद्धति में) प्रक्रिया की अपूर्णता के कारण सही निष्कर्ष प्राप्त करने की संभावना और भी कम हो जाती है। अतः यह समीक्षा अत्यधिक आनुभाविक बन गई और अस्थिरमति आलोचकों को विकृत कल्पनाओं के विलास के लिए अनंत क्षेत्र मिल गया।' यही कारण है कि मनोविश्लेषणवादी आलोचना-पद्धति में अधिकांशतः हम यह देखते हैं कि यह काव्य-सौष्ठव को भूलकर संकेतित बातों के विवेचन में लीन हो जाती है। 'अज्ञेय', जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द जोशी के उपन्यासों की कई मनोवैज्ञानिक आलोचनाएँ इस पद्धति की विफलता का ज्वलंत प्रमाण हैं। मनोवैज्ञानिक आलोचना-पद्धति साहित्य के संबंध में हमारी रुचि को एक दूसरी दिशा में ले जाती है जो साहित्य के लिए प्रासंगिक भी नहीं होती। इसीलिए इस पद्धति के द्वारा साहित्य के आस्वादन और मूल्यांकन दोनों में बाधाएँ उत्पन्न होती हैं।

7.3.5 समाज के संदर्भ में

(क) नैतिकतावादी आलोचना: यह आलोचना-पद्धति साहित्यिक मूल्य और नैतिक मूल्य एक-दूसरे से अभिन्न मानती है, आत्मनियंत्रण, नैतिकता और मानवीयता को यह पद्धति साहित्य के अनिवार्य गुण मानती है। और यह भी कि साहित्य के लिए इनके अनुशासन में रहना आवश्यक है। यह आलोचना पद्धति स्वीकार करती है कि नैतिक-मूल्य स्थिर नहीं होते, वे सदैव गतिशील रहते हैं। इसीलिए प्रत्येक युग अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप नैतिक-मूल्यों की खोज करता है। साहित्य भी अपने युग के मूल्यों को व्यक्त करता है। मानव-जीवन को नैतिक-बल और शुद्ध-आचरण से पुष्ट करने वाला साहित्य ही इस आलोचना-पद्धति की दृष्टि में श्रेष्ठ साहित्य है। साहित्य जब समाज का नियामक और उन्नायक होता है तभी वह सार्थक होता है। अतः साहित्य द्वारा लोक-कल्याण का भाव उत्पन्न होना यह आलोचना-पद्धति अनिवार्य मानती है। इस प्रकार यह आलोचना-पद्धति जीवन के शाश्वत मूल्यों के प्रति असीम आस्था रखती है। लेकिन कभी-कभी इस आलोचना-पद्धति की सीमा भी हमारे सामने आती है। क्योंकि इस पद्धति में कृति कैसी है, यह विचार गौण हो गया और कृति का नैतिक प्रभाव ही मुख्य बन गया। इस सीमा के बावजूद यह आलोचना-पद्धति सत् और असत् साहित्य के बीच अंतर पहचानने की दृष्टि से और साहित्य में बढ़ती हुई अनैतिकता पर अंकुश लगाने की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है। विवेक, प्रतिष्ठा और प्रेरक प्रयोजनों को साहित्य के लिए अनिवार्य मानते हुए इस आलोचना-पद्धति ने अथक संघर्ष किया।

इसमें संदेह नहीं कि सत् और असत् का विवेचन जीवन के लिए अनिवार्य है और जो जीवन के लिए अनिवार्य है वह साहित्य के लिए भी स्वतः महत्वपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार के तत्वों के विश्लेषण से संबद्ध यह आलोचना-पद्धति साहित्य की मूल्यवत्ता को पहचानती है। इस आलोचना-पद्धति की सीमा यह है कि साहित्य के विवेचन में यह कभी-कभी बाह्य अथवा साहित्येतर मूल्यों का आरोपण आवश्यकता से अधिक करने लगती है। ऐसे में साहित्य का सौंदर्य पक्ष उपेक्षित होने लगता है और विचार पक्ष प्रबल। और इसीलिए यह पद्धति कभी-कभी मतवादों से भी प्रभावित होती हुई दिखाई देने लगती है। अन्यथा यह पद्धति समालोचक की नीतिपरक दृष्टि और नीतिपरक अभिरुति के से निर्मित एक उत्कृष्ट और गौरवमयी आलोचना-पद्धति है।

7.3.5 मार्क्सवादी आलोचना

यह आलोचना-पद्धति वर्तमान युग की देन है। समय के साथ इसमें परिष्कार और संशोधन भी हुआ है। यह पद्धति सामाजिक-यथार्थ और समाज में निहित द्वंद्व की चेतना से जुड़ी हुई आलोचना-पद्धति है। मार्क्स यह मानते हैं कि मनुष्य का दैनिक जीवन उसकी अपनी चेतना पर अवलंबित नहीं होता बल्कि इसके विपरीत मनुष्य की चेतना ही उसके जीवन पर अवलंबित होती है। इसलिए कलाकार की चेतना उसके सामाजिक जीवन की ही देन है।

यह पद्धति यह मान कर चलती है कि आलोचना के लिए नये प्रतिमानों की खोज आवश्यक है। क्योंकि सारी आलोचना पद्धतियाँ अपने युग और साहित्य की देन हैं। आज का साहित्य परिवर्तित युग का साहित्य है तो उसके आलोचना के 'मान' भी परिवर्तित होने चाहिए। परन्तु मानों की स्थापना रचना के भीतर से ही निकल कर होनी चाहिए। इस आलोचना-पद्धति के प्रबल प्रवर्तक और हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने इस विषय में कहा है कि 'सामाजिक सत्य कविता से खोज निकालने की चीज है, ऊपर से आरोपित करने की नहीं।' मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति के गुण-दोष बहुत चर्चित हैं। अपने गुण के स्तर पर यह पद्धति साहित्य को शब्द-क्रीड़ा तथा मानसिक विलास का शिकार होने से बचाती है। रूपवादी पद्धति और मनोविश्लेषणात्मक पद्धति इन दोषों से मुक्त नहीं हैं। मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति जीवन के स्वस्थ मूल्यों के साथ काव्य-मूल्यों का संबंध स्थापित करती है। यह पद्धति गति को मानवीय जीवन की मूलभूत प्रकृति मानती है अतः यह साहित्य में भी गतिशीलता देखती है। दोष के रूप में यह पद्धति अतिवादी और राजनैतिक धरातल पर उतर कर जब साहित्य की सतही और फूहड़ व्याख्या करने लगती है तब ऐसा लगने लगता है कि यह पद्धति साहित्य का स्वाभाविकता के तत्वों जैसे, रमणीयता, सौंदर्य आदि को अस्वीकार कर रही हो।

इन पद्धतियों के साथ भारतीय चिंतन परंपरा के आधार पर आलोचना की रसवादी पद्धति और सौंदर्यवादी पद्धति भी विकसित हुई तथा पाश्चात्य नयी समीक्षा में शैली वैज्ञानिक (रूपात्मक समीक्षा) आलोचना-पद्धति और अस्तित्ववादी आलोचना-पद्धति का भी विकास हुआ।

7.5 पारिभाषिक शब्दावली

पद्धति	: Method
मत	: View/dicision
सर्जक	: Creative writer
श्रोता या पाठक	: Receptor
नैतिकतावादी	: Moralistic
यथार्थवादी	: Realistic
सत्य	: Truth / Real
सत्	: Good
असत्	: Bad
कल्पना	: Imagine
इतिहास	: History
तुलना	: Comaprison
तुलनात्मक	: Comparative
भूमिका	: Foreword
परिचय	: Introduction
रूपात्मक आलोचना	: Formalistic Criticism
मनोविश्लेषणात्मक आलोचना	: Psycho-analytic Criticism
अस्तित्ववादी आलोचना	: Existentialistic Criticism
प्रक्रिया	: Process
अवचेतन	: Subconciuous
व्यक्ति केंद्रित	: Person Centralised
मानसिक द्वंद्व	: Psychological conflict
आनुवंशिकता	: Heridity
वातावरण	: Milieu
तनाव	: Tension
सामाजिक सत्य	: Social truth / reality
परिवेश	: Mileu / atmosphere

7.6 अभ्यास

7.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. भारतीय चिंतन द्वारा प्रतिपादित साहित्य अध्ययन की पद्धतियों का परिचय दीजिए।
2. प्लेटो और अरस्तू के विचारों के संदर्भ में आलोचना-पद्धति की चर्चा कीजिए।
3. ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति के विकास पर चर्चा कीजिए।
4. मनोविश्लेषणात्मक आलोचना-पद्धति के गुणों का विवेचन कीजिए।
5. मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

7.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

1. आलोचना की पद्धतियों के कार्यों का विश्लेषण कीजिए।
2. भारतीय परंपरा में आलोचना के कौन से दो प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं? समझाइए।
3. साहित्य अध्ययन की पद्धतियों के विकास पर प्रकाश डालिए।
4. नैतिकतावादी आलोचना-पद्धति का परिचय दीजिए।
5. एडिसन के विचारों पर आधारित आलोचना पद्धतियों का विवेचन कीजिए।
6. ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति किसे कहते हैं? स्पष्ट कीजिए।
7. मनोविश्लेषणात्मक आलोचना -पद्धति के दोषों का विवेचन कीजिए।
8. मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति के दोषों का विवेचन कीजिए।

7.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

7.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: आलोचना किसे कहते हैं?

उत्तर: साहित्य अध्ययन की विविध पद्धतियों को ही 'आलोचना' का नाम दिया गया है। इसकी परिभाषा देते हुए डॉ. श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि 'साहित्य क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों की विवेचना करना और उसके संबंध में अपना मत प्रकट करना 'आलोचना' कहलाता है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या माने तो आलोचना को इस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।' इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि साहित्य अध्ययन की पद्धति चाहे कोई भी हो वह साहित्य की व्याख्या करती है। अर्थात् यदि कोई अच्छा कवि जीवन की व्याख्या करता है, तो एक अच्छा आलोचक हमें वह व्याख्या समझाने में सहायक होता है। आलोचना की इसी 'सहायक' होने की धारणा के आधार पर बाबू गुलाबराय ने आलोचना के उद्देश्य को इन शब्दों में प्रस्तुत किया 'आलोचना का मूल उद्देश्य-कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना और साहित्य की गतिविधि निर्धारित करने में योग देना है।'

7.8 पठनीय पुस्तकें

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत	:	गोविन्द त्रिगुणायत
नया काव्य नए मूल्य	:	ललित शुक्ल, 1979. दिल्ली: मैकमिलन
साहित्य और आलोचना	:	डॉ. नामवरसिंह, 1962. इलाहाबाद: नया साहित्य प्रकाशन
साहित्यालोचन	:	बाबू श्यामसुन्दर दास
भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका	:	डॉ. नगेन्दे, 1955. दिल्ली: ओरिएण्टल पंडरि
पाश्चात्य समीक्षा: एक परिदृश्य	:	रामेश्वर प्रसाद सिंह, 1976. पटना: अनुपम प्रकाशन
नई समीक्षा: नए संदर्भ	:	डॉ. नगेन्दे, 1970. दिल्ली: नेशनल
समीक्षा के मान और हिन्दी	:	प्रतापनारायण टंडन, 1965. लखनऊ: विवेकप्रकाशन
समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ	:	
Principles of Literary Criticism	:	1924 I.A. Richards, Rontledge and Kegan Paul Ltd. : London.
Fundamentals of Literary Criticism	:	1974, Mark Roberts, Blackwell: Oxford
हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास	:	डॉ. भगीरथ मिश्र
पाश्चात्य साहित्य चिंतन	:	निर्मला जैन, कुसुम बाँठिया, दिल्ली: राधाकृष्ण
भारतीय काव्य शासक	:	कृष्णबल: दिल्ली: राधाकृष्ण

इकाई-8: साहित्यिक आलोचना: परिभाषा और प्रकार्य

- 8.0 विषय प्रवेश
- 8.1 पाठ का उद्देश्य
- 8.2 पाठ-परिचय
- 8.3 मूलपाठ
- 8.4 सारांश
- 8.5 शब्दार्थ
- 8.6 अभ्यास
 - 8.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 8.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 8.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 8.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 8.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 8.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.1 उद्देश्य

'प्रस्तुत पाठ में साहित्यिक आलोचना की परिभाषा और उसके प्रकार्य पर विचार किया गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- साहित्यिक आलोचना की परिभाषा पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- उसके प्रकार्य पर विचार कर सकेंगे।
- रूपवादी और यथार्थवादी आलोचना की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- आलोचना के उद्देश्य पर विचार कर सकेंगे।
- साहित्यिक आलोचना की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।

8.2 पाठ परिचय

प्रस्तुत पाठ में भारतीय और पाश्चात्य आलोचना-परंपरा के संदर्भ में आलोचना को परिभाषित किया गया है। 'साहित्य' की आलोचना का केन्द्र बिन्दु क्या है? इस प्रश्न को 'साहित्य' की परिभाषा के संदर्भ में उठाया गया है। आलोचना अपने प्रकार्य में कृति के गुण-दोष का जो विवेचन करती है, उसके पीछे साहित्य का प्रयोजन व साहित्यकार का दायित्व प्रमुख होता है। इस चर्चा के साथ-साथ आलोचना के प्रमुख वर्गों व वर्गीकरणों का जो प्रकार्य-गत विभाजन किया गया है। आलोचना का प्रमुख प्रकार्य 'मूल्यांकन' है। इसकी पूर्ति में वह जिन प्रक्रियाओं-प्रणालियों को अपनाता है, उनका परिचय भी प्रस्तुत पाठ देता है।

भारतीय काव्य परंपरा के विश्लेषण को वैज्ञानिक आधार देते हुए उसके उपयोगितावादी-रीतिवादी दृष्टिकोणों का परिचय दिया गया है। साहित्यकार के दायित्व, पाश्चात्य आलोचना के वर्गीकरण के साथ नई आलोचना की चर्चा द्वारा आलोचना के प्रमुख प्रकार्य पर बल दिया गया है।

8.3 मूल पाठ

काव्य-समीक्षा का प्रारंभ भारत में अतिप्राचीन काल से माना जा सकता है। काव्य के लक्षण, काव्य के स्वरूप, काव्य के गुण-दोष पर विचार करने के लिए भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा को यदि देखें तो हमें 'शास्त्रीय आलोचना' का प्रादुर्भाव भरतमुनि के ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' से मानना चाहिए। भरतमुनि के इस ग्रंथको अनेक विद्वानों ने 'काव्य-स्वरूप-शास्त्र' और 'पंचमवेद' की संज्ञा भी दी है। इसके बाद शास्त्रीय आलोचना का विकास हमें छः प्रमुख संप्रदायों के रूप में दिखाई देता है जिसे हम रस-सिद्धांत, अलंकार-सिद्धांत, रीति-सिद्धांत, वक्रोक्ति-सिद्धांत, ध्वनि-सिद्धांत और औचित्य-सिद्धांत के नाम से जानते हैं।

यह माना जाता है कि प्राचीन भारतीय आलोचना दो हजार वर्षों के विकास की एक धारा है। सूत्रकालीन 'नाट्यशास्त्र' से लेकर सत्रहवीं शताब्दी में शाहजहाँ के दरबार के पंडितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' के बीच अनेक आचार्यों-विचारकों ने उसका विकास किया है।

आचार्य नंददुलारे बाजपेयी ने भारतीय काव्यशास्त्र की इस पूरी परंपरा को चार युगों में बाँट कर देखा है:-

1. भारतीय काव्यशास्त्र के प्रारंभिक निर्माण का युग: उद्भव काल से लेकर 'नाट्यशास्त्र' तक, जिसमें काव्य से संबद्ध वस्तुओं का व्यवस्थित नामकरण हुआ और काव्य के प्रधान तत्व रस-सिद्धांत के रूप में खोज किए गए।
2. अन्वेषण और विवेचन का युग जिसमें एक सुव्यवस्थित काव्य-दर्शन का अविर्भाव हुआ तथा रस या काव्य-तत्व के समस्त पक्षों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से अन्वेषण की गई।
3. काव्य तत्व चिंतन का युग जिनमें अनेक काव्य-संबंधी मत प्रवर्तित और प्रतिष्ठित हुए और उनके आधार पर अनेक काव्य-संप्रदायों की स्थापना हुई।
4. समन्वय-युग जो दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक चलता है जिसमें मम्मट द्वारा विभिन्न मतों को समन्वित करने का कार्य पंडितराज जगन्नाथ तक बराबर चलता रहा।

इस प्रकार भारतीय आलोचना की परंपरा प्राचीन और विशाल है। रस, ध्वनि और वक्रोक्ति सिद्धांत विश्व साहित्यालोचना को उसकी देन है। इन सिद्धांतों में अनेक सार्वजनिक और सार्वभौमिक नियम हैं जो हमारी आधुनिक मान्यताओं के भी एक समृद्ध परंपरा के रूप में सहयोगी बनते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के बाद भारतीय आलोचना का आगे विकास नहीं हुआ। रीतिकालीन काव्य ने भी इस परंपरा को क्षति पहुँचाई और विकृत किया। बीसवीं शताब्दी में आचार्य राम चन्द्र शुक्ल और अन्य विचारकों के प्रयत्नों के बावजूद इसका विकास न हो सका। परन्तु इसकी परंपरागत रचनाएँ अपने में अति महत्वपूर्ण हैं। भारतीय आलोचना परंपरा पर यह टिप्पणी हमें आगे आनेवाली चर्चाओं को समझने में मदद देगी।

8.3.1 साहित्य और उसका उद्देश्य

आलोचना की परिभाषा और उसके प्रकार्यों को देखने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि साहित्य क्या है? क्योंकि आलोचना का संबंध साहित्य से ही रहता है। सामान्य रूप से साहित्य को कला के अंतर्गत ही रखा जाता है। भरतमुनि ने भी नाट्यशास्त्र के विशद विवरण के लिए जिन सार्वभौम सौंदर्य-नियमों की उद्भावना की है, वे अन्य कला-माध्यमों पर भी अवान्तर से लागू होते हैं। कला की परिभाषा इन शब्दों में दी गई है- 'कला किसी वस्तु को आकर्षक, सुन्दर और चमत्कारपूर्ण

बनाने या प्रस्तुत करने का ढंग है। संभवतः इसीलिए डा. जानसन ने कविता की परिभाषा देते समय उसे कला की श्रेणी में ही रखा। A poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason.

पाश्चात्य समीक्षक लेंसिंग (1929-1981) ने सर्वप्रथम अन्य कलाओं से साहित्य को अलग किया और यह कहा कि कविता, चित्र, मूर्ति के माध्यम की भिन्नता, उनकी अभिव्यक्ति की प्रणाली में भी भिन्नता लाती है। इस संदर्भ में ही आगे काव्य को कला मानते हुए भी यह देखने का प्रयत्न हुआ कि काव्य का मूल उद्देश्य अन्य कलाओं के उद्देश्य से भिन्न या अधिक होता है। साहित्य समीक्षा में काव्य के उद्देश्य के रूप में मन का संस्कार करना, सत्य का अनुसंधान करना, मानव जीवन की सांस्कृतिक प्रगति करना, भाव संप्रेषण करना, संवेदनशीलता बढ़ाना, वैचारिक क्रांति करना और सामाजिक विकारों पर प्रहार करना आदि को विभिन्न विद्वानों ने निश्चित किया है। अन्य कलाएँ इतने सारे उद्देश्यों की पूर्ति नहीं करतीं। साहित्य के इन उद्देश्यों को साहित्यिक आलोचना में एकाकार मानकर इन्हें आधार रूप में देखते हुए कृतियों का मूल्यांकन करने की एक लंबी परंपरा हमें दिखाई देती है।

8.3.2 साहित्यिक आलोचना के प्रमुख प्रकार्य

आलोचना का प्रकार्य मूलतः दो प्रश्नों से जुड़ा रहता है। -साहित्य क्या है? और साहित्य की विभिन्न कृतियों में से कौन श्रेष्ठ है और कौन कम श्रेष्ठ है तथा कौन स्थायी मूल्य की है और कौन अस्थायी मूल्य की? पहले प्रश्न के संदर्भ में आलोचना अपने प्रकार्य के अंतर्गत साहित्य के प्रयोजन, उसके स्वरूप, उसकी रचना-प्रक्रिया, उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति व संप्रेषणीयता जैसे पक्षों पर विचार करती है। अतः पहले प्रश्न को व उससे संबद्ध आलोचना-प्रकार्य को दार्शनिक कहा गया है। इस प्रश्न पर भरतमुनि और प्लेटो से लेकर विभिन्न भारतीय और पाश्चात्य विचारकों ने स्थापनाएँ की। दूसरा प्रश्न आलोचना की प्रक्रिया को और उसके प्रकार्य को एक दूसरा मोड़ देता है, जिसमें आलोचना के केन्द्र में कृतियों या प्रवृत्तियों की विचार-वस्तु, उसकी रूप-सौन्दर्य विवेचन, उसकी मूलभावना और उसका मूल्यांकन रहता है, जिसे बाद में 'व्यावहारिक आलोचना' का नाम दिया गया है।

साहित्य के संदर्भ में उठाए जानेवाले दोनों प्रश्न एक दूसरे से पूरी तरह असंबद्ध नहीं हैं। इस बात का प्रमाण भारतीय और पाश्चात्य काव्य सिद्धांत हैं। साहित्य के सिद्धांत, साहित्यिक कृतियों के विवेचन, वर्गीकरण और मूल्यांकन के सुदृढ़ आधार के अभाव में निर्मित नहीं किए जा सकते। यही कारण है साहित्य की आलोचना के साथ एक प्रश्न हमेशा केन्द्र में रहा है कि साहित्य का साध्य क्या है? इस प्रश्न के साथ ही आलोचना दृष्टि में कई प्रकार का विस्तार हुआ। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि क्या साहित्य स्वयं अपना साध्य नहीं है। यदि उसका साध्य कुछ और है तो क्या साहित्य साधन मात्र है? दार्शनिक आलोचना ने इन प्रश्नों के समाधान देने के प्रयत्न किए। इस आलोचना में साहित्य की साध्यता को सोपानबद्ध माना गया क्योंकि हम उसमें एक तारतम्यता का अनुभव करते हैं। अतः यह माना गया है कि साहित्य में एक सोपान के प्राप्त हो जाने पर दूसरा सोपान साध्य हो जाता है और पहला साधन। अर्थात् सोपानबद्धता साहित्य का समग्र स्वरूप है। इसी के आधार पर हम किसी साहित्य का कालक्रम, उसकी प्रवृत्ति आदि को निर्धारित कर पाते हैं। आलोचना में साध्य-साधन के इस प्रश्न की जटिलताओं की भी व्याख्या की गई। पहले तो साहित्य को एक रचना के रूप में देखने पर यह विचार आया कि साहित्य स्वयं एक सृष्टि है, एक काल्पनिक जीवन है, तब उसकी सोपानबद्धता की बात सार्थक नहीं हो सकती। दूसरे यह भी देखा गया कि साहित्य के साधन युग के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं और उनके रूप भी युग-युग में बदलते रहते हैं। तब सोपानबद्धता को स्पष्ट रूप में कैसे देखा जा सकता है। समाधान रूप में यह कहा गया कि यदि आलोचना साहित्यिक चेतना, प्रबुद्धता और चेतन-जगरूकता से संबद्ध हो तो वह बदलते हुए रूपों को भी एक सोपानबद्ध रूप में विवेचित कर सकती है।

व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि साहित्य के मूल्यांकन की दृष्टि से आलोचना की आधार सामग्री के रूप में साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास-क्रम को महत्व दिया गया

है। इस विकास-क्रम का विश्लेषण आलोचना को ऐतिहासिक तथ्य प्रदान करता है, जिन्हें हम 'साहित्यिक परंपराएँ' कहते हैं। ये परंपराएँ विभिन्न प्रकृति की होती हैं। राष्ट्रों को पतन से उत्थान की और ले जानेवाली, युग परिवर्तन करनेवाली, समाज का संस्कार करने वाली परंपराएँ हमें संसार के विविध साहित्यों में स्पष्ट दिखाई देती हैं। भारतीय साहित्य में भी हम भिन्न परंपराओं की गहराई की अनुभूति करते हैं, इनमें आध्यात्मिक परंपरा, दार्शनिक परंपरा, शास्त्रीय परंपरा, धर्म शास्त्रीय परंपरा को साहित्य के प्रारंभिक स्वरूपों में देखा जा सकता है। बाद के भारतीय साहित्य में हमें सांस्कृतिक, राजनैतिक, सामाजिक परंपराएँ भी मिलने लगती हैं। साहित्य आलोचना के प्रकार्यों में परंपराओं को कवि की रचनात्मक प्रतिमा और उसके दायित्व के साथ जोड़ कर देखना एक प्रमुख प्रकार्य है।

दार्शनिक आलोचना में आलोचना का एक महत्वपूर्ण प्रकार्य हमें और दिखाई देता है और वह साहित्यकार से संबद्ध है। आलोचना के इस प्रकार्य में प्रमुख बल साहित्यकार के दायित्व पर दिया जाता है। आलोचना में दायित्व के इस प्रश्न को साहित्य के उद्देश्य और साहित्य के प्रयोजन से जोड़ा जाता है। ये दोनों प्रारंभिक आलोचना प्रक्रिया के आधार बिन्दु रहे हैं। इस दृष्टि से आलोचना में कला को, मनोरंजन को, सेवा को, जीवन से पलायन को समय-समय पर साहित्य का प्रयोजन माना गया है। प्रयोजन के ही संदर्भ में साहित्यिक आलोचना साहित्य के कार्य पर भी चर्चा करती है। कार्य भी प्रयोजन की ही भाँति बहुमुखी और बहुरूपी होता है परन्तु दोनों में मूल भेद भी है। प्रयोजन को ध्यान में रख कर कर्ता का विश्लेषण किया जाता है और कार्य को सामने रख कर कृति और उसके प्रभाव का। इस प्रकार साहित्यिक-आलोचना प्रयोजन की दृष्टि से साहित्यकार की परख करती है और कार्य की दृष्टि से सामाजिक दायित्वों की। इस प्रकार्य की दृष्टि से आलोचना में कृति और उसके प्रभाव की दृष्टि से दायित्व के दो तत्व प्रमुख माने गए हैं: पाठक के अनुभव-जगत को विकसित करना और उसे संपन्न बनाना। साहित्य को कल्पना और भाव प्रधान मानते हुए साहित्यकार को अद्भुत चेतना, असाधारण जागरूपकता से संपन्न माना गया है। इन्हीं दो गुणों के आधार पर वह अपनी कृति द्वारा समाज की आलोचना भी करता है और उसे प्रोत्साहित कर आगे बढ़ने का मार्ग भी दिखाता है। इस दृष्टि से आलोचना साहित्यकार के दायित्व को दोहरा मानती है— अपने प्रति, अपने कृतित्व के प्रति और समाज के प्रति। आलोचना अपने प्रति साहित्यकार का दायित्व तब पूरा मानती है जब वह अपने अनुभवों को सच्चाई के साथ अभिव्यक्ति देता है। कृति के प्रति उसका दायित्व तब पूरा माना जाता है जब वह उसे पुष्ट और विकासशील रूप प्रदान करे। समाज के प्रति उसका दायित्व तब पूरा माना जाता है जब समाज के प्रति और सामाजिक परिवर्तनों के प्रति उसकी प्रौढ़ धारणा कृति में व्यक्त हो। इस प्रकार आलोचना प्रक्रिया में कृति के विश्लेषण-मूल्यांकन में उसकी सामाजिक-चेतना को पहचानने में तथा उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करने में यह चिंतन व्यावहारिक आलोचना में भी सहयोगी बना।

साहित्यिक आलोचना के व्यावहारिक रूप में हमें साहित्य के मूल्य, उसकी प्रासंगिकता, उसकी कालजयी प्रवृत्ति पर प्रकाश डालने का प्रकार्य दिखाई देता है। इन तीन दृष्टियों पर विचार करने के लिए आलोचना की एक धारणा ने सहायता पहुँचाई, जिसे 'साहित्यिक अभिरुचि' कहा जाता है। इस दृष्टि से ही किसी कृति का आज के समाज में क्या मूल्य है, इसका निरीक्षण करने की ओर आलोचक प्रवृत्त होता है। हर दो युगों के संधिकाल पर पहले के युग के साहित्य का मूल्यांकन भी आलोचना इन्हीं दृष्टियों से करती है और एक ही युग की रचनाओं के स्थायी मूल्यों एवं प्रासंगिकता के संदर्भ में उठने वाले प्रश्न भी इन्हीं दृष्टियों से जुड़े हुए हैं। साहित्य को स्थायी मूल्य का बनाने, उसे युग-युगों तक प्रासंगिक बनाए रखने, पाठक में अच्छे साहित्य को पढ़ने की अभिरुचि और उसे समझने की क्षमता उत्पन्न करने के लिए आलोचना साहित्यकार और आलोचक दोनों के लिए कुछ अनिवार्य गुण भी निर्दिष्ट करती है। साहित्यकार के संदर्भ में वह इन गुणों की चर्चा करती है:

1. जीवन-जगत के प्रति उसकी धारणा उच्च, स्वस्थ और सुन्दर होनी चाहिए।
2. जीवन-जगत का उसे गहरा और यथातथ्य अनुभव होना चाहिए।
3. उसके भीतर सत्य को सुन्दर रूप में देखने की प्रतिभा और उसके प्रकाशन की क्षमता होनी चाहिए।

4. उसके भाव सुलझे हुए, पूर्ण और रमणीय होने चाहिए और
5. उसकी भाषा, समर्थ, प्रांजल, स्पष्ट, शुद्ध और प्रयोगबद्ध होनी चाहिए।

आलोचना अपने प्रकार्य में उपरोक्त बिन्दुओं को साथ लेकर चलनेवाले साहित्य को ही श्रेष्ठ और सम्यता, संस्कृति, मानवता के विकास में समर्थ मानती है। साहित्यिक अभिरुचि को विकसित करने में आलोचक के दायित्व पर विचार करना भी आलोचना का एक प्रकार्य है। आलोचक निष्पक्ष ढंग से अच्छे-बुरे साहित्य का स्पष्ट विवेचन करे, यह अनिवार्य है क्योंकि किसी भी देश के साहित्य में अच्छे लेखक तभी उत्पन्न होते हैं जब उसके आलोचक निष्पक्ष और तटस्थ होते हैं।

उपरोक्त विचारों के संदर्भ में देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि साहित्यिक आलोचना का प्रकार्य बहु आयामी है। जब हम उसके प्रकार्य को रचना के सौंदर्य से जोड़कर देखते हैं तब हमें अनेक समीक्षा-सिद्धांत दिखाई देते हैं। भारतीय-पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों की रचना का मूल उद्देश्य यही था। दूसरा प्रकार्य रचना के मर्म का उद्घाटन है अर्थात् रचना की जटिल प्रक्रिया को, उसके मंतव्य को विवेचित करते हुए, उसके मर्म को पाठक तक पहुँचाता है। इस मर्म तक पहुँचने के लिए ही आलोचना में इससे जुड़े अन्य प्रश्न भी विवेचित होते हैं। जैसे रचना क्या है? कैसी है? रचना क्या है? का प्रश्न आलोचना को रचना की संवेदना की गहराई में ले जाता है और दूसरा प्रश्न आलोचना के प्रकार्य को रचना और जीवन के साथ उसके संबंधों के विवेचन से जोड़ देता है।

8.3.3 साहित्य-आलोचना: स्वरूप, परंपरा और प्रकार

(अ) स्वरूप:

साहित्य समीक्षा का स्वरूप अत्यंत व्यापक है। यही कारण है कि जब हम साहित्यिक आलोचना को उसके व्यापक स्वरूप के साथ देखने चलते हैं, तो हमें उसके अनेक रूपगत और स्तरगत भेद दिखाई देते हैं। हम मूलग्रंथों की टीका और कुंजियों को भी समीक्षा ग्रंथ कहते हैं। सामान्य आलोचनात्मक ग्रंथों को भी हम समीक्षा के अंतर्गत ही रखते हैं और साहित्य की गहन-गंभीर विवेचनाओं को भी हम समीक्षा मानते हैं। काल, विद्या, कृति भी आलोचना के स्वरूप में परिवर्तन का द्योतन कराते हैं इसके साथ ही साहित्य-आलोचना की प्रक्रिया में कुछ ऐसे आधार बहुत पहले से निर्धारित कर दिये गये हैं जिनमें से कुछ को या एक को केन्द्र में रखकर आलोचना करने से आलोचना का स्वरूप भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए भारतीय काव्य-चिंतन-परंपरा में ध्वनि, अलंकार, रस आदि सिद्धांतों के रूप में जो आधार दिये गये हैं, वे आलोचना के अनेक स्वरूपों में बाद में विस्तार पाते हैं। आलोचना के इस स्वरूप को ही यहाँ हम परंपरा में देखते हुए उसके विविध प्रकारों की चर्चा करेंगे।

(ब) परंपरा और प्रकार:

भारतीय परंपरा में प्रमुख आचार्यों ने समीक्षा की जो दृष्टि हमें दी, उसके आधार पर ही हमें आलोचना के दो मूल प्रकार दिखाई देने लगते हैं- उपयोगितावादी आलोचना और रीतिवादी आलोचना। यह भी कहा जा सकता है कि बाद में भारतीय या पाश्चात्य आलोचना में जितने भी समीक्षा-सिद्धांत आए उनमें से सभी कुछ सूक्ष्म भेदों के साथ इन्हीं दोनों के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। उपयोगितावादी आलोचना प्रकार ने साहित्य के सामाजिक, आध्यात्मिक प्रयोजन और उसकी विषयवस्तु पर अधिक बल दिया और रीतिवादी आलोचना प्रकार के केन्द्र में साहित्य का सौन्दर्य-पक्ष और उसका रूप-तत्त्व रहा। भारतीय परंपरा में ही जो छः प्रमुख समीक्षा-सिद्धांत हैं उनमें से रस-सिद्धांत, ध्वनि-सिद्धांत और औचित्य-सिद्धांत को हम उपयोगितावादी कह सकते हैं तथा शेष तीन सिद्धांतों-अलंकार, रीति और वक्रोक्ति-को रीतिवादी समीक्षा दृष्टि के अंतर्गत रख सकते हैं।

पाश्चात्य समीक्षा दृष्टि ने भी आलोचना के प्रकारों को वर्गीकृत करके हमारे समक्ष रखा है:

1. निर्णयात्मक आलोचना
2. व्याख्यात्मक आलोचना
3. ऐतिहासिक आलोचना
4. मनोवैज्ञानिक आलोचना
5. प्रभावात्मक आलोचना
6. तुलनात्मक आलोचना

परन्तु इन प्रकारों के वर्गीकरण के आधार को महत्वपूर्ण नहीं माना गया है। क्योंकि इनके वर्गीकरण का आधार ही मौलिक भेदों पर आधारित नहीं है। यह वर्गीकरण अवैज्ञानिक भी है क्योंकि गंभीर आलोचना सदैव निर्णयात्मक होती है। इस निर्णय में संदर्भानुसार अन्य कृतियों से तुलना, उस कृति में व्यक्त अनुभवों का मनोवैज्ञानिक और व्याख्यात्मक विवेचन तथा उसकी ऐतिहासिक-सामाजिक पृष्ठभूमि का निदर्शन अनिवार्यतः आता है। जबकि उपरोक्त वर्गीकरण इन वर्गों को अत्यंतिक और स्वतंत्र मान लेता है। अतः इस प्रकार आलोचना के जो प्रकार निर्धारित किये गए हैं वे मात्र सुविधा की दृष्टि से किए गए हैं ऐसे कृत्रिम वर्गीकरण साहित्यलोचन की मुख्य समस्याओं की जानकारी भी साहित्य के विद्यार्थी को नहीं दे पाते। इस प्रकार के आलोचना-प्रकारों के अवैज्ञानिक वर्गीकरण के स्थापन पर पाश्चात्य आलोचना दृष्टि को दो मुख्य प्रकारों में रखकर देखना अधिक वैज्ञानिक है: रूपवादी और यथार्थवादी।

पाश्चात्य आलोचना के प्रकारों का निर्धारण साहित्य की प्रवृत्तियों के आधार पर भी दिखाई देता है। प्रारंभिक पाश्चात्य आलोचना का स्वरूप उपयोगितावादी था। अतः आदर्श-स्थितियों की अपेक्षा, उसमें साहित्य के हर स्तर पर की जाती थी। इसीलिए इस प्रकार की आलोचना में हमें रचना के कुछ भेद भी बताए जाते हैं जैसे कथानक (सरल, जटिल), चरित्र, पदयोजना, शैली, समय इत्यादी। इन भेदों के संदर्भ में ही इनके आदर्श रूप के कृति में होने या न होने के आधार पर कृति के गुण-दोष भी निर्धारित कर दिए जाते थे। इतना ही नहीं इन्हीं के आधार पर 'काव्य दोष' भी सिद्धांत के रूप में प्रतिस्थापित किये गए हैं।

इसके बाद पाश्चात्य-आलोचना का जो स्वरूप दिखाई देता है, उसमें काव्यगत विधाओं के विश्लेषण को आधार बनाया गया है। महाकाव्य, गीति काव्य, प्रबंध काव्य की प्रवृत्तियों, उनकी विशेषताओं, उनके भेदों का निर्धारण और सिद्धांतों के आधार पर प्राप्त कृतियों की समीक्षा, इस आलोचना प्रक्रिया में हमें दिखाई देती है।

इसके बाद काव्य के सौंदर्य, उसकी संघटना को केन्द्र में रखकर अभिव्यज्जनावादी आलोचना का एक रूप हमें पाश्चात्य आलोचना-दृष्टि में दिखाई देता है। यह दृष्टि हमें भारतीय काव्यशास्त्र में विस्तार से विवेचित मिलती है।

और आगे चलने पर स्वच्छंदतावादी आलोचना दृष्टि और समाजशास्त्रीय आलोचना दृष्टि दिखाई देती है। स्वच्छंदतावादी धारा काव्य के बंधनों को नकारते हुए काव्य को स्वतंत्र और स्वायत्त रूप में प्रकृति, आध्यात्मिक और आनंद से जोड़ती है। इस दृष्टि को ही 'कला, कला के लिए' या 'रूपवादी सिद्धांत' के रूप में देखा गया। प्रवृत्तियों के आधार पर इसमें प्रतीकवाद, प्रभाववाद, प्रयोगवाद जैसे उपभेद भी आ जाते हैं। समाजशास्त्रीय आलोचना अपने केन्द्र में पुराने प्रश्न 'साहित्य की सामाजिक प्रयोजनीयता' को रखती है जो प्रवृत्ति की दृष्टि से यथार्थवाद, प्रगतिवाद, समाजवाद, यथार्थवाद जैसे उपभेद निर्मित करती है।

जब भौगोलिक दूरियाँ कम हुई और राष्ट्रीय-अंतराष्ट्रीय विचारों, साहित्यिक अभिरुचियों तथा आलोचना दृष्टियों और राष्ट्रीय साहित्य एक दूसरे के निकट आए, तब आलोचना का एक और प्रकार्य बहुत तेजी से विकसित हुआ। इस दृष्टि का प्रमुख प्रकार्य था- दो साहित्यों के संदर्भ में साहित्य और परिवेश, राष्ट्र और उसकी अस्तित्वता, राष्ट्रीय एकीकरण तथा अंतराष्ट्रीय संबंधों-विचारधाराओं का अध्ययन। इस

अध्ययन-दृष्टि के द्वारा राष्ट्रीय-स्तर पर भिन्न-भिन्न भाषाओं में रचित साहित्य में धार्मिक, वादगत, दार्शनिक परंपराओं की समानता तथा काव्यरूपों के स्तर पर समानता देखते हुए 'राष्ट्रीय साहित्य' को 'एक' रूप में विवेचित करना है। विश्व साहित्य के संदर्भ में भी यह दृष्टि अपने देश के साहित्य और उसके दृष्टिकोण की तुलना, दूसरे देश के साहित्य और दृष्टिकोण से करते हुए, उनमें भाव एवं अनुभूति के स्तर पर समानताओं का दर्शन करती है। इसके साथ ही इस आलोचना प्रकार्य में अनेक वादों, विद्याओं के राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय प्रचलन के आधार पर उनका तुलनात्मक दृष्टि से आकलन भी प्रमुख है।

आलोचना में साहित्यिक प्रवृत्तियों के धरातल पर हमें साहित्य-विश्लेषण की कई पद्धतियाँ दिखाई देती हैं जिन्हें हम प्रतीकवादी, प्रभाव वादी, अभिव्यज्जनावादी, यथार्थवादी, समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक, प्रगतिवादी आदि नाम देते आए हैं। इन्हें आलोचना के मौलिक वर्ग नहीं कहा जा सकता बल्कि ये किसी कृति के अर्थ या रूप-सौंदर्य के अलग अलग तत्वों का विवेचन-मूल्यांकन करने की विशिष्ट प्रणालियाँ हैं। इन प्रणालियों का प्रयोग आलोचना की रूपवादी और यथार्थवादी प्रवृत्तियों के अंतर्गत किया जाता है।

प्रणालियों की भिन्नता आलोचना के प्रकार्य को विविधरूपी बनाती है। आलोचना का प्रमुख प्रकार्य कृति का मूल्यांकन करना है, चाहे वह किसी भी प्रणाली से उस प्रकार्य को पूरा करे। आलोचक चाहे लेखक की जीवनी का अध्ययन करके, उसकी कृति में उन घटनाओं और पात्रों की छाया देखे जो उसके जीवन में घटित हुई हैं, चाहे उसकी कृति में व्यक्त विचारों को जाँच कर, लेखक के दृष्टिकोण और विश्व-बोध को समझने की चेष्टा करे, चाहे उस कृति में व्यक्त सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि का उद्घाटन करे, चाहे पात्रों, घटनाओं, मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के रूप में जीवन के चित्र की सजीवता, सचाई, व्यापकता को परखे और चाहे केवल नाद-सौंदर्य, उक्ति चमत्कार, शिल्प विधान, शब्द-योजना, शैली आदि अभिव्यक्ति के माध्यमों में भी साधनों का विश्लेषण-अध्ययन करे, ये सब प्रणालियाँ कृति का मूल्यांकन करने में अपना योग देती हैं।

मूल्यांकन, आलोचना में प्रमुख प्रकार्य को 'रूपवादी' प्रवृत्ति जिसे 'नई आलोचना' का नाम दिया गया, नकारती है। यह दृष्टि साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन को अनावश्यक और साहित्येतर क्रिया घोषित करती है। लेकिन उसकी दृष्टि में भी किसी प्रकार का भाव, अर्थ या अनुभव मूल्यवान होता ही है। मूल्य हमारी भाव-चेतना का अभिन्न अंग होते हैं जिनके आधार पर हम अन्य वस्तुओं, कार्यों, घटनाओं का मूल्यांकन करते हैं। फिर भी नई आलोचना, आलोचना का प्रकार्य सिर्फ यह देखना-दिखाना भर मानती है कि कोई कृति अपने-आप में, एक विशिष्ट रूप-सृष्टि की दृष्टि से क्या है। आलोचना के प्रकार्य को इतना सीमित करके देखने के कारण, कई विचारधाराएँ इसके विरोध में आईं। यह माना गया कि आलोचना वही अच्छी होती है जो पाठक को रचना में प्रतिबिंबित वास्तविक जीवन की गहराई और वैविध्य को दिखाने में समर्थ हो सके। कला अनुभव की अभिव्यक्ति है जिसका प्रयोजन यह है कि लोग उसमें व्यक्त अनुभव की अनुभूति प्राप्त करें। इसलिए आलोचना का कार्य पाठक की इस अनुभूति को गहरा और संपूर्ण बनाने में योग देता है। आलोचना का कार्य रचना के ढाँचे में रूपगत आंतरिक संगति, विरोधाभास, श्लेष और वक्रोक्ति का विश्लेषण भर करना नहीं हो सकता।

अतः साहित्य की आलोचना का मुख्य प्रकार्य मूल्यांकन ही है। मूल्यांकन को हम किसी कृति के संबंध में दिए गए अपने निर्णय का अंतिम भाग भी कह सकते हैं। मूल्यांकन से पहले आलोचना यह भी निर्णय लेती है कि आलोच्य-कृति साहित्य की कोटि में आती है या नहीं? इस प्रकार किसी कृति के मूल्यांकन से पहले उसकी 'साहित्यिकता' की जाँच-परख करना आलोचना का पहला कार्य है क्योंकि आलोचना केवल इन कृतियों की ही होती है जो साहित्यिक हैं जिन्हें साहित्य की कोटि में रखा जाता है। नई-नई रचनाओं के संदर्भ में यह कोटि-निर्धारण आवश्यक है। प्राचीन रचनाएँ जो कलात्मक बन गई हैं, उनकी प्रासंगिकता का विवेचन, उनके काव्यमयी होने के कारणों की खोज आदि किया जाता है। कोई कृति यदि साहित्य की कोटि में नहीं आती तो उसके मूल्यांकन का भी प्रश्न नहीं उठता।

8.4 सारांश

आलोचना का प्रमुख प्रकार्य श्रेष्ठ कृतियों में व्यक्त मूल्यों के ग्रहण में पाठक की सहायता करना है। पाठक की अनुभूति-संवेदना का विस्तार और मानवीकरण हो सके, इसमें योगदान देना है। अर्थात् आलोचना का कार्य किसी रचना में निहित संपूर्ण मूल्यों के प्रति पाठकों को सचेत करना और संवेदनशील बनाना है।

रचना या कृति एक जटिल-प्रक्रिया द्वारा निर्मित होती है, जिसमें सामाजिक परिस्थितियाँ, लेखक, उसका अनुभूत-यथार्थ, उसका काव्य-यथार्थ सब एक संश्लिष्ट रूप में व्यक्त होते हैं। अतः किसी कृति में निहित संपूर्ण मूल्यों का उद्घाटन एक आलोचक नहीं करता। इसीलिए हमें एक ही महान रचना के संपूर्ण मूल्यों का उद्घाटन विभिन्न युगों में, विभिन्न दृष्टियों और पद्धतियों से होता हुआ दिखाई देता है।

आलोचना-प्रकार्य में दो पूरक पक्ष उसकी प्रक्रिया को वैज्ञानिक एवं पूर्ण बनाते हैं। एक पक्ष कृति के आंतरिक सौंदर्य या सौष्ठव को उभारता है। अर्थात् पहला पक्ष रचना में जो भाव, विचार या वस्तु अभिव्यक्त की जाती है उसे अभिव्यक्ति देनेवाली रूप-योजना की कलात्मक और प्रभाविष्णुता का विश्लेषण-विवेचन करता है। और दूसरा पक्ष कृति में व्याप्त मानव-मूल्यों की सच्चाई और उसकी गहनता का विवेचन परंपरा व इतिहास के परिप्रेक्ष्य में करता है। आलोचना में इन दोनों पक्षों में से किसी पक्ष की अवहेलना करने से साहित्यिक-कृति का मूल्यांकन अधूरा या एकांगी बन जाता है। मूल्यांकन या आलोचना प्रकार्य के प्रमुख लक्ष्य की दृष्टि से उसका आधार जीवन का व्यापक सत्य ही होता है। कृति की सहायता या उसके स्थायी मूल्यों की चर्चा व्यापक जीवन के सदर्थ में करना ही आलोचना का आदर्श प्रतिदर्श है।

8.5 पारिभाषिक शब्द और अंग्रेजी पर्याय: अर्थ एवं व्याख्या

संवेष्टना	Research	बहुआयामी	Multidimensional
प्रकार्य	Functions	उपयोगितावादी	Utilitarian
प्रवृत्ति	Trend	स्वच्छंदतावादी	Romantic
विचार	Thought	तुलनात्मक	Comparative
वस्तु	Content	प्रतीकवादी	Symbolism
मूल्यांकन	Evaluation	प्रगतिवादी	Progressive
व्यावहारिक आलोचना	Practical Criticism	अभिव्यजनावादी	Expressionism
प्रासंगिकता	Relevance	प्रणाली	Technique
अनुभूति	Feeling	प्रतिक्रिया	Reaction
अभिव्यक्ति	Expression	चेतना	Conscious
बाह्य	Extrinsic	संवेदना	Emotion
मूल्य	Values	आंतरिक	Intensive

8.6 अभ्यास

8.6.1 निम्न लिखित प्रश्नों के उत्तर 250 शब्दों में लिखिए

1. प्राचीन भारतीय आलोचना के इतिहास पर प्रकाश डालिए।
2. आलोचना में 'दायित्व' के महत्व पर अपने विचार दीजिए।
3. परंपरागत आलोचना के वर्गीकरण को स्पष्ट कीजिए।
4. आलोचना में 'मूल्यांकन' के महत्व पर प्रकाश डालिए।

8.6.2 निम्न लिखित प्रश्नों के उत्तर 100 शब्दों में लिखिए

1. 'साहित्य कला है' क्या इस उक्ति से सहमत है?
2. आलोचना का प्रकार्य किन दो प्रमुख प्रश्नों से संबंध है?
3. लेखक और आलोचक के लिए आलोचना में कौन से गुण प्रमुख माने गए हैं?
4. तुलनात्मक आलोचना दृष्टि साहित्य के किन तत्वों का आकलन करती है?

8.7 नमूने के उत्तर

8.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: प्राचीन भारतीय आलोचना के इतिहास पर प्रकाश डालिए।

उत्तर: आलोचना का प्रारंभ भारत में अति प्राचीन काल से माना जा सकता है। काव्य के लक्षण, काव्य के स्वरूप, काव्य के गुण-दोष पर विचार करने के लिए भारतीय काव्य-शास्त्र की परंपरा को यदि देखें तो हमें 'शास्त्रीय आलोचना' का प्रादुर्भाव भरतमुनि के ग्रंथ 'नाट्य शास्त्र' से मानना चाहिए। भरत मुनि के इस ग्रंथ को अनेक विद्वानों ने 'काव्य-स्वरूप-शास्त्र और 'पंचम-वेद' की भी संज्ञा दी है। इसके बाद शास्त्रीय-आलोचना का विकास हमें छः प्रमुख संप्रदायों के रूप में दिखाई देता है जिसे हम रस-सिद्धांत, अलंकार-सिद्धांत, रीति-सिद्धांत, वक्रोक्ति-सिद्धांत, ध्वनि-सिद्धांत और औचित्य-सिद्धांत के नाम से जानते हैं।

यह माना जाता है कि प्राचीन भारतीय आलोचना दो हजार वर्षों के विकास की धारा है। सूत्रकालीन 'नाट्य शास्त्र' से लेकर सत्रहवीं शताब्दी में शाहजहाँ के दरबारी पंडितराज जगन्नाथ की 'रसगंगाधर' के बीच अनेक आचार्यों-विचारकों ने उसका विकास किया।

आचार्य नंददुलारे बाजपेयी ने भारतीय काव्य की इस पूरी परंपरा को चार युगों में बांटकर देखा है:

1. भारतीय काव्य शास्त्र के प्रारंभिक निर्माण का युग-उद्भव काल से लेकर 'नाट्य शास्त्र' तक, जिसमें काव्य से संबद्ध वस्तुओं का व्यवस्थित नामकरण हुआ और काव्य के प्रधान तत्व रस-सिद्धांत के रूप में खोज किया गया।
2. अन्वेषण और विवेचन का युग: जिसमें एक सुव्यवस्थित काव्य-दर्शन का आविर्भाव हुआ तथा रस या काव्य-शास्त्र के समस्त पक्षों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से गवेषणा की गई।
3. काव्य-तत्व चिंतन का युग-जिसमें अनेक काव्य संबंधी मत प्रवर्तित और प्रतिष्ठित हुए और उनके आधार पर अनेक काव्य-संप्रदायों की स्थापना हुई।

4. समन्वय युग: जो दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक चलता है जिसमें भ्रमट द्वारा वे भिन्न मतों को समन्वित करने का कार्य पंडितराज जगन्नाथ तक बराबर चलता रहा।

8.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: आलोचना का प्रकार्य किन दो प्रमुख प्रश्नों से संबद्ध है?

उत्तर: आलोचना का प्रकार्य मूलतः दो प्रश्नों से जुड़ा रहता है। साहित्य क्या है? और साहित्य की विभिन्न कृतियों में से कौन श्रेष्ठ है और कौन कम श्रेष्ठ है तथा कौन स्थायी मूल्य की है और कौन अस्थायी मूल्य की? पहले प्रश्न के संदर्भ में आलोचना अपने प्रकार्य के अंतर्गत साहित्य के प्रयोजन, उसके स्वरूप, उसकी रचना प्रक्रिया उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति व संप्रेषणीयता जैसे पक्षों पर विचार करती है। अतः पहले प्रश्न को व उससे संबद्ध आलोचना प्रकार्य को दार्शनिक कहा गया है। इस प्रश्न पर भरतमुनि और प्लेटो से लेकर विभिन्न भारतीय और पाश्चात्य विचारकों ने स्थापनाएँ की। दूसरा प्रश्न आलोचना की प्रक्रिया को और उसके प्रकार्य को एक दूसरा मोड़ देता है जिसमें आलोचना के केन्द्र में कृतियों या प्रवृत्तियों की विचारवस्तु उसका रूप-सौन्दर्य-विवेचन, उसकी मूल भावना और उसका मूल्यांकन रहता है जिसे बाद में व्यावहारिक आलोचना' का नाम दिया गया।

8.8 पठनीय पुस्तके

1. भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका : नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउज, नई दिल्ली।
2. आलोचना के सिद्धांत : शिवदान चौहान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. अरस्तू का काव्य शास्त्र : नगेन्द्र, भारतीय मंडल, इलाहाबाद।
4. पाश्चात्य काव्य शास्त्र : देवेन्द्रनाथ शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउज, नई दिल्ली।
5. प्लेटो के काव्य सिद्धांत : निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउज, नई दिल्ली।

इकाई-9: भारतीय आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान

- 9.0 विषय प्रवेश
- 9.1 पाठ का उद्देश्य
- 9.2 पाठ-परिचय
- 9.3 मूल पाठ
- 9.4 पाठ का सारांश
- 9.5 शब्दार्थ
- 9.6 अध्यास
 - 9.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 9.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 9.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 9.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 9.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 9.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.1 पाठ का उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में भारतीय आलोचना (काव्य शास्त्र) के विभिन्न सम्प्रदायों का परिचय और विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप-

- भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास को संक्षेप में जान सकेंगे।
- काव्य का स्वरूप क्या है, काव्य का प्रयोजन क्या है और काव्य के कितने प्रकार हैं।- इसका परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- भारतीय काव्य शास्त्र के अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि और औचित्य सम्प्रदायों की काव्य-सम्बन्धी मान्यताएँ क्या हैं तथा साहित्य की समझ विकसित करने में उनका क्या योगदान है इसकी संक्षेप में जानकारी पा सकेंगे।

9.2 पाठ परिचय

साहित्य शब्द और अर्थ के सहभाव के माध्यम से अनेक रूपों या विधाओं में प्रस्तुत होता है। साहित्य के गठन, प्रयोजन, प्रभाव आदि के सम्बन्ध में भारतीय काव्यशास्त्रियों (आलोचकों) ने ईसापूर्व से लेकर दीर्घकाल तक तर्क-वितर्क, विचार और विवेचन किया है। आरंभ में यहाँ कविता और नाटक के स्वरूप तथा प्रभाव संबंधी महत्वपूर्ण चिन्तन हुए तथा काव्य के शरीर और आत्मा की गंभीरता से जाँच-पड़ताल की गयी। इसी क्रम में भारतीय समीक्षा शास्त्र में कोई छह विचार-संप्रदाय सामने आये। ये अलंकारवादी, रीतिवादी, रसवादी, वक्रोक्तिवादी, ध्वनिवादी और औचित्यवादी कहलाये। इन्होंने अपने-अपने ढंग से साहित्य की संरचना, उसके स्वरूप और प्रभाव का विवेचन किया। आधुनिक काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रूप में एक महान आलोचकीय प्रतिभा ने साहित्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए व्यावहारिक आलोचना के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत किये।

9.3 मूल पाठ

9.3.1 साहित्य का स्वरूप, उसके प्रयोजन और प्रकार

भारतीय दृष्टिकोण से शाब्दिक रचना को वाङ्मय कहा गया है (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्)। इसके काव्य (साहित्य) तथा शास्त्र नाम के दो भेद किये गये। शास्त्र में साहित्य-संबंधी विवेक-विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है- इसे "विचारित सुस्थ" कहा गया। काव्य या साहित्य भावना-प्रधान अर्थात् "अविचारित रमणीय" माना गया अर्थात् भाव, विचार तथा बोध की रमणीय (सौन्दर्य पूर्ण) शाब्दिक अभिव्यक्ति ही साहित्य है ("रमणीयार्थं प्रतिपादकः शब्द काव्यम्")। कल्पना, बुद्धि, भाव और शैली साहित्य के तत्व हैं।

भारतीय दृष्टि में साहित्य निष्प्रयोजन नहीं होता। आचार्य मम्मट ने काव्य के कई प्रयोजन निर्दिष्ट किये-

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतर क्षतये।

सद्यः परनिर्वृत्तये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे॥

इसके आधार पर कहा जा सकता है कि साहित्य मानव जीवन से परिचय कराता है तथा हमारी मानविकता का विस्तार करता है। यह मानव रुचियों तथा वृत्तियों को परिमार्जित, परिष्कृत तथा उन्नत करता है, मनोरंजन तथा आनन्द प्रदान करता है। जीवन के भौतिक, आत्मिक और नैतिक-सभी पक्षों का सामंजस्य कर उसे संतुलित करता तथा उसे एकांगी होने से बचाता है। साहित्य परम्परा का संरक्षक तथा अपने युग का प्रतिबिम्ब भी होता है और मानवतावाद के आधार पर विश्वएकता की स्थापना करता है। साहित्य पुराने और नये मूल्यों के विवेचन-परीक्षण के द्वारा सही मूल्य-दृष्टि विकसित करता है। इसका आनन्द-विधायक गुण सौन्दर्य (परनिर्वृत्ति) है, इसमें कल्याण का भाव (शिवेतरक्षतये) होता है तथा यह सत्य और सुन्दर (कान्ता सम्मित उपदेश) का समन्वित रूप है।

काव्य का सृजन कैसे होता है, इस प्रक्रिया पर विचार करते हुए आचार्यों ने प्रतिभा, निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास को काव्य का कारण (हेतु) बताया। प्रतिभा में नवीन अर्थ से युक्त अपूर्व वस्तु का निर्माण करने की क्षमता होती है। निपुणता विविध ग्रंथों के अध्ययन तथा लोक-व्यवहार का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने से आती है। काव्य-रचना में बार-बार प्रवृत्त होना ही अभ्यास है और इससे रचना निरन्तर मंजती-निखरती जाती है।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के रूपों (प्रकार, भेद, विधा या) के बहिरंग (बाहरी पक्ष) तथा अन्तरंग (आन्तरिक पक्ष) दोनों दृष्टियों से विवेचन किया गया। काव्य के बाहरी पक्ष से सम्बन्धित स्वरूप विषय, छन्द, भाषा, शैली आदि के आधार पर वर्गीकरण हुए। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश का विभाजन भाषा के आधार पर अभेद गद्य, पद्य और चम्पू का वर्गीकरण छन्द के आधार पर किया गया। इसी तरह स्वरूप विधान की दृष्टि से काव्य के पाँच भेद महाकाव्य, रूपक, आख्यायिका, कथा तथा मुक्तक किये गये।

अन्तरंग पक्ष के अन्तर्गत व्यंजना के आधार पर काव्य को उत्तम, मध्यम और अधम तीन कौटियों में विभाजित किया गया।

9.3.2 भारतीय काव्य शास्त्रीय दृष्टियाँ और प्रतिमान

साहित्य (काव्य) के सौन्दर्य की परख तथा उसका मूल्यांकन करने वाला शास्त्र काव्यशास्त्र (साहित्य शास्त्र, समीक्षा शास्त्र, आलोचना, अलंकार शास्त्र आदि भी) कहलाता है। भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा

बहुत पुरानी है और दूढ़ने वालों ने वेदों तक में रस, अलंकार, रीति आदि शब्दों का प्रयोग पाया है। यास्क के निरुक्त, पाणिनि के अष्टाध्यायी और उपनिषदों में अलंकार, रस आदि का कथन मिलता है। भारतीय काव्यशास्त्र का आरंभ ईसापूर्व दूसरी शती से माना जाता है और इस सन्दर्भ में भरत मुनि का "नाट्य शास्त्र" प्राचीनतम ग्रंथ के रूप में देखा जाता है। आचार्य भामह के आगमन तक भारतीय काव्यशास्त्र का प्रारंभिक काल था। भामह से आनन्दवर्धन तक के समय को रचनात्मक काल कह सकते हैं। आनन्द वर्धन से आचार्य मम्मट के काल को निर्णयात्मक काल मानते हैं और मम्मट से आचार्य विश्वेश्वर पंडित (अठारहवीं शताब्दी) तक व्याख्या काल कहते हैं। इस दम्यनि भरत के रस संप्रदाय, भामह और दंडी के अलंकार सम्प्रदाय, वामन के रीति संप्रदाय, आनंद वर्धन के ध्वनि संप्रदाय, कुन्तक के वक्रोक्ति संप्रदाय तथा क्षेमेन्द्र के औचित्य संप्रदाय के रूप में साहित्य या काव्य के विभिन्न पक्षों का विवेचन और भूल्यांकन प्रस्तुत किया गया।

भरत मुनि ने नाटक के अनिवार्य धर्म के रूप में रस तत्व का प्रवर्तन किया और उसे काव्य की आत्मा के रूप में उद्घोषित किया। उन्होंने इसका सम्बन्ध आस्वाद से जोड़ा "रस्यते आस्वाद्यते इति रसः"। उन्होंने बताया कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस निष्पन्न होता है- "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः"। आलम्बन विभाव से उदबुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट तथा अनुभावों द्वारा व्यक्त हृदय का स्थायीभाव ही रसदशा को प्राप्त होता है। काव्य पढ़ने, सुनने या अभिनय देखने पर विभावादि के संयोग से निष्पन्न होने वाली आनन्दात्मक चित्तवृत्ति ही रस है।

स्थायी भाव जन्मजात मनोविकार है और ये रस की भूमिका है। भावों के विषय अर्थात् भावों के जागरण में जो निमित्त होते हैं उन्हें विभाव कहा जाता है। ये आलम्बन और उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं। आलम्बन के विषय और आश्रय दो भेद हैं। जागृत भावों को उद्दीपन और अधिकाधिक उद्दीप्त करते हैं। आश्रय में उत्पन्न बाह्य चेष्टाएँ अनुभाव है और ये कायिक, मानसिक तथा सात्विक प्रकारों के होते हैं। व्यभिचारी या संचारी भाव बीच-बीच में थोड़े समय के लिए आकर स्थायी भाव को पुष्ट करने में सहायता पहुँचाते हैं।

आचार्यों ने काव्य की अन्त-सत्ता के रूप में "चारुता" को देखा था। यह "चारुता" वस्तुतः उस सौन्दर्य का उन्मीलन है जो समुचित शरीर की मध्यस्थता से चेतना के अस्तित्व में आने से संभव होता है। इस चारुता का स्रोत अलंकार को माना गया। दंडी ने काव्य के शोभाकारक धर्म को अलंकार बताया- "काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते"। शाब्दिक अर्थ में अलंकार (अलम् = पर्याप्त, कार=अनुभव कराना। तृप्ति और पूर्णता महसूस कराने वाला तत्त्व है। अलंकार आभूषण को कहते हैं। भारतीय काव्य शास्त्र में अलंकार को लेकर लम्बे समय तक विचार होता रहा। काव्य में अलंकार शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्धित होते हैं। भामह ने इसे काव्य का सर्वस्व माना था। काव्य शास्त्र में सैकड़ों अलंकारों की चर्चा हुई है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, उदाहरण, विरोधाभास, श्लेष आदि के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत करने वाले अनेकों ग्रंथ लिखे गये, जिनमें काव्यालंकार (भामह), काव्यालंकार सार (उद्भट), काव्यालंकार सुत्र वृत्ति (वामन), काव्यालंकार (रुद्रट), अलंकार सर्वस्व (रुच्यक), अलंकार रत्नाकर (शोभाकर मित्र), अलंकार मञ्जूषा (देवशंकर) आदि प्रमुख हैं। सार्थक तथा मूर्त शब्द काव्य का शरीर है तो अर्थ उसका प्राण। शब्द और अर्थ की शोभा को बढ़ाने वाले बाह्य धर्म अलंकार हैं।

रीति (शैली) और गुण को आपस में जोड़कर देखते हुए आचार्य वामन ने इसे काव्य की आत्मा घोषित किया- "रीतिरात्मा काव्य"। रीति को वृत्ति (उद्भट), संघटना (आनन्द वर्धन), पंथ (भोज) आदि भी कहा गया। रीति का अर्थ उस मार्ग से है जिससे गमन किया जाए। वामन विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हैं (विशिष्ट पद रचना रीति)। पदरचना में विशिष्टता गुणों से आती है। गुण, रस और मानव-स्वभाव के आधार पर रीति के अनेकों भेद किये गये। वामन ने इसके वेदभी, गौड़ी और पांचाली भेद किये। कुन्तक मोटे तौर पर इन्हें तीन प्रकारों में बाँटते थे- सुकुमार, मध्यम और विचित्र। उपयुक्त शब्द-चयन, विषय के अनुकूल सुन्दर-संक्षिप्त पदबंध और स्पष्टता को रीति के प्रमुख तत्व के रूप में देखा गया।

वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (अर्थात् आत्मा) बताया। उन्होने व्यापक अर्थों में वक्रोक्ति का प्रयोग करते हुए उसे विदग्धता अर्थात् कविकर्म कौशल से उत्पन्न वैचित्र्य पूर्ण कथन बताया। जो काव्य तत्व किसी कथन में चमत्कार उत्पन्न कर देता है, वक्रोक्ति है। यह सामान्य कथनों से अलग विशिष्ट कथन है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेद बताये- वर्ण विन्यास वक्रता, पद-पूर्वार्ध वक्रता, पद-परार्ध वक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण वक्रता तथा प्रबन्ध वक्रता। पात्रों की भावपूर्ण स्थिति, कवि-कल्पना, नवीन प्रसंग की उद्भावना, आवृत्ति, रोचकता आदि के आधार पर भी वक्रोक्ति के भेद किये गये। वैसे तो वक्रोक्ति एक अलंकार का भी नाम है, किन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति सामान्य उक्ति से ऊपर उठी हुई विशिष्ट व्यंजनामयी उक्ति है जिसको सौन्दर्यशास्त्रीय विस्तार आचार्य कुन्तक ने दिया।

"ध्वन्यालोक" जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ के रचयिता आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार ध्वनि उस प्रतीयमान अथवा व्यंग्य अर्थ को कहते हैं जिसे शब्द और वाक्यार्थ स्वयं को गौण बनाकर अभिव्यक्त करते हैं। आनन्द वर्धन ने व्यंजनावृत्ति के आधार पर व्यंग्यार्थ को काव्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घोषित किया। काव्यशास्त्र में ध्वनि शब्द के पाँच विभिन्न अर्थों में प्रयोग मिलते हैं- व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंजक शब्द-शक्ति, व्यंग्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ प्रधान काव्य। आनन्द वर्धन का तात्पर्य अन्तिम दोनों से है। वाक्यार्थ से भिन्न विशिष्ट अर्थ ही ध्वनि है और इसे प्रतीयमान, व्यंग्य, व्यंग्यार्थ, घोषित अर्थ, अवगमित, ध्वन्यार्थ आदि भी कहा जाता है। जैसे दीप एक वस्तु है और रोशनी दूसरी वस्तु वैसे ही शब्द और ध्वनि हैं। आनन्द वर्धन बताते हैं कि जिस तरह किसी युवती के अंग-प्रत्यंग तथा अंगों से झलकता हुआ लावण्य अलग वस्तु है उसी तरह वाचक शब्द और अर्थ से उसका प्रतीयमान अर्थात् ध्वन्यार्थ अलग है। जैसे रोशनी दीपक का और लावण्य युवती का आन्तरिक तत्व है वैसे ही ध्वनि भी शब्दार्थ का आन्तरिक तत्व है। वाक्यार्थ के आधार पर चित्र काव्य और गुणीभूत व्यंग्य काव्य लिखे जाते हैं जहाँ व्यंग्यार्थ सर्वप्रमुख नहीं होता, किन्तु ध्वनि काव्य श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि इनमें व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य सर्वोपरि होता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने "औचित्य विचार चर्चा" नामक ग्रंथ में अत्यंत विस्तार और गहराई से औचित्य का विवेचन किया। उचित का भाव ही औचित्य है। उचित स्थान और अवसर पर वस्तुतः सुन्दर बनती है। काव्य में अलंकार, गुण आदि का प्रयोग औचित्यपूर्ण होना चाहिए। क्षेमेन्द्र ने समस्त काव्य तत्वों को स्वीकार किया और समस्त काव्यांगों के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर सर्वाधिक बल दिया। उन्होंने पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, अलंकार, गुण, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश आदि के आधारों पर औचित्य के 27 भेद किये।

इस तरह हम पाते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन में काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, हेतु, प्रकार आदि के साथ-साथ काव्य की आत्मा की परख करने का भाव भी प्रमुख रूप से रहा है। आधुनिक काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नवी वैज्ञानिक चेतना के आलोक में संस्कृति काव्यशास्त्र का एक प्रकार से पुनरीक्षण किया और रचनात्मक साहित्य से अलग आलोचनात्मक साहित्य को भी पर्याप्त समृद्ध बनाया। शुक्ल जी के अनुसार साहित्य का लक्ष्य "बद्ध हृदय को मुक्त करना" है। वे काव्य साधना को भायोग कहते थे तथा इसे ज्ञान योग तथा कर्मयोग के समकक्ष मानते थे। काव्य का चरम प्रयोजन मात्र आनन्द नहीं, अपितु इससे व्यक्तिमंगल तथा लोकमंगल होता है। साहित्यकार में विशेष कल्पना शक्ति होती है। शुक्ल जी के लिए प्रतिभा "स्वाभाविक उन्नत बुद्धि" है, किन्तु अकेली प्रतिभा ही पर्याप्त नहीं अतः अध्ययन, जीवन-पर्यवेक्षण और अभ्यास भी रचनाकार के लिए बहुत आवश्यक हैं। शुक्ल जी ने आधुनिक ढंग से, शिल्प और शैली की दृष्टि से साहित्य को काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्य काव्य तथा निबन्ध और आलोचना के प्रकारों में बाँट कर देखा। शुक्ल जी काव्य तथा निबन्ध और आलोचना के प्रकारों में बाँट कर देखा। शुक्ल जी काव्य या साहित्य में बाह्य चमत्कारों के पक्षधर नहीं थे। वे अलंकारों में "रस पर्यवसायी चारुता" वाले अलंकारों को श्रेष्ठ मानते थे किन्तु "वैचित्र्य पर्यवसायी चारुता" वाले अलंकारों को "बच्चों का झुड़िना" कहते थे। अपनी पुस्तक "रस मीमांसा" में शुक्ल जी ने "रस सिद्धान्त" को नये मनोवैज्ञानिक आलोक में परिक्षित कर उसकी उपलब्धियों और सीमाओं को रेखांकित किया है।

9.4 सारांश

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने साहित्य या काव्य की शरीर-रचना को समझने के लिए अत्यंत प्राचीन काल से गंभीर प्रयास किये। शब्द, अर्थ, उनके सौन्दर्य तथा, प्रभाव का संस्कृत काव्यशास्त्र में महत्वपूर्ण अध्ययन हुआ है। इस सन्दर्भ में कई संप्रदायों एवं विचारधाराओं का उदय हुआ और रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति एवं औचित्य के रूप में महत्वपूर्ण प्रतिमान उपस्थित किये गये। हालांकि सभी संप्रदाय अपने द्वारा स्थापित तत्व को ही काव्य की आत्मा बताने का प्रयत्न करते रहे, फिर भी उनका उद्देश्य काव्य को उसकी संपूर्णता में समझने-समझाने का था। भारतीय काव्यशास्त्रियों के द्वारा प्रस्तुत प्रतिमानों की महत्ता पाश्चात्य काव्यशास्त्र से उनकी तुलना करते हुए स्पष्ट हो जाता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में क्रोचे के अभिव्यजनावाद से वक्रोक्ति सिद्धान्त की, शैली विज्ञान से रीति संप्रदाय की सहज ही तुलना हो सकती है। पाश्चात्य समीक्षा क्षेत्र में नव्य समीक्षा (New Criticism) में ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य सिद्धान्तों की अनुगूँज सुनाई दे सकती है। भारतीय काव्यशास्त्र के छः संप्रदायों के प्रतिमानों का वस्तुनिष्ठ उपयोग करके आधुनिक आलोचना को शुक्ल जी ने परिपुष्ट किया है।

9.5 शब्दार्थ

धर्म	= गुण, विशेषता, स्वरूप।
प्रयोजन	= उद्देश्य, लक्ष्य।
प्रतिमान	= कसौटी, निकष, जाँच-परख करने तथा मूल्य आंकने का आधार।
प्रवर्तन	= आरंभ।
वेदार्थ	= विदर्भ क्षेत्र की।
गोड़ी	= गौड़ प्रदेश की।
पांचाली	= पांचाल प्रदेश की।

9.6 अभ्यास

9.6.1 दीर्घ श्रेणी के प्रश्न

1. भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न संप्रदायों का संक्षिप्त परिचय दीजिए?
2. साहित्य के स्वरूप, प्रयोजन एवं उसके रूपों के विषय में भारतीय काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए?

9.6.2 मध्यम श्रेणी के प्रश्न

1. भारतीय काव्यशास्त्रीय दृष्टि से साहित्य के स्वरूप पर विचार कीजिए?
2. संस्कृत काव्यशास्त्रियों के अनुसार काव्य के क्या प्रयोजन हैं?
3. भारतीय आलोचना-दृष्टि से काव्य-सृजन के कारकों का परिचय दीजिए।
4. संस्कृत काव्यशास्त्र के आधार पर काव्य के भेदों पर विचार कीजिए।
5. रस सिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए।
6. अलंकार संप्रदाय पर टिप्पणी लिखिए।
7. ध्वनि से क्या समझते हैं? ध्वनि संप्रदाय का परिचय दीजिए।
8. रीति संप्रदाय की विचारधारा को अपने शब्दों में बताइए।
9. वक्रोक्ति सिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
10. काव्य में औचित्य की आवश्यकता पर विचार कीजिए।

9.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

9.7.1 दीर्घ श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: भारतीय काव्य शास्त्र के विभिन्न संप्रदायों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर: रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहते हैं तथा काव्य की रमणीयता या सौन्दर्य का विश्लेषण करने वाला शास्त्र काव्यशास्त्र कहलाता है। भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। ईसा पूर्व दूसरी शती से काव्य के लक्षण, प्रयोजन, हेतु, प्रभाव आदि का अध्ययन आरंभ हो गया था और काव्य के सौन्दर्य का विश्लेषण विवेचन करने के क्रम में कई विचार-सरणियों का प्रादुर्भाव कालान्तर में होने लगा। इस सिलसिले में अठारहवीं शताब्दी तक कोई छह प्रकार के विचार-संप्रदाय संस्कृत काव्यशास्त्र में दिखायी पड़ते हैं। ये हैं- रस-संप्रदाय, अलंकार संप्रदाय, रीति संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय, ध्वनि संप्रदाय और औचित्य संप्रदाय।

रस संप्रदाय:

रस का संबन्ध आस्वाद से है। काव्य के सन्दर्भ में इसका प्रयोग आनन्द, तन्मयता, सौन्दर्य के अर्थ में किया जाता है। "वाक्य रस" तथा "काव्य रस" जैसे शब्द-प्रयोग इसी के द्योतक हैं। भरत मुनि के "नाट्य शास्त्र" में रस का सांगोपांग वर्णन मिलता है। भरत रस को नाटक का प्राण कहते हैं। उन्होंने रस का स्वरूप, रस के अंक, प्रक्रिया, रस संख्या, अधिकारी आदि का विवेचन किया है। नाट्य शास्त्र के अनुसार रस आठ हैं- शृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, अद्भुत और भयानक। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। रस स्वयं अनुभूति नहीं होकर अनुभूति का विषय या आस्वाद है। आचार्य विश्वनाथ ने भावों की परिपक्वतावस्था को रस कहा। जिस प्रकार अनेक व्यंजनों के संयोग से पाक रस उत्पन्न होता है, उसी प्रकार भावों के क्षेत्र में रस की उपस्थिति होती है। इसे अखंड, आस्वाद्य रूप, ब्रह्मास्वाद सहोदर, लोकोत्तर, स्वप्रकाशानन्द आदि बताया गया। रसास्वादन में स्व-पर का भेद नहीं रहता। यह मन की आनन्दानुभूति का अनुभव कराता है। यह व्यक्तिगत सुख-दुख से ऊपर उठाकर लौकिक-सामाजिक स्वरूप को प्रतिष्ठित करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "लोक हृदय में हृदय के तीन होने की दशा का नाम रस-दशा है"। तथा "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तवस्था शानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तवस्था रसदशा कहलाती है।

अलंकार संप्रदाय:

मध्यकाल में अलंकार की इतनी महिमा थी कि स्वयं काव्य शास्त्र को ही अलंकार नाम से जाना जाता था। शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं जिनकी शोभा में अलंकार वृद्धि करते हैं। कई आचार्यों ने अलंकार को सौन्दर्य का पर्याय माना ("सौन्दर्यमलंकारः")। अलंकार के तीन भेद किये गये- शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा अभ्यालंकार। वास्तविक अलंकार के रूप में आठ शब्दालंकारों, एक सौ अर्थालंकारों तथा दो अभ्यालंकारों को अधिकांश आचार्यों से मान्यता मिली है। भामह, दंडी, उदभट, वामन, रुद्रट, आदि आचार्यों ने अलंकार-निरूपण में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। अलंकारवादी आचार्यों के अनुसार अलंकार काव्य का ऐसा सौन्दर्य-सर्वस्व तत्व है जिसके अन्तर्गत रस आदि समाहित हो जाते हैं। भामह का कहना था कि सामान्यतः सुन्दर होने पर भी वनिता का मुख अलंकार के बिना विभूषित नहीं होता और यही हाल काव्य का भी है। लेकिन मम्मट जैसे आचार्यों ने काव्य के लिए अलंकारों की स्थिति अनिवार्य मानने से इनकार किया। वास्तव में अलंकार सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, वे सौन्दर्य की सृष्टि नहीं करते। अलंकार सजावट के साधन हैं और काव्यात्मक अभिव्यक्ति अलंकारों के बिना भी हो सकती है लेकिन ऐसी अभिव्यक्ति के लिए अलंकार विशेष द्वारों का काम करते हैं। अभिव्यक्ति की आंतरिकता से जुड़ने वाले अलंकार ही सही अलंकार हैं। शुक्ल जी "रस पर्यवसायी चरुता" वाले अलंकार को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते थे। उनकी नजरों में "वैचित्र्य पर्यवसायी चारुता" वाले अलंकार महत्वहीन हैं।

रीति संप्रदायः

आचार्य वामन ने "काव्यालंकार सूत्र वृत्ति" पुस्तक में रीति को काव्य की आत्मा बताकर रीति संप्रदाय का प्रवर्तन किया। रीति का अर्थ धारा, गति, प्रवृत्ति आदि है। आचार्य भरत के समय चार प्रवृत्तियाँ प्रचलित थी- अवन्ती, दाक्षिणात्या, औड्रमागधी तथा पांचाली। ये साहित्यिक प्रवृत्तियाँ विभिन्न क्षेत्रों में भाषा-शैली के मार्गों को घोषित करती हैं। वामन ने तीन रीतियाँ-वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली की चर्चा की। रुद्रट ने लाटीया (लाट देश की) का नया भेद किया। सुन्दर पदरचना ही रीति है। यह गुण एवं समास पर आधारित है और रसाभिव्यक्ति में सहायक होती है। रीति सिद्धांत के अनुसार काव्य के प्रयोजन है प्रीति और कीर्ति अर्थात् काव्य कवि को यश तथा पाठक को आनन्द देता है। इस सिद्धान्त में कवित्व का बीज प्रतिभा को माना गया। यही गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया, प्रबंध को मुक्तक से श्रेष्ठ बताया गया और नाटक को काव्य का श्रेष्ठतम रूप माना गया।

रीति विषयगत तथा शैलीगत दो प्रकार की होती है। विषयगत रीति में रस, अर्थ गौरव, परिष्कार तथा स्वाभाविकता को स्थान मिलता है। शैलीगत रीति में अर्थ विमलता, उक्ति वैचित्र्य, समास, साभिप्राय विशेषण आदि आते हैं। हालांकि रीति को वामन ने पूर्ण सिद्धान्त बनाना चाहा, मगर इसका सम्बन्ध (मुख्यतः शैली से होने के कारण) काव्य के रूप पक्ष में जितना स्पष्ट है उतना कथ्य में नहीं।

वक्रोक्ति संप्रदायः

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक थे कुतक जिन्होंने सर्वथा मौलिक एवं प्रौढ़ काव्य-चिन्तन प्रस्तुत किया। वक्रोक्ति का शब्दिक अर्थ है टेढ़ा कथन। घमत्कारपूर्ण कथन या वचन-विदग्धता अथवा शब्द और अर्थ की विचित्रता ही वक्रोक्ति है। यह स्वभावोक्ति तथा अतिशयोक्ति से भिन्न है। कुतक ने वक्रोक्ति का ऐसा व्यापक रूप खड़ा कर दिया कि इसके बिना काव्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उन्होंने वक्रोक्ति के छह भेद किये- वर्ण विन्यास वक्रता, पदपूर्वार्ध वक्रता, पदपरार्ध वक्रता, वाक्य वक्रता, प्रकरण वक्रता और प्रबंध वक्रता। कुतक वक्रोक्ति को वैदग्यपूर्ण उक्ति अथवा प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र वर्णन शैली कहते हैं। वक्रोक्ति सामान्य व्यवहार के कथनों से अलग प्रकार की होती है। वह कवि-प्रतिभा की निपुणता तथा काव्य-कौशल की भंगिमा है। साधारण, प्रसिद्ध, शास्त्रीय तथा प्रचलित से भिन्नता रखने और विलक्षण होने में ही वक्रोक्ति का सौन्दर्य है जिससे सहृदय आह्वयित होता है। बाद में चलकर वक्रोक्ति संप्रदाय का पतन हुआ और इसे मात्र एक अलंकार के रूप में देखा जाने लगा। किन्तु पश्चिम में शैली विज्ञान तथा नव्यालोचन के विकास को देखते हुए वक्रोक्ति सिद्धान्त में छिपी संभवनाओं से इनकार नहीं किया जा सकता।

ध्वनि संप्रदायः

ध्वनि संप्रदाय के संस्थापक तथा "ध्वन्यालोक" कार आनन्द वर्धन का कहना था कि रस का अस्तित्व संभव नहीं है। इस तरह रस ध्वनि रूप है और ध्वनिकाव्य ही सर्वोत्तम है, ध्वनि (रसध्वनि) ही काव्य की आत्मा है। अभिनवगुप्त ने "लोचन" नामक टीका के द्वारा ध्वनि सिद्धांत को व्यवस्थित किया। भोज, मम्मट, पंडितराज जगन्नाथ जैसे आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया।

इस सिद्धान्त के द्वारा काव्य के भीतरी सौन्दर्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया। यही रस को व्यंजना का विषय बताया गया और कहा गया कि रस व्यंग्य होता है, वाक्य नहीं होता। ध्वनि का सम्बन्ध वैयाकरणों के स्फोट सिद्धांत तथा भारतीय दर्शन के व्यंजना-व्यापार से जोड़ा जाता है। वाच्यार्थ में उतना सौन्दर्य नहीं होता जितना व्यंग्यार्थ में होता है। व्यंग्यार्थ की चारुता ही ध्वनि है। यही शब्द और अर्थ गौण रहकर किसी विशेष अभिप्राय को ध्वनित (व्यंग्य) करते हैं। अतः व्यंग्य को ध्वनि का प्राण माना गया। ध्वनि के तीन भेद किये गये- वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि तथा रस ध्वनि। इनमें रस ध्वनि सिद्धान्त में अन्तर्भूत कर दिया। ध्वनि के अन्तर्गत रस को भी समेट लिया गया।

औचित्य सिद्धान्तः

इस सिद्धान्त के संस्थापक आचार्य क्षेमेन्दु ने अपने ग्रंथ "औचित्य विचार चर्चा" में औचित्य तत्त्व का विस्तृत विवेचन किया। नाट्य शास्त्रकार भरत मुनि ने औचित्य को "अनुरूप" शब्द के प्रयोग के माध्यम से बताना चाहा था। भामह ने "न्याय्य" तथा "युक्तता" शब्दों का प्रयोग इस सिलसिले में किया और भरत मुनि की भांति ही औचित्य का आधार और नियामक लोक-स्वभाव को बताया। काव्य में औचित्य के प्रयोग से गुण तथा इसके अभाव से दोष आ जाता है। आनन्द वर्धन के अनुसार काव्य में औचित्यपूर्ण विधान सौन्दर्योद्बोधक होता है। औचित्य का महत्व गुण, अलंकार-संघटना, प्रबन्ध-वर्णन हर क्षेत्र में है। अभिनवगुप्त भी मानते हैं कि औचित्य के बिना रसवत्ता नहीं होती। आचार्य कुन्तक ने एक स्थान पर वक्रता तथा पदौचित्य को अभिन्न बताया है, इसी तरह सुन्दर रीति को वृत्तौचित्य तथा कालवक्रता को कालौचित्य कहा। उनके लिए वस्तु के स्वभाव का उत्कर्ष ही औचित्य है- "औचित्यः वस्तुतः स्वभावोत्कर्षः।" क्षेमेन्दु ने औचित्य को काव्य का जीवनाधारक तत्त्व मानते हुए इसे पद, वाक्य, रस, अलंकार, रीति, गुण, प्रबन्ध में व्याप्त बताया। मानवजीवन और काव्य में उचित के भाव के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। फिर भी इसे ठोस प्रतिमान के रूप में ढालना कठिन है।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र के इस संप्रदायों के रूप में काव्यालोचन की अनेक दृष्टियाँ और प्रतिमान दिखायी देते हैं और इनमें से अनेक की उपादेयता अब भी अक्षुण्ण बनी हुई है।

9.7.2 मध्यम श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: भारतीय काव्यशास्त्रीय दृष्टि से साहित्य के स्वरूप पर विचार कीजिए।

उत्तर: भारतीय काव्यशास्त्र में साहित्य या काव्य की सबसे पहली परिभाषा आचार्य भामह की मिलती है। जैसे नाटक की परिभाषा इससे पूर्व भरत मुनि ने प्रस्तुत की थी। भामह ने शब्द और अर्थ सहभाव को सात्य कहा- "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"। आचार्य दंडी ने चमत्कृत अर्थ से पूर्ण पदावली को काव्य बताया। कुन्तक ने माना कि जब "सह भावापन्न शब्दार्थ युगल कवि के वक्रोक्तिमय व्यापार युक्त बन्धन में व्यवस्थित हो जाता है तो काव्य कहलाता है।"

भामह ने शब्दालंकार एवं अर्थालंकार की दृष्टि से साहित्य की परिभाषा की तो दण्डी ने शब्द और अर्थ को भिन्न नहीं मानकर पदावली को ही महत्वपूर्ण बताया। लेकिन उन दोनों की दृष्टि अलंकारों में सीमित थी। इनकी तुलना में आचार्य कुन्तक की परिभाषा अधिक व्यवस्थित थी। आचार्य मम्मट के अनुसार- "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावन संकृती पुनः कवापि" अर्थात् दोषरहित, गुण सहित तथा यथा संभव अलंकार-युक्त शब्द और अर्थ काव्य या साहित्य है। मम्मट की इस परिभाषा पर काफी आलोचना-प्रत्यालोचना हुई। आचार्य विश्वनाथ ने "साहित्य दर्पण" में रसात्मक वाक्य को काव्य कहा- "वाक्स रसात्मक काव्यम्"। इस प्रकार अलंकार से आगे बढ़कर उन्होंने साहित्य का सबंध रस से जोड़ दिया। मम्मट में रस का उल्लेख तो नहीं मगर सकेत था। महित भट्ट ने विश्वनाथ से पूर्व ही रसाभिव्यक्ति वाले कवि के वचन को काव्य कहा था। लेकिन साहित्य की हर पंक्ति में रसाभिव्यक्ति होती है ऐसा नहीं देखा जाता। "रस गगाधर" के रचयिता पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ का बोध कराने वाले शब्द को काव्य कहा- "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"। यहाँ रमणीयता से अर्थ पंडितराज ने लोकोत्तर आनन्द का लिया। लोकोत्तर अर्थात् आनन्द पूर्ण सहृदय चमत्कृत हो जाय।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्रियों ने शब्द, शब्दार्थ और रस को ध्यान में रखते हुए साहित्य के स्वरूप पर विचार किया और इसकी परिभाषा प्रस्तुत की। इन आचार्यों की परिभाषाओं के विवेचन-विश्लेषण से यह स्पष्ट हो सकता है कि उन्होंने साहित्य के आन्तरिक एवं बाह्य, कथ्य एवं रूप दोनों का समन्वित आकलन किया है। साथ ही जीवन के राग एवं सौन्दर्य तत्त्व को, भाव, बुद्धितत्त्व एवं कला को- इन परिभाषाओं में समेट लिया है।

9.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय साहित्यशास्त्र (दो भागों में) - पं.बलदेव उपाध्याय।
2. भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा - डॉ. नगेन्द्र
3. भारतीय साहित्य शास्त्र (मराठी से अनुवाद) - गणेशज्यंबक देशपांडे
4. रसमीमांसा - रामचन्द्र शुक्ल
5. संस्कृत काव्यशास्त्र में व्यावहारिक समीक्षा - डा. देवदत्त कौशिक
6. History of Sanskrit Poetries - Sushil Kumar De

इकाई-10: पाश्चात्य आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान

- 10.0 विषय प्रवेश
- 10.1 उद्देश्य
- 10.2 पाठ का परिचय
- 10.3 मूल पाठ
 - 10.3.1 यूनानी सभ्यता और पाश्चात्य आलोचना
 - 10.3.2 प्लेटो
 - 10.3.3 अरस्तु
 - 10.3.4 लोजाइनस
 - 10.3.5 होरेस
 - 10.3.6 दांते
 - 10.3.7 आधुनिक पाश्चात्य आलोचना दृष्टि और प्रतिमान
- 10.4 सारांश
- 10.5 शब्दार्थ
- 10.6 अभ्यास
 - 10.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 10.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 10.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 10.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 10.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 10.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.1 उद्देश्य

इस पाठ में पाश्चात्य आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान पर प्रकाश डाला गया है। इसके अध्ययन से आप:

- अनुकरण के सिद्धांत की विवेचना कर सकेंगे।
- विवेचन संबंधी अरस्तु के विचार पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- कवि और कविता के संबंधों पर फिलिप सिडनी के विचार से अवगत हो सकेंगे।
- वर्डस्वर्थ की काव्य-प्रक्रिया संबंधी विचारधारा को स्पष्ट कर सकेंगे।
- कवि प्रतिभा और उत्तम काव्य के गुणों पर कॉलरिज के विचारों की समीक्षा कर सकेंगे।
- अन्य पाश्चात्य आलोचकों के विचारों पर प्रकाश डाल सकेंगे।

10.2 पाठ परिचय

प्रस्तुत पाठ में पाश्चात्य आलोचनात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया गया है। पाश्चात्य आलोचना का विकास चौथी शताब्दी ई.पू. से यूनान में होता है। प्लेटो (Plato) के विचार काल को अग्ररूप मानते हैं। इसके कई कारण दिए गए हैं। उनके बाद अरस्तु (Aristotle) प्लेटो के दृष्टिकोण को एक नए ढंग से देखते हुए, काव्य की महत्ता को स्थापित करते हैं। लोजाइनस (Longienus) ने काव्य संबंधी इन तात्त्विक प्रश्नों पर विचार न करके, साहित्य-तत्व का विवेचन और स्वरूप-निरूपण किया। आलोचक होरेस (Hores) काव्य के औचित्य पर पर्याप्त विचार करते हैं और अभिव्यंजना-पक्ष को अपनी

अलोचना में स्थान देते हैं। और दांते (Dante) काव्यवस्तु के चुनाव को महत्वपूर्ण मानते हैं। इन पाँचों अलोचकों द्वारा प्रतिस्थापित काव्य संबंधी विचारों व प्रमुख प्रतिमानों को इस पाठ में रखा गया है। आधुनिक पश्चात्य अलोचना दृष्टि का प्रारंभ फिलिप सिडनी (Philip Sydney) से मानते हुए 'सच्ची कविता के प्रति उनके दृष्टिकोण को रखा गया है। इसके बाद जॉन ड्राइडन (John Dryden) के कविता, उसके प्रयोजन, उसकी भाषा संबंधी व्यापक दृष्टिकोण का परिचय भी इस पाठ से मिलेगा। फ्रांस की पूँजीवादी-क्रांति के बाद अलोचना जिन निश्चित दो वर्गों- स्वच्छंदतावादी, यथार्थवादी-में बंट गई, उसका विवेचन भी इस पाठ में है।

प्रस्तुत पाठ में प्रारंभिक वक्तव्य में यूनान की बौद्धिक समृद्धि की चर्चा की गई है। फिर कालक्रम के अनुसार पाँच प्रमुख अलोचकों के प्रमुख दृष्टिकोणों को रखा गया है। आधुनिक पश्चात्य अलोचना के सदर्भ में दो प्रमुख अलोचकों फिलिप सिडनी और जॉन ड्राइडन के विचारों को व्यक्त किया गया है। स्वच्छंदतावादी दृष्टि के अंतर्गत वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) कालरिज (Coleridge) तथा यथार्थवादी अलोचना दृष्टि के अंतर्गत विलेन्सकी, चर्नोशेवस्की, मैथ्यू आर्नाल्ड, टी.एस.इलियट के विचारों को रखा गया है।

10.3 मूल पाठ

10.3.1 यूनानी सभ्यता और पश्चात्य आलोचना

पश्चात्य आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास ग्रीस या यूनान से प्रारंभ होता है। यहाँ स्वतंत्र रूप से या परोक्ष रूप से काव्य पर जो चर्चाएँ हुई, जो चिंतन-परंपरा निर्मित हुई, वही पश्चात्य समीक्षा का आधार बनी। यह माना जाता है कि जब काव्य-शास्त्र के रूप में पश्चात्य आलोचना का विकास हुआ, तब यूनान की सभ्यता और संस्कृति अपनी उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच चुकी थी। यूनान की राजधानी एथेन्स बौद्धिक, वैज्ञानिक और कलात्मक उपलब्धियों का उस समय केन्द्र थी। वहाँ अनेक विचारकों, साहित्यकारों, कलाकारों ने जन्म लिया। इतना ही नहीं, यूनान का चिंतन व उसकी बौद्धिकता अति-श्रेष्ठ मानी जाती है। इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि युद्ध में पराजय के बाद जब एथेन्स बिलकुल नष्ट हो गया, तब भी वहाँ की संस्कृतिक-बौद्धिक उपलब्धियों का महत्व उसी प्रकार बना रहा। उदाहरण के लिए यूनान की काव्य-संबंधी विचारधारा आनेवाले समय की महानतम कृतियों के लिए अलोचनात्मक आधार भी बनी और अलोचना को विकसित करने का भी पर्याप्त आधार उसने प्रदान किया।

10.3.2 प्लेटो

पश्चात्य आलोचनात्मक दृष्टि के इस उदय को हम लगभग 400 ई.पू. से देख सकते हैं। इसमें सबसे पहले यूनानी दार्शनिक प्लेटो का नाम लिया जा सकता है। प्लेटो का समय 427 ई.पू. से 347 ई.पू. तक माना जाता है। वे आचार-शास्त्र के यूनानी विद्वान सुकरात के शिष्य थे। प्लेटो के अलोचनात्मक दृष्टिकोण की रूपरेखा उनकी पुस्तक 'रिपब्लिक' में व्यक्त काव्य-संबंधी विचारों के आधार पर तैयार की गई है। सबसे पहला प्रतिमान जो प्लेटो ने निर्धारित किया वह यह कि कवि ईश्वरीय प्रेरणा से काव्य-रचना करता है। उनका यह दृष्टिकोण आगे चलकर आलोचकों में व्यापक तर्क का आधार बनता है। बाद के आलोचकों ने प्लेटो के इस प्रतिमान का खंडन भी किया। प्लेटो का इस संबंध में यह दृष्टिकोण था कि कवि ईश्वरीय प्रेरणा से ही काव्य-रचना करता है क्योंकि अतः प्रेरणा ही काव्य-रचना का हेतु है। उनका यह भी कहना था कि कला की अधिष्ठात्री देवियाँ कवि के मन पर हावी हो जाती हैं और वह अपना विवेक छोड़कर उन्माद की स्थिति में पहुँच जाता है, इस स्थिति में वह अपनी कल्पना से गंभीरतम सत्यों की प्रतीति कर लेता है। ईश्वर से प्रेरित होने के कारण ही कवि अपने गायकों को और गायक अपने श्रोताओं को प्रेरित कर पाते हैं।

प्लेटों के गुरु सुकरात उपयोगितावाद के संस्थापक माने जाते हैं, क्योंकि वे शिव (good) उसे ही मानते हैं जो उपयोगी (useful) हो। प्लेटो ने भी उसी साहित्य को सुन्दर माना जो सध्य और शिव है। जो साहित्य समाज के लिए उपयोगी और नैतिक नहीं है, उसे प्लेटों ग्राह्य नहीं मानते। इस प्रकार प्लेटो ने साहित्य का मूल्य और प्रयोजन उसकी सामाजिकता को मानते हुए, सबसे पहले साहित्य को सामाजिक उपयोगिता और सामाजिक नैतिकता से संबद्ध किया।

इस सामाजिकता की परख में ही प्लेटो ने सबसे पहले इस तथ्य का निरूपण किया कि कलाएँ अनुकृतिमूलक होती हैं। और उनके द्वारा जगत के मूलभूत सत्तों की अभिव्यंजना होती है। प्लेटों के अनुकरण का यह सिद्धांत दर्शन और प्रयोजन इन दो कारणों के आधार पर काव्य या नाटक को देखता है। दर्शन के आधार पर प्लेटो पहला स्थान प्रत्यय (idea) को देते हैं। दूसरा उसके प्रतिबिंब या आभास (वस्तुजगत्) को और तीसरा स्थान वे वस्तुजगत् के प्रतिबिंब (कलाजगत्) को देते हैं। अर्थात् वे प्रत्यय जगत को यथार्थ मानते हुए, ईश्वर को उसका स्रष्टा मानते हैं। वस्तु-जगत् जो यथार्थ का अनुकरण है, उसके कारीगर को उसका निर्माता (maker) मानते हैं और कला-जगत को जो वस्तुजगत का अर्थात् अनुकरण का अनुकरण है, उसके कलाकार को अनुकर्ता (imitator) मानते हैं। इस प्रकार कला को मूलभूत सत्तों की नकल मानते हुए, वे काव्य को अग्राह्य कहते हैं अर्थात् प्लेटो ने कला के संदर्भ में अनुकरण शब्द का प्रयोग नकारात्मक अर्थ में किया है। बाद में उनके इस दृष्टिकोण की व्यापक आलोचना हुई। पहले तो यह कि प्लेटों यह मानकर चलते हैं कि अनुकरण में मिथ्या तथ्य रहता है और इसीलिए वे कला में निहित सर्जनशीलता को स्वीकार नहीं करते। दूसरे यह कि कला का उद्देश्य केवल अनुकरण नहीं होता, यदि ऐसा होता तो चित्र-कला का श्रेष्ठतम ऊदाहरण फोटोग्राफ होता। तीसरे बाद के कई विद्वानों ने यह स्पष्ट किया कि कलाकार किसी वस्तु की नकल नहीं करता, बल्कि कला के द्वारा वह उस वस्तु का आदर्शिकरण (idealisation) करता है। काव्य के संबंध में उसकी अग्राह्यता के जो दार्शनिक कारण प्लेटो ने दिए, उनकी उपरोक्त सीमाएँ हैं लेकिन बाद की आलोचनाओं को एक आधार देने में इस दृष्टिकोण का अपना महत्व है। प्रयोजन संबंधी कारणों में प्लेटो ने सत्य और नैतिकता की दृष्टि से कवि और कविता की परीक्षा की और अपने भाववादी (idealistic) मान्यताओं के अनुसार काव्य के संबंध में उन्होंने यह स्थापित किया कि उसमें व्यक्ति भय का चित्रण पाठक या श्रोता के अंदर भोग-विलास की कामना उत्तेजित करता है। काव्य में सज्जन दुःख भोगते और दुर्जन सुख भोगते हुए दिखाए जाते हैं, तब नैतिकता साहित्य के द्वारा कैसे आएगी? क्योंकि काव्य या नाटक की उत्पत्ति अंतः प्रेरणा या भाव के अच्छलन से होती है, तर्क से नहीं। इसलिए तर्क निरपेक्ष वस्तु उनकी दृष्टि में अग्राह्य है। क्योंकि वह बुद्धि को प्रभावित नहीं करती। इसी आधार पर प्लेटों ने कवि के संबंध में भी अपने विचार रख दिए कि कवि एक प्रमादी और गैरजिम्मेदार व्यक्ति होता है। इसलिए वह नैतिक प्राणी नहीं हो सकता। उसकी कविता कभी भी सत्य की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती। क्योंकि कविता बाह्य-जगत की अनुकृति मात्र होती है जो सत्य से दुगुनी दूर होती है। कविता से श्रोताओं में उन्माद फैलता है और नैतिक अनाचार को प्रोत्साहन मिलता है। काव्य और कवियों के प्रति प्लेटो की इस असहिष्णुता का प्रतिवाद हर युग के विचारकों और कवियों ने किया। उन्ही के शिष्य अरस्तू का 'विवेचन सिद्धांत' वास्तव में कवियों पर लगाए गए अभियोग का उत्तर है।

प्रारंभिक दशा में एक दार्शनिक की ओर से काव्य और कला संबंधी इतने विचारों का व्यक्त होना ही अपने आप में महत्वपूर्णता है। उनके विचारों की सीमाएँ आगे आलोचना के विकास में मदद करती हैं। यदि प्लेटो की आलोचना दृष्टि के प्रमुख प्रतिमानों को देखा जाए तो यह स्पष्ट होता है कि उसका कला संबंधी दृष्टिकोण मानवीय है। अर्थात् वे इस पक्ष पर बल देना चाहते हैं कि कला कैसी होनी चाहिए और इसीलिए उपयोगितावादी, नैतिकतावादी गुणों पर उनका बल है। वे सबसे अधिक महत्व काव्य या कला से उत्पन्न होनेवाले प्रभाव को देते हैं।

10.3.3 अरस्तू

पाश्चात् काव्य-शास्त्र के निर्माताओं में प्लेटो के शिष्य अरस्तू (384-322 इ.पू) का वहीं स्थान है जो हमारे यहाँ भरत मुनि का है। अरस्तू के काव्य शास्त्र 'पेरिपोरातीक्स' का एक अंश ही प्राप्त हुआ है। यह लगभग 50 पृष्ठों की छोटी सी पुस्तिका है। अरस्तू ने काव्य को समझने के लिए सबसे पहले एक वैज्ञानिक आधार दिया। वस्तु को समझने के लिए उन्होंने चार बातें आवश्यक मानी-प्रयोजन, उपादान कारण, निमित्त कारण और तत्व। उनका यह कहना बहुत ही वैज्ञानिक है कि किसी वस्तु का निर्माण तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक उसका कुछ प्रयोजन न हो। प्रयोजन के साथ ही उपादान की भी जरूरत होती है और उसका उपयोग करनेवाले की भी जो निमित्त है और फिर जिस वस्तु का निर्माण होना है, उसके तत्वों की जानकारी भी होनी चाहिए। उदाहरण के लिए घड़े का निर्माण जल रखने के प्रयोजन की पूर्ति के लिए होता है। उसके लिए मिट्टी (उपादान कारण) की आवश्यकता होती है। मिट्टी से घड़ा अपने आप नहीं बन जाता। इसके लिए चाकु, कुम्हार (निमित्त कारण) अपेक्षित हैं। कुम्हार को भी घड़े के तत्वों अर्थात् उसकी आकृति, प्रकृति, धारणा से परिचित होना चाहिए।

इस वैज्ञानिक आधार के साथ-साथ अरस्तू ने प्लेटो के उस दार्शनिक प्रश्न पर भी विचार किया जिसमें प्लेटो कविता को अनुकृति की अनुकृति मानते हुए, उसे वास्तविकता से दुगुनी दूर मानते हैं और नैतिक आधार पर कवियों और कविता के बहिष्कार का आदेश देते हैं। अरस्तू ने अपने गुरु की मान्यताओं का सीधा खंडन नहीं किया। लेकिन कविता क्या है, इस मूलभूत प्रश्न का विवेचन करके उन्होंने कविता और कला को दर्शन और नैतिकता से अलग एक स्वतंत्र और महत्वपूर्ण मानव-क्रिया का गौरव प्रदान किया। अपने विवेचन (Catharsis) के सिद्धांत का प्रतिपादन करके काव्य और कला के उदात्त प्रभाव पर प्रकाश डाला। काव्य के संबंध में उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने उनके विचारों को व्यापकता दी। वे कहते हैं 'काव्य के सामान्य शीर्षक के अंतर्गत केवल काव्य पर नहीं बल्कि काव्य के विविध भेदों, उनके विशिष्ट प्रयोजनों, कथानक की संरचना, उसके खंडों की रचना, प्रकृति या इनसे संबद्ध अन्य विषयों पर भी मैं विचार करना चाहता हूँ। इस प्रकार उन्होंने काव्य के माध्यम, विषय और पद्धति को काव्य के भेदक तत्वों के रूप में सामने रखा, ये भेदक तत्व इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि प्लेटो की काव्य-विरोधी-धारणा विषय-वस्तु पर केन्द्रित थी और उसमें माध्यम और पद्धति का अभाव था।

अरस्तू ने प्लेटो की भांति काव्य की उत्पत्ति का कारण भी केवल अनुकरण को नहीं माना बल्कि उन्होंने सामंजस्य (harmony) तथा लय (rhythm) को भी अनुकरण के समान महत्व दिया। उन्होंने हर प्रकार की कविता अर्थात् महाकाव्य, 'ट्रेजिडी' 'कामेडी' और प्रगीतात्मक को अनुकृति-मूलक माना लेकिन अनुकरण संबंधी उनका अभिप्राय बहुत व्यापक था। इसे वे कला संबंधी एक व्यापक सौन्दर्य नियम मानते हैं और अनुकरण को सृष्टिकरण की प्रक्रिया का पर्याय मानकर देखते हैं। उनका यह मानना है कि कवि या कलाकार अनुभव करते हुए या कार्य में सलग्न मनुष्य को विभिन्न माध्यमों में रूपायित करता है। इसीलिए यह अनुकरण काव्य-धर्मी होता है। इसी दृष्टि से अरस्तू ने पात्रों का भी वर्गीकरण किया। उन्होंने ट्रेजिडी की जो व्याख्या की है वह पाश्चात्य आलोचना में आधारस्तम्भ मानी जाती है। दुःखान्तक की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'ट्रेजिडी' किसी गंभीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुभूति का नाम है, जिसकी भाषा भिन्न भिन्न मार्गों में, भिन्न भिन्न रूप से प्रयुक्त आनंददायी उपकरणों से अलंकृत होती है। इस अनुकृति का रूप वर्णनात्मक न होकर नाटकीय होती है जिसके कार्य व्यापार में करुणा तथा त्रास की भावनाओं का उद्रेक करनेवाली घटनाओं की योजना रहती है ताकि इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जा सके। 'दुःखान्तक की इस परिभाषा के साथ ही अरस्तू ने उसके छः अंग भी निर्धारित किए- कथानक (Plot), चरित्र (Character), विचार (thought), पदयोजन (diction), गीत (song), दृश्य (spectacle)। इनमें से उन्होंने कथानक को सबसे महत्वपूर्ण माना। कथानक से अरस्तू का अभिप्राय नाटक की कहानी मात्र नहीं था बल्कि घटनाओं की संरचना (Structure of the incidents) था। इसीलिए वे घटनाओं की क्रमव्यवस्था और संगति को भी कथानक के लिए अनिवार्य मानते हैं। अरस्तू ने कथानक को ट्रेजिडी की आत्मा

कहा, घटनाओं की कलात्मक संरचना के रूप में कथानक को देखने की उनकी दृष्टि बहुत विवेचनात्मक है लेकिन कथानक को अति महत्व देने के कारण और चरित्र इत्यादि को गौण स्थान देने के कारण उनकी आलोचना भी की गई।

सबसे महत्वपूर्ण प्रतिस्थापनाएँ जो अरस्तु के विचारों में हमें दिखाई देती हैं, उनमें पहली यह है कि उन्होंने पहली बार इतिहास और काव्य का भेद बताते हुए एक महान तथ्य पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि इतिहास उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और काव्य में उसका वर्णन रहता है जो घटित हो सकता है और इसलिए काव्य का स्वरूप इतिहास से भव्यतर है। दूसरे अरस्तु ने सबसे पहले उपयोगी कला और ललित कला का भेद भी स्पष्ट किया और ललित कला को पृथक् सत्ता घोषित की। प्रकृति के संबंध में उनका यह स्पष्ट मत था कि कला प्रकृति का अनुकरण है। प्रकृति शब्द का प्रयोग भी अरस्तु ने साधन और कारण के रूप में वस्तु या विषय के रूप में करते हुए कला को प्रकृति का पूरक माना। यहाँ अनुकरण को व एक निम्नकोटि का व्यापार नहीं मानते क्योंकि जहाँ कला प्रकृति का अनुकरण होती है, वहाँ वह मूल अधिक रमणीय और आकर्षक होती है।

अरस्तु की ये स्थापनाएँ पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र की मूलाधार बन गईं। पूरे काव्य को ही एक तरह से नकार देने का प्रयत्न प्लेटो ने किया था जिसकी अवेहेलना करके, किसी नए काव्य-सिद्धांत का प्रतिपादन करना कठिन ही नहीं, असंभव-सा था। अरस्तु ने यह कार्य संभव करके दिखाया। इसीलिए उन्हें पाश्चात्य आलोचना का वैज्ञानिक द्रष्टा कहा जाता है। उनके समय में महाकाव्य, ट्रेजेडी, कॉमेडी और गीतकाव्य के अलावा काव्य और साहित्य के अन्य रूपों-प्रकारों का विकास नहीं हुआ था लेकिन उनके विचारों के आधार पर ही साहित्य और कला के अन्य सभी रूप प्रकारों पर अमरीकी नई आलोचना और शिकागो-स्कूल विचार करते रहे हैं क्योंकि उनका काव्य-शास्त्र विवरणात्मक आलोचना का उत्तम और प्रथम उदाहरण है।

10.3.4 लौजाइनस

यूनानी काव्य शास्त्र में अरस्तु के बाद लौजाइनस का नाम ही उल्लेखनीय है। उन्होंने प्लेटो और अरस्तु द्वारा उठाए गए काव्य संबंधी तात्त्विक प्रश्नों पर विचार न करके, एक नई दृष्टि से साहित्य-तत्त्व का विवेचन और स्वरूप-निरूपण किया। लौजाइनस की यह सबसे बड़ी विशेषता है। काव्यानुभूति को लौजाइनस ने मनुष्य की उच्चतम प्रकृतियों में से एक माना। पाठक या श्रोता पर उदात्त प्रभाव डालने को ही उन्होंने साहित्य का लक्ष्य, प्रयोजन, औचित्य और मूल्य माना। इस दृष्टि से ही पाश्चात्य आलोचकों ने उनके काव्य में 'उदात्त तत्त्व' के सिद्धांत को महत्व दिया। लौजाइनस में महान आलोचक के गुण थे तभी उन्होंने औदात्य के गुण तभी उत्पन्न होता है, जब उसका लेखक महान विचारों की अवधारणा से पूर्ण हो और इस पूर्णता के साथ लौजाइनस विशिष्ट शैली, वाक्य विन्यास, शब्द योजना और अलंकरण के प्रश्न को भी उठाते हैं। साहित्य की महानता का यह मानदंड लौजाइनस ने ही निर्धारित किया।

10.3.5 होरेस

होरेस (65 ई.पू. से 8 ई.पू. तक) रोमी कवि और आलोचक थे। होरेस के काव्य संबंधी विचार पत्र के रूप में प्राप्त होते हैं। होरेस को यूनानी साहित्य का और अरस्तु का भक्त माना जाता है और इसीलिए उसे रुढ़िवादी भी कहा गया है। इसका एक कारण यह है कि होरेस की यह मान्यता है कि जो कृति काल की कसौटी पर खरी उतर चुकी हो, उसे ही आदर्श मानना चाहिए। यह सच है कि होरेस ने पूर्ववर्ती विचारकों के विचारों का मथन ही किया। लेकिन कविता के रूप-तत्त्व के संबंध में जो व्यावहारिक सुझाव उन्होंने स्पष्ट शब्दों में दिए हैं, उनका अपना महत्व है। रचना शिल्प, काव्य शैली, शब्दों की आत्मा आदि काव्य के बाह्यावयव का निरूपण करते हुए होरेस ने जो विचार व्यक्त किए हैं, वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। रचना में विषय की सरलता पर उनका सबसे अधिक बल

है। वे पहले पाश्चात्य आलंकारिक है, जिन्होंने गद्य के रचना-शिल्प पर भी विचार किया और जिसके अनिवार्य तत्वों की ओर भी ध्यान दिया। उचित शब्दों का चयन स्पष्टता, संक्षेप में अधिक कहने की क्षमता, विशिष्ट रूप-विन्यास, सहजता, प्रभविष्णुता और हास्य-व्यंग्य का पुट गद्य के लिए अनिवार्य माना ताकि वह हृदय पर सीधा प्रभाव डाल सके। इसके साथ ही शैली और वाक्य-विन्यास, शब्दों की ध्वनि और लय को भी उन्होंने गद्य रचना के लिए अनिवार्य माना।

होरेस के सभी विचार औचित्य को काव्य रचना का प्रधान गुण मानते हैं। विषय, भाव, भाषा, छन्द के औचित्य के प्रति उन्होंने पहली बार स्पष्ट शब्दों में कुछ कहा। होरेस की दूसरी विशेषता यह है कि उनकी आलोचना निर्देशात्मक है अर्थात् वे इस बात पर विचार करते हैं कि रचना केसी होनी चाहिए। इसका कारण यह है कि उन्होंने काव्य पर एक रचनाकार की दृष्टि से विचार किया।

10.3.6 दैति

तेरहवीं शताब्दी में दैति के रूप में इतालवी कवि का जन्म होता है। संकीर्ण धार्मिक मतवाद के नीचे दबी मानवीय आकांक्षाओं को दैति की प्रतिभा ने एक स्फुरण से भर दिया। इसलिए दैति को सांस्कृतिक पुर्नजागरण का अग्रदूत कहा जाता है। दैति ने अपने महाकाव्य डिवीन कामेडी (Divine Comedy) की रचना परिमार्जित लातिनी में न कर के, जनबोली इतालवी में की और तभी उसने इस प्रश्न पर विचार किया कि काव्य में जन सामान्य की प्राकृत भाषा का प्रयोग कर के भी उसके ग्राम्यता और क्षुद्रता से कैसे बचाया जा सकता है। दैति ने काव्य रचना में दो तत्वों को प्रधान माना-काव्य की विषय वस्तु का चुनाव और उसके अनुरूप भाषा का प्रयोग। दैति का यह दृष्टिकोण उल्लेखनीय है कि यदि काव्य विषय महान् न हो तो रचना कौशल के आधार पर ही महान् कविता की रचना नहीं हो सकती। इसके लिए उसने महान् कविता के लिए तीन विषयों को उपयुक्त बताया-देश प्रेम, नारी प्रेम, और ईश्वर भक्ति। इन विषयों की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए, इन्हें अभिव्यक्त करनेवाले शब्दों का सावधानी से प्रयोग होना चाहिए। इस पर भी दैति ने विस्तार से चर्चा की है। दैति पहले आलेचक है जो काव्य-रचना को एक यत्न-साध्य साधना के रूप में देखते हैं और विश्लेषित करते हैं। इस दृष्टि के पीछे निश्चित रूप से उनका कवि-मानस सहायक रहा।

10.3.7 आधुनिक पाश्चात्य आलोचना दृष्टि और प्रतिमान

पाश्चात्य आलोचना में 16वीं शताब्दी के अंत तक होरेस और दैति के बाद कोई उल्लेखनीय आलोचक नहीं हुआ। इस बीच मध्ययुगीन प्रतिबंधों के शिथिल पड जाने के कारण 14वीं शताब्दी से हमें विभिन्न देशों में राष्ट्रीय साहित्य का विकास दिखाई देने लगता है। इंग्लैंड के दरबारी कवि सर फिलीप 'सिडनी' (Sir Philip Sydney) का पद्यात्मक निबंध- 'कविता की वकालत' उनकी मृत्यु के बाद सन् 1595 में प्रकाशित हुआ। हम इसी समय से आधुनिक पाश्चात्य आलोचना की परंपरा का प्रारंभ मान सकते हैं।

इस समय तक इंग्लैंड में चोन्सर (Chancer), स्पेन्सर (Spencer) जैसे प्रसिद्ध कवि और शेक्सपीयर (Shakespeare) तथा बैनजॉनसन (Ben Johnson) जैसी प्रतिभाओं का पदार्पण हो चुका था। फिलीप सिडनी के निबंधों में प्युरिटन धर्म के प्रभाव के कारण इन कवियों-प्रतिभावों के पदार्पण के पहले कविता का जो अनादर था, उसी के संदर्भ में कविता की वकालत की गई है। सिडनी के तर्कों में मुख्य तर्क यह है कि कविता आदि काल से होती चली आ रही है तथा मनुष्य को सभ्य और संस्कृत बनाने में उसका योगदान महत्वपूर्ण है। सिडनी कविता को कल्पना की सृष्टि मानते हैं और यह भी मानते हैं कि वह सच्ची न होते हुए भी, नैतिक शिक्षा देने में सच्चे वक्तव्यों से अधिक प्रभावशाली होती है। कविता से संबंधित ये विचार पूर्ववर्ती आलोचकों से मिलते-जुलते हैं। लेकिन इसके आधार पर ही सिडनी ने 'सच्ची कविता' के संबंध में अपने जो विचार दिए हैं, वे उल्लेखनीय हैं। 'सच्ची कविता को जो ईमानदार और सत्य परक होती है हास्यास्पद नहीं समझाना चाहिए। रोमन लोग कवि को द्रष्टा और पैगम्बर समझते थे। वह इसलिए कि कवि एक सृष्टा है। वह अन्य प्रकार

के दस्तकारों और वैज्ञानिकों से भिन्न होता है और वह जिस कल्पित संसार की सृष्टि करता है, वह वास्तविक संसार से श्रेष्ठतम होता है। सिडनी का यह विचार अरस्तु के विचारों से साम्य रखता है लेकिन सिडनी की दृष्टि में काव्यसृष्टि लोकधर्मी मानदंडों से भी श्रेष्ठतर होती है। उनका यह कहना कि 'वास्तविक जीवन क्षुद्रतापूर्ण है, कवि एक स्वर्णिम संसार की रचना करता है' एक नई उद्भावना है।

इसके साथ ही सिडनी ने अरस्तु के अनुकरण के सिद्धांत को एक नए ढंग से प्रस्तुत किया। अरस्तु ने प्लेटो के काव्य संबंधी अभियोगों का खंडन करते हुए यह सिद्ध किया था कि कविता जीवन की मूलभूत संभावनाओं का अनुकरण है। सिडनी ने यद्यपि 'अनुकृति' शब्द का प्रयोग किया है लेकिन उनकी दृष्टि में कवि की कल्पना वास्तविकता को अधिक गहराई से प्रतीति नहीं कराती, बल्कि एक नया ही संसार रचती है जो वास्तविक संसार से श्रेष्ठतर होता है। सिडनी के विचार से कवि एक आदर्श संसार की कल्पना प्रस्तुत करके लोगों को शिक्षा देता है। इस प्रकार सिडनी ने यह सिद्ध किया कि कविता सत्य की अनुकृति, प्रकृति की अनुकृति नहीं होती। (जैसा कि प्लेटो का विचार था) बल्कि वह कवि द्वारा साक्षात्कार किए हुए सत्य की अनुकृति होती है। और इसीलिए उन्होंने कविता को 'आदर्श विचार तत्व रूप' की संज्ञा दी है। इस प्रकार सिडनी ने काव्य संबंधी प्रारंभिक धारणाओं का खंडन ही नहीं किया बल्कि एक व्यापक दृष्टिकोण से देखते हुए, काव्य को एक नया संदर्भ भी दिया। सिडनी के बाद जॉन ड्रायडन (John Dryden) (1631-1700) को पाश्चात्य जगत् का महत्वपूर्ण आलोचक माना जाता है। ड्रायडन युग चेतना कवि थे आलोचक भी। उनके आलोचनात्मक निबंधों और भूमिकाओं से यह स्पष्ट होता है कि वे परंपरा के महत्व को स्वीकार करते हुए भी, नवीन उपलब्धियों के प्रति उदासीन नहीं थे। इसीलिए उन्होंने चौसर, शेक्सपीयर और मिल्टन की कविता का जो मूल्यांकन किया, वह परवर्ती मूल्यांकन का आधार बन गया है। उनकी आलोचना दृष्टि तीन तात्विक प्रश्नों से संबंध है— कविता क्या है? कविता का प्रयोजन क्या है? और एक कलाकृति का मूल्य क्या होता है? इन प्रश्नों को ड्रायडन ने अपने पूर्ववर्ती सभी आलोचकों की तुलना में अधिक गहरी दृष्टि से देखा है। प्लेटो के अनुसार कविता वास्तविकता की अनुकृति की अनुकृति है। अरस्तु के अनुसार कविता वस्तु का सम्यक् चयन है, जिसके द्वारा कवि घटनाओं की सामंजस्यपूर्ण संघटना द्वारा वास्तविकता की गंभीरतर प्रतीति करा सकता है। सिडनी के अनुसार कवि कविता के माध्यम से वास्तविक जगत् से श्रेष्ठतर एक काल्पनिक जगत् की सृष्टि करता है, जिसमें कि उसके पाठक का नैतिक स्तर ऊँचा उठ सके। ड्रायडन ने इन सब बातों से भिन्न यह प्रतिपादित किया कि कवि का यह कार्य है कि वह जीवन को जैसा और जिस रूप में पाए, उसे वैसा ही चित्रित करे। इसके लिए ड्रायडन ने पुराने सभी आलोचकों के तर्कों को यह कहकर निरस्त कर दिया कि काल, देश और कथानक की अन्विति की बात जो अरस्तु के नाम चल रही है, वह काफी नहीं है क्योंकि अरस्तु ने पुराने नाटकों के आधार पर अपने मत दिए थे। उन्होंने यदि हमारे नाटकों को देखा होता तो संभव था वे अपना विचार बदल देते। 18वीं शताब्दी में इस तरह का वक्तव्य एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण का परिचायक है। अंगरेजी में शेक्सपीयर आदि का उदाहरण देते हुए ड्रायडन ने यह दावा किया कि अंगरेजी में ट्रेजिडी का उन्नत और सम्यक् विकास हो चुका है जो यूनान में दुर्लभ था। इसका कारण केवल भाषा भेद को वे नहीं महनते, बल्कि इस बीच मनुष्य में चारित्रिक और रुचि संबंधि अनेक परिवर्तनों का भी वे उल्लेख करते हैं और यह घोषित करते हैं कि इन परिवर्तनों के बीच रहते हुए, कवि प्राचीन की नकल करते हुए नहीं रह सकता। इस प्रकार ड्रायडन पहले आलोचक है जिन्होंने देश काल और समाज की चेतना में कवि की चेतना के अविच्छिन्न संबंध को सिद्ध किया और यह कहा कि कवि अपने राष्ट्र और युग की आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देता है, जो उसकी प्रगति के अनुकूल होती है। काव्य के प्रयोजन के संबंध में भी ड्रायडन के विचार क्रांतिकारी हैं। पहले के आलोचकों ने कविता का कार्यशिक्षा देना, मनोरंजन करना, भावोद्रेक पैदा करना आदि माना था। ड्रायडन ने आनंद को काव्य का साध्य माना। उन्होंने कहा 'आनंद ही एकमात्र काव्य का सबसे प्रमुख साध्य है'। आनंद की व्याख्या करते हुए उन्होंने सस्ते मनोरंजन और गंभीर आनंद में भी भेद किया और कविता का आनंद उन्होंने आत्मा को प्रभावित करने, भावों का उद्रेक करने और उदात्त भावना को जाग्रत करने में निहित माना। अनुकरण के संबंध में भी ड्रायडन अनुकरण को विस्तृत फलक पर देखते हैं, जिसके माध्यम से कवि मानव स्वभाव का प्राणवान और सुंदर बिंब, चित्र प्रस्तुत करता है, जिसमें

मनुष्यों के अंतरतम भाव और रगद्वेष प्रतिबिंबित होते हैं। ड्रायडन ने कवि-कल्पना पर बहुत बल दिया है। इसे ही वह प्रमुख रचना-शक्ति मानते हैं। उनका यह भी मानना है कि कवि किसी बाह्य नियम में बंधकर सृष्टि नहीं करता, बल्कि इस आंतरिक शक्ति के निर्देशन पर ही रचना करता है। कल्पना शक्ति ही कवि का पथ प्रदर्शन करती है। कवि की कल्पना को बाह्य नियमों से अधिक महत्व दे कर, ड्रायडन ने काव्य-रूढ़ियों और परंपरावाद के शिकजे से कवि को मुक्त करने में सहायनीय योग दिया।

फ्रांस की क्रांति के कारण आधुनिक आलोचना का दृष्टिकोण बहुत साफ होकर हमारे सामने आता है और इन दृष्टिकोणों के भेद से आई उनकी काव्य संबंधी धारणा और चिंतन इतने स्पष्ट हैं कि इन्हें अलग अलग नाम देकर पहचाना गया। इन्हें हम स्वच्छन्दतावादी आलोचना, यथार्थवादी आलोचना, रूपवादी आलोचना और प्रगतिवादी आलोचना आदि नामों से अभिहित करते हैं। इन पर और इनसे जुड़े प्रभाव, दृष्टिकोणों और विचारों पर संक्षिप्त चर्चा की जाएगी।

फ्रांस की पूँजीवादी क्रांति और रूसो, वाल्टेयर और गेटे के कृतियों ने साहित्य में स्वच्छन्दतावादी धारा को एक नई दिशा और शक्ति प्रदान की। हर प्रकार के प्रतिबंधों, साहित्यिक परंपराओं और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, व्यक्तिवाद, मनुष्य और व्यक्ति-स्वातंत्र्य में आस्था, प्रकृति से प्रेम और किसी अज्ञात अलौकिक शक्ति में गहरी रुचि, कल्पना की उन्मुक्त उड़ान और भावों की स्वच्छन्द-अभिव्यक्ति, अहंवाद, निराशा, पलायन और नए पूँजीवादी समाज-संबंधों के प्रति घोर असंतोष की भावनाये स्वच्छन्दतावादी साहित्यिक-धारा की चारित्रिक विशेषताएँ हैं।

इस साहित्यिक दृष्टिकोण को व्याप्ति करने वाले आलोचकों में वर्ड्सवर्थ (1770-1850) का नाम प्रमुख है। अपनी कविताओं का संकलन 'लिरिकल बेलोड्स' (Lyrical Ballads) की भूमिका में उन्होंने ये प्रश्न पूछे कि कवि शब्द का क्या अर्थ है? कवि कौन होता है? उसका निवेदन किसके प्रति होता है? और उससे कैसी भाषा की अपेक्षा करनी चाहिए? इस प्रकार वर्ड्सवर्थ पहले कवि और आलोचक हैं जिन्होंने परंपरागत आलोचना के लोकप्रिय और विचारणीय प्रश्न कविता क्या है? के उद्घोष में न पड़कर कविता कैसे रची जाती है अर्थात् कविता की रचना प्रक्रिया क्या होती है, इस प्रश्न का विवेचन किया। आधुनिक पाश्चात्य आलोचना में इस प्रश्न को ही सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। वर्ड्सवर्थ ने जो प्रश्न उठाए, उनके उत्तर भी उन्होंने बहुत ही तार्किक, वैज्ञानिक और कवि की दृष्टि से दिए। कवि के संबंध में उनके विचार हैं, 'कवि मानव होता है, वह मानवों से ही अपनी बात कहता है। हाँ, उसकी संवेदनाशक्ति अधिक जीवंत होती है। उसमें अधिक उत्साह और सौकुमार्य होता है। और उसे मानव स्वभाव का अधिक गंभीर ज्ञान होता है, उसकी आत्मा अधिक विशाल होती है।' इस विशिष्ट प्राणी (कवि) से किस तरह की भाषा की अपेक्षा की जानी चाहिए? इस प्रश्न पर विचार करते हुए वर्ड्सवर्थ यह स्थापित करते हैं कि कवि की भाषा में वह यथार्थता और जीवंतता नहीं हो सकती जो भावों के वास्तविक दबाव से निकली साधारण मनुष्यों की अभिव्यक्ति में होती है। इसलिए कवि को चाहिए कि वह 'साधारण लोगों की' विशेषकर 'सरल ग्रामीण लोगों की' भाषा को कविता की भाषा बनाए। वर्ड्सवर्थ का यह विचार उनके पूर्ववर्ती आलोचकों लौजाइनस आदि के विचारों का बिल्कुल विरोधी है जो यह मानते थे कि साधारण बोलचाल की भाषा के प्रयोग से कविता में दोष या औदात्य की कमी आ जाएगी। वर्ड्सवर्थ द्वारा सरल भाषा का पक्ष लेने का एक कारण यह भी था कि वे कविता को स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति मानते हैं। इसीलिए वे परिष्कृत और परिमार्जित भाषा के स्थान पर स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति के लिए सरल भाषा का प्रयोग अनिवार्य मानते हैं।

रचना प्रक्रिया के संबंध में उनका निर्देश अनुकरणीय बन गया। अनुभूत भावों को एकांत वातावरण में पुनः स्मरण करके कविता की रचना करनी चाहिए, जल्दबाजी में नहीं, यह विचार कवि के मानसिक और परिवेशगत व्यवहारों को सम्मानित करने की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है। इसके साथ ही वे कवि को यह भी चेतनावनी देते हैं कि उसे सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि वह जो कुछ लिख रहा है, जन साधारण के लिए लिख रहा है, न कि अपने समानधर्मी अनुभूतिपूर्ण कुछ मुट्ठी भर लोगों के लिए। इस प्रकार रचना प्रक्रिया में वे पाठक को कभी नहीं भूलते। काव्य के साध्य

के रूप में वर्ड्सवर्थ ने भी आनंद को ही मान्यता दी है। इतना ही नहीं उन्होंने उसे कविता का नैतिक धर्म भी बताया। कविता को मानव और प्रकृति का प्रतिबिम्ब मानते हुए उन्होंने यह कहा कि कवि मानव प्रकृति की रक्षा करनेवाली शिला होता है, जो अपनी भाव-शक्ति और ज्ञान से मानव-समाज को एक सूत्र में बाँधता है इस प्रकार वर्ड्सवर्थ का आनंद संबंधी प्रयोजन ऐसे आनंद की बात करना है जो मनुष्य में गिरावट नहीं पैदा करता, जो ज्ञान-प्रप्ति का साधन है और जो मानव-मात्र को एक-सूत्र में बाँधता है। इस तरह वर्ड्सवर्थ की आलोचना दृष्टि कवि, कविता और कविकर्म की महत्ता का विवेचन करते हुए, एक उच्चतर कोटि के आनंद को साहित्य का साध्य बताती है।।

आधुनिक आलोचना दृष्टि में स्वच्छन्दतावादी धारा के दूसरे प्रमुख आलोचक कॉलरिज (1772-1824) हैं। कॉलरिज वर्ड्सवर्थ के भिन्न और सहयोगी कवि थे। उन्होंने सबसे पहले उस प्राचीन काव्य संबंधी समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जिस पर वर्ड्सवर्थ ने भी समुचित विचार नहीं किया था। वह प्रश्न यह था कि काव्य या कला में विषय-वस्तु और रूप-तत्व का क्या संबंध होता है? पूर्ववर्ती आलोचकों में सिडनी ने यह बताने की कोशिश की थी कि कविता क्या कर सकती है। ड्रायडन ने यह बताने की कोशिश की कि कविता को क्या करना चाहिए और वर्ड्सवर्थ ने यह बताया कि कवि के मन में किस प्रकार की प्रक्रिया होती है। जबकि कॉलरिज ने एक सीमा तक अरस्तु की विवेचन-प्रणाली का प्रयोग करते हुए यह जानने की कोशिश की कि कविता क्या होती है और अन्य प्रकार की अभिव्यक्तियों (चित्रकला और मूर्तिकला और शिल्पकला) आदि से वह किस तरह भिन्न है। इस प्रकार कॉलरिज ने सौंदर्य-तत्व के विवेचन को पुनः दार्शनिक चिंतन का विषय बना दिया।

अपने प्रसिद्ध ग्रंथ बायोग्राफिया लिटरेरिया (Biographia Literaria) में उन्होंने कविता के रूप-तत्व की चर्चा करते हुए कविता और गद्य के भेदों पर तात्त्विक विचार प्रस्तुत किये हैं- 'कविता में भी वे ही तत्व होते हैं जो एक गद्य रचना में। उनका यह मानना है कि क्योंकि दोनों शब्दों का प्रयोग करते हैं इसीलिए कविता और गद्य रचना के भेद का आधार माध्यम की भिन्नता नहीं है। इस भेद का कारण दोनों के भिन्न प्रकार की शब्द-योजना ही हो सकती है, जिसके परिणामस्वरूप दोनों के लक्ष्य भी भिन्न होते हैं। बाह्य आधार पर कविता का गद्य रचना से भेद करना कठिन है। गद्य और कविता के इस प्रश्न पर कॉलरिज की तरह विस्तार से कभी भी चर्चा नहीं की गई थी।

कॉलरिज ने काव्य क्या है? कवि कौन है? इन दोनों प्रश्नों का एक दूसरे में निहित मानते हुए, मौलिक कवि प्रतिभा की बात उठाई। प्रतिभा को वे सहज कल्पना से भिन्न नहीं मानते और प्रतिभा में सर्जनशीलता, आत्मनिर्भरता और मौलिकता के गुण को अनिवार्य मानते हैं। आनंद को कविता का तात्कालिक उद्देश्य मानते हुए उन्होंने काव्य को कवि प्रतिभा के साथ रख कर देखा। उत्तम काव्य के लिए उनके दो सूत्र महत्वपूर्ण हैं। उत्तम काव्य वह है जो पुराना नहीं पड़ता, जिसे हम बार बार चाहते हैं और काव्य में कैसे शब्दों का प्रयोग संदोष मानना चाहिए जिन्हें अर्थ में परिवर्तन किए बिना बदला जा सके।

इस प्रकार कॉलरिज ने कविता के विशिष्ट रूप, प्रकार और कल्पना पर जोर दिया तथा आनंद को कविता का तात्कालिक उद्देश्य बताकर, उसकी आनंद प्रदान करने की क्षमता को ही मूल्यांकन का आधार बनाया।

19वीं शताब्दी में यथार्थवादी आलोचना सिद्धांतों का विकास हमें दिखाई देता है जिसका प्रमुख श्रेय दो रूसी विचारकों-बैलिन्सकी और चर्नाशेवस्की को है। इसके बाद इस चिंतन-धारा का विकास कार्ल मार्क्स (Carl-Marx) मैथ्यू आर्नल्ड (Mathew Arnold) और डॉलस्टाय (Tolstoy) ने किया। बैलिन्सकी ने आलोचना को गतिशील सौन्दर्यशास्त्र मानते हुए, वास्तविकता, कलात्मक पूर्णता और प्रतिभा को रचना के लिए मूलभूत माना। उसका यह कहना है कि कविता वास्तविक सत्य विचारों की कला है न कि कृत्रिम संवेदनों की। पूरी यथार्थवादी आलोचना दृष्टि में वास्तविकता को एक चरम सूत्र के रूप में रखा गया है। बैलिन्सकी ने भी इसे विस्तार देते हुए कहा कि काव्य कृति में एक ऐसी प्रबल विचार-धारा का प्रतिफलन होता है जो कवि के मन पर हावी हो गया है। इस प्रकार बैलिन्सकी

कवि और उसके द्वारा अभिव्यक्त वस्तु के संबंध को अत्यंत घनिष्ठ मानते हैं। उनका यह विचार उल्लेखनीय है कि अकेला कवि या कलाकार ही वास्तविकता की प्रतिबिंबित करने का कारण या साधन नहीं है बल्कि वह वस्तु भी है जो उस कृति में प्रतिबिंबित होती है। वास्तविकता का संवेदन कवि सीधे अपनी आत्मा में महसूस करता है इसलिए महान कला जीवन, वस्तु जगत् और इतिहास की भाषा बोलती है। यथार्थवाद का यह विश्लेषण सबसे पहले बैलिनसकी ने ही प्रस्तुत किया। बैलिनसकी ने प्रतिभा की परिभाषा भी एक नए ढंग से प्रतिपादित की। वे बिंबों की भाषा में सोचने को ही प्रतिभा कहते हैं। साहित्य के संबंध में इसीलिए वे केवल अलंकृत अतिशयोक्तिपूर्ण प्रस्तुतीकरण को प्रतिभा का स्खलन मानते हैं। और शुद्ध कला या निरपेक्ष कला के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। इस दृष्टि से उन्होंने कहा कि कला सामाजिक दृष्टि से तटस्थ या विमुख कभी नहीं रही, न रह सकती है। कवि सबसे पहले मनुष्य होता है फिर अपने देश का नागरिक और फिर अपने युग का सुपुत। इसीलिए वे यह मानते हैं कि शुद्ध सौन्दर्यवादी आलोचना अब एक असंभव क्रिया बनती जा रही है। जो आलोचना केवल कृति और कवि की ही परख करे और जिस देश और काल में उसने लिखा, जिन परिस्थितियों ने उसको काव्य क्षेत्र में उतरने के लिए प्रेरित किया, उनकी ओर तनिक भी ध्यान न दे, वह आलोचना आलोचना नहीं है।

बैलिनसकी की साहित्य और कला संबंधी इन महत्वपूर्ण उद्भावनाओं का विकास चर्नीशेवस्की ने किया। अपनी पुस्तक 'कला का वास्तविकता से सौन्दर्यात्मक संबंध (Aesthetic relation of art of realins - 1853) में हीगल के भाव आदि सिद्धांतों को विधिवत् प्रतिपादित किया और उनका निरूपण किया। भाववादी दार्शनिकों की यह मान्यता थी कि मनुष्य केवल उस चीज में ही सौन्दर्य देखता है जिसमें किसी विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। चर्नीशेवस्की ने इस मान्यता के विरोध में कहा कि वास्तविकता से बाहर सौन्दर्य की खोज करना व्यर्थ है, क्योंकि सौन्दर्य वास्तविकता में ही अवस्थित होता है। उन्होंने उन सभी वस्तुओं को सुंदर माना जिनमें हम जीवन को उस रूप में देखते हैं जो हमारे विचार में उसका रूप होना चाहिए। इसी आधार पर उन्होंने जीवन और कला का संबंध बताते हुए कला को मनुष्य का एक नैतिक कर्म-व्यापार माना और यह स्थापना की कि कला का मुख्य प्रयोजन उन सभी वस्तुओं की 'पुनःसृष्टि' है जिनमें मनुष्य अपने वास्तविक जीवन में दिलचस्पी लेता है। यहाँ उन्होंने प्रचलित शब्द 'अनुकरण' के स्थान पर 'पुनःसृष्टि' का प्रयोग किया है। उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि जब कलाओं में जीवन की पुनः सृष्टि की जाती है, तब उसको शब्द, रेखा, रंग, स्वर या अभिनय द्वारा मूर्त रूप देते समय कवि या कलाकार चेतन या अचेतन रूप से उसके प्रति अपने निर्णय और अपनी भावना को भी अभिव्यक्ति देता है। इस प्रकार कला मनुष्य से अलग नहीं हो सकती। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि कला में विशेष सामान्य बनता है और सामान्य विशेष के माध्यम से ही अपने को उद्घाटित करता है। विशेष और सामान्य की यह द्वन्द्वात्मक अन्विति विचार-वस्तु और रूप की अन्विति द्वारा अभिव्यक्ति होती है, जिनके द्वारा कला सार्थक अनुभूतियों और अनुभवों का अक्षय श्रोत होती है। इन विचारों के द्वारा उन्होंने यथार्थवाद का संबंध कला की विचार-वस्तु से जोड़ा न कि विशिष्ट शैली या शिल्प से।

इंग्लैंड के मेथ्यू आर्नाल्ड (1822-1888) को भी हम 19वीं शताब्दी के यथार्थवादी आलोचकों की परंपरा में रख सकते हैं। उन्होंने साहित्य को जीवन की आलोचना कह कर अपने परवर्ती आलोचकों के लिए एक नया मानदंड प्रस्तुत किया। मेथ्यू आर्नाल्ड की महत्ता इस लिए है कि उन्होंने पहली बार व्यावहारिक आलोचना के नियमों का निरूपण किया। वास्तव में अंग्रेजी की आधुनिक आलोचना का सूत्रपात उन्हींसे होता है। अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में आर्नाल्ड की दृष्टि विशुद्ध व्यवहारिक थी। वे न तो आलोचना को दर्शन की शाखा स्वीकार करते हैं, न ही वे क्लैसिकल या स्वच्छन्दतावादी भेदों को स्वीकार करते हैं, बल्कि इसके स्थान पर आलोचना की स्वतंत्रता और स्वायत्तता के साथ उसे काव्य के गुणदोष परीक्षण तथा पाठक-वर्ग की रुचि-परिष्कार से जोड़ कर रखना चाहते हैं। इसलिए उन्होंने विस्तार से आलोचक के सामाजिक दायित्व को समझाने की कोशिश की है। लोक मंगल के प्रति नैतिक और सामाजिक उत्साह को वे आलोचक के लिए अनिवार्य मानते हैं। वास्तविक मूल्यांकन की संभावना वे तभी मानते हैं जब आलोचक सच्ची और महान कृतियों को पहचान सके और साधारण रचनाओं से उनका भेद कर सके। महान रचनाओं के लिए उन्होंने विषयवस्तु में सत्य और गंभीरता, शैली और रूप-विन्यास में उच्चकोटि का सौंदर्य, सार्थकता और शक्ति का होना अनिवार्य बताया है। वे अभिव्यंजना और विषय के सामंजस्य को महत्ता देते हुए, साहित्येतर मानदंडों को साहित्य के मूल्यांकन में बाधक घोषित करते हैं।

पाश्चात्य आलोचना के विकास में क्रोचे (Croce) का स्थान भी महत्वपूर्ण है। उन्होंने अभिव्यजनावाद की प्रवृत्ति को विकसित किया। अभिव्यजनावाद रूप-निर्माण की सभी रूढ़ियों और नियमों को स्वीकार नहीं करता। अमूर्त विचार को व्यक्त करने के लिए अभिव्यजनवाद का उनका सिद्धांत यह मानता है कि लेखक विचित्र शब्दों और वाक्य-विन्यास का प्रयोग करेगा। इसीलिए क्रोचे विचारों की स्पष्टता को महत्व नहीं देते और यह भी मानते हैं कि अभिव्यजनावादी रचनाओं का मर्म किसी व्याख्याकार के द्वारा ही समझा जा सकता है।

रिचर्ड्स के बाद आधुनिक पाश्चात्य आलोचकों में लगभग सभी का यह मत है कि साहित्य-कला जीवन से भिन्न ही नहीं, उससे बाह्य की वस्तु है और ये आलोचक उनका कोई अन्योन्याश्रित संबंध भी नहीं मानते। टी.एस.इलियट भी इस मान्यता के प्रमुख आलोचक हैं। उन्होंने लिखा कि 'कविता भावों का उन्मोचन नहीं है, बल्कि भावों से पलायन है, वह व्यक्तित्व की अभिव्यजना नहीं, व्यक्तित्व से पलायन है'। इस प्रकार इलियट का यह मानना है कि कवि 'व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति नहीं देता बल्कि एक विशिष्ट माध्यम को अभिव्यक्ति देता है, जिसमें प्रभाव और अनुभूतियाँ विचित्र ढंग से संयुक्त होती हैं। संक्षेप में इलियट यह प्रतिपादित करते हैं कि कला निर्वैयक्तिक होनी चाहिए और उसमें वर्णित भाव या विचार को वे उतना महत्वपूर्ण नहीं देते जितना महत्व वे अभिव्यक्ति की तीव्रता या चमत्कार-सृजन-क्षमता को देते हैं।

10.4 सारांश

काव्य को ईश्वरीय प्रेरण से उद्भूत मानना, उससे उपयोगिता के तत्व को प्रमुख मानना पाश्चात्य आलोचना के पहले चरण में हमें प्लेटो में दिखाई देता है। काव्य को अनुकृति (वस्तुजगत्) की अनुकृति मानते हुए उसको बहिष्कार और काव्य के प्रयोजन के स्तर पर उसके दुर्गुणों की चर्चा ने अरस्तू को बाध्य किया कि वे अपने गुरु के सीमित दृष्टिकोण को व्यापक एवं तार्किक आधार दें। इसलिए उन्होंने काव्य वस्तु के साथ उसके अन्य तत्वों पर भी विचार किया। उन्होंने कला को दर्शन व नैतिकता के सीमित दायरे से निकालकर एक स्वतंत्र-स्वायत्तता गरिमा दी। इसी प्रकार उन्होंने प्लेटो के अन्य आक्षेपों का भी तार्किक समाहार प्रस्तुत किया। लौजाइनस काव्यानुभूति को उच्चतम प्रवृत्तियों में एक मानते हुए साहित्य की महानता स्थापित करते हैं। होरेस का दृष्टिकोण अलंकार वादियों वाला दृष्टिकोण था। इसलिए वे कवि, काव्यभाषा आदि पर विचार व्यक्त करते हैं। दैति का अभ्युदय आलोचना के क्षेत्र में एक लंबे अंतराल के बाद होता है। वे काव्य विषय के चयन व उसके अनुसार भाषा के चयन की बात उठाते हैं। पाश्चात्य आलोचना की ये प्रारंभिक दृष्टियाँ आधुनिक आलोचना के विकास में महत्वपूर्ण योग देती हैं।

आधुनिक पाश्चात्य आलोचना के प्रमुख फिलिप सिडनी ने सच्ची कविता के स्वरूप के बारे में अपने विचार प्रस्तुत किए। सिडनी के बाद जॉन ड्राइडन ने कविता, उसके प्रयोजन, उसका भाषा-संबंधी अपना दृष्टिकोण से आलोचना के क्षेत्र को प्रभावित किया। उसके बाद पाश्चात्य आलोचना स्वच्छन्दतावादी तथा यथार्थवादी नामक दो संप्रदायों (Schools) में बँट गई। इस क्षेत्र में ऐ.ए.रिचर्ड्स, कॉलरिज, मैथ्यू आर्नाल्ड, टी.एस. इलियट आदि का महत्वपूर्ण स्थान है।

पाश्चात्य आलोचना के इस विकास क्रम के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि काव्य के बाह्य और आंतरिक स्वरूप, उसके प्रयोजन तथा उसकी सामाजिक चेतना आदि विषयों पर गंभीरता से और विस्तार से विचार किया गया है।

10.5 पारिभाषिक शब्दावली: अर्थ और अंग्रेजी पर्याय

- | | |
|----------------------|-------------------------|
| 1. आचार शास्त्र | - Moral teaching |
| 2. अनुकृतिमूलक | - Imitative |
| 3. मूलभूत | - Basic |
| 4. विवरणात्मक आलोचना | - Description Criticism |
| 5. स्थापनाएँ | - Finding |

10.6 अभ्यास

10.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. अरस्तू के अनुकरण के सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
2. फिलिप सिडनी कविता की वकालत किसे संदर्भ में करते हैं? कविता और कवि के संबंध में उनके विचार स्पष्ट कीजिए।
3. वर्ड्सवर्थ की काव्य प्रक्रिया संबंधी दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।

10.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)

1. अरस्तू के काव्य-विश्लेषण के चार आधारों को स्पष्ट कीजिए।
2. कविता क्या है? इस संबंध में प्रमुख विचारों को स्पष्ट कीजिए।
3. 'काव्य पुनः सृष्टि है'- इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
4. कवि प्रतिभा और उत्तम काव्य के गुणों को स्पष्ट कीजिए।
5. 'कविता वास्तविक संसार से श्रेष्ठतर एक नए संसार की सृष्टि करती है'- इस कथन को समझाइए।
6. प्लेटो के अनुकरण संबंधी विचारों को स्पष्ट कीजिए।

10.7 नमूने के उत्तर

10.7.1 'ब' श्रेणी के प्रश्न

प्रश्न: वर्ड्सवर्थ 'सरल भाषा' का पक्ष क्यों लेते हैं?

उत्तर: कवि को वर्ड्सवर्थ मानव मानते हैं और यह भी कि वह मानवों से ही अपनी बात करता है। उसकी संवेदनाशक्ति अधिक जीवंत होती है। कवि को इस दृष्टि से काव्य में कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए? यह प्रश्न भी उनके सामने उठा। उन्होंने यह स्पष्ट कहा कि कवि की भाषा में वह यथार्थता और जीवंतता नहीं होती जो भावों के साधारण दबावों से निकली साधारण मनुष्य की अभिव्यक्ति में होती है। इसलिए कवि को चाहिए कि वह 'साधारण लोगों की भाषा' विशेषकर 'ग्रामीण लोगों की भाषा' को कविता की भाषा बनाएँ। वर्ड्सवर्थ का यह विचार उनके पूर्ववर्ती आलोचकों के विचारों का सर्वथा विरोधी है, जो यह मानते थे कि साधारण भाषा के प्रयोजन से काव्य में दोष आ जाता है। वर्ड्सवर्थ ने सरल भाषा की बात इसलिए भी किया कि वे काव्य को स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति मानते हैं। इसलिए परिष्कृत-परिमार्जित भाषा स्वतः स्फूर्त नहीं होती, गढ़ी हुई होती है, जिसका वे विरोध करते हैं और स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति के लिए सरल भाषा को अनिवार्य मानते हैं।

प्रश्न: प्लेटो के अनुकरण के सिद्धांत की विवेचना कीजिए।

उत्तर: प्लेटो ने सबसे पहले इस तथ्य का निरूपण किया कि कलाएँ अनुकृति मूलक होती हैं और उनके द्वारा जगत के मूलभूत सत्त्यों की अभिव्यक्ति होती है। प्लेटो का अनुकरण का यह सिद्धांत दर्शन और प्रयोजन इन दो कारणों के आधार पर काव्य या नाटक को देखता है। दर्शन के आधार पर प्लेटो पहला स्थान प्रत्यय को देते हैं। दूसरा उसके प्रतिबिम्ब या आयाम (वस्तुजगत्) को और तीसरा स्थान वे वस्तुजगत् के प्रतिबिम्ब (कलाजगत्) को देते हैं अर्थात् वे प्रत्यय-जगत् को यथार्थ का अनुकरण है। उसके कारीगर को उसका निर्माता मानते हैं और कला-जगत् को जो वस्तुजगत् का अर्थात् अनुकरण का अनुकरण है, उसके कलाकार को अनुकर्ता मानते हैं। इस प्रकार कला को मूल भूत सत्त्यों की नकल मानते हुए, वे काव्य को अग्राह्य कहते हैं अर्थात् प्लेटो ने कला के संदर्भ में अनुकरण शब्द का प्रयोग नकारात्मक अर्थ में किया है।

10.8 पठनीय पुस्तकें

- | | |
|-------------------------------------|--|
| 1. आलोचना के सिद्धांत | - शिवदान सिंह चौहान, राजकमल, नई दिल्ली। |
| 2. भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका | - आचार्य नगेन्द्र, नेशनल, नई दिल्ली। |
| 3. पाश्चात्य काव्य शास्त्र | - देवेन्द्र नाथ शर्मा, नेशनल, नई दिल्ली। |
| 4. अरस्तु का काव्य शास्त्र | - आचार्य नगेन्द्र, भारती मंडल, इलाहाबाद। |

इकाई-11: आधुनिक भारतीय आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान

- 11.0 विषय प्रवेश
- 11.1 उद्देश्य
- 11.2 पाठ परिचय
- 11.3 मूलपाठ
 - 11.3.1 शुक्लपूर्व आलोचना दृष्टि और प्रतिमान
 - 11.3.2 आचार्य रामचंद्र शुक्ल के आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान
 - 11.3.3 शुक्लोत्तर आलोचना दृष्टियाँ और प्रतिमान
- 11.4 सारांश
- 11.5 शब्दार्थ
- 11.6 अभ्यास
 - 11.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 11.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 11.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 11.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 11.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में आधुनिक भारतीय आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान पर विचार किया गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- भारतेन्दु युग की आलोचना पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- रामचंद्र शुक्ल की रसवादी आलोचना दृष्टि को स्पष्ट कर सकेंगे।
- हजारी प्रसाद द्विवेदी की समन्वयवादी आलोचना दृष्टि पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- नंददुलारे वाजपेयी की आलोचना दृष्टि को स्पष्ट कर सकेंगे।
- भारतीय आलोचनात्मक दृष्टिकोण की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।

11.2 पाठ परिचय

प्रस्तुत पाठ में हिन्दी आलोचना के विकास के संदर्भ में आधुनिक भारतीय आलोचनात्मक प्रमुख दृष्टियाँ और प्रतिमानों की चर्चा की गई है। हिन्दी का आधुनिक युग भारतेन्दु काल से प्रारंभ होता है। इसी काल में उपन्यास, नाटक जैसी विधाएँ हिन्दी में आती हैं और आलोचना का प्रारंभ भी हमें इसी युग से दिखाई देता है। इसके बाद एक वैज्ञानिकता हिन्दी आलोचना में महावीर परसाद द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत होती है जिसकी चरम परिणति रामचंद्र शुक्ल की आलोचना में हमें दिखाई देती है। इस पाठ में इस पूरे ऐतिहासिक युग में आलोचना दृष्टि व प्रतिमानों की चर्चा मिलेगी और संक्षिप्त चर्चा शुक्ल जी के बाद की आलोचना दृष्टि पर की जाएगी। इन संक्षिप्त चर्चाओं से प्रमुख आलोचनात्मक विचारों को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जा सकेगा।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल को हिन्दी आलोचना के ऐतिहासिक युग को केन्द्र में रख कर पाठ को तीन भागों- शुक्ल पूर्व आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान तथा शुक्लोत्तर आलोचनात्मक दृष्टियाँ और

प्रतिमान-में विभक्त कर दिया गया है। शुक्ल पूर्व युग में भारतेन्दु व द्विवेदी युगीन प्रमुख आलोचकों को, फिर शुक्ल जी के दृष्टिकोण को और तीसरे भाग में नंददुलारे बाजपोयी, डा. नगेन्द्र और डा. रामविलास शर्मा की दृष्टियों को रखा गया है। संदर्भानुसार तुलनात्मक पद्धति से भी चर्चा की गयी है।

11.3 मूल पाठ

11.3.1 शुक्लपूर्व आलोचना दृष्टि और प्रतिमान

भारतीय आलोचना दृष्टि को यहाँ हम हिन्दी साहित्य के संदर्भ में विकसित आलोचना दृष्टि और प्रतिमानों के संदर्भ में ही देखेंगे। हिन्दी आलोचना के विकास का ऐतिहासिक परिचय हम भारतेन्दु युग से प्रारंभ करके प्राप्त कर सकते हैं। यह हम जानते हैं कि भारतेन्दु युग में ही उपन्यास, निबंध जैसी विधाएँ हिन्दी में प्रारंभ हुईं। आलोचना का आरंभ भी हम इसी युग से मान सकते हैं। इस युग की कुछ आलोचनात्मक दृष्टियाँ आगे की आलोचना में भी आधार बनती दिखाई देती हैं। हिन्दी के इस युग में पं.बालकृष्ण भट्ट का नाम लिया जा सकता है जो 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्रिका के संपादक थे। इस पत्रिका में उनके आलोचनात्मक लेख समय-समय पर छपते रहते थे। उन्होंने साहित्य की जो परिभाषा दी, उसमें निहित दो बातें महत्वपूर्ण हैं। एक तो यह कि साहित्य व्यक्ति विशेष के नहीं बल्कि सामान्य जनता के परिवर्तनशील चित्त की दशा का पता लगा सकते हैं। भट्ट जी की यही बात हमें बाद में हिन्दी आलोचना के प्रमुख स्तंभ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचारों में भी व्यक्त मिलती है। जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का सचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चलता है। भट्ट जी की दृष्टि ने साहित्य को मानव-समाज और उसके परिवर्तनशील स्वरूप से संबद्ध किया। उल्लेखनीय है कि इसके पहले हिन्दी आलोचना रीतिवादी सिद्धांतों और सामंती चेतना से बंधी हुई थी। इस बंधन को तोड़कर साहित्य को जनसाधारण के जीवन के प्रतिबिंब के रूप में देखना उनकी आलोचना दृष्टि की व्यापकता का परिचायक है।

पं.बालकृष्ण भट्ट ने आलोचना संबंधी कई निबंध इस पत्रिका में लिखे, जिनमें उनका 'सच्ची कविता' निबंध बहुत प्रचलित और श्रेष्ठ है जिसमें उन्होंने कविता पर स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनका यह दृष्टिकोण है कि स्वच्छन्दतावादी कविता पाठक के मन पर सीधा प्रभाव डालती है। वे कविता को मनुष्य के हृदयगत भाव का इत्र (ऐसेन्स) मानते हैं। इसलिए वे अनिवार्य रूप में यह मानते हैं कि यदि कविता को पूर्णतः प्रभावशाली होना है तो उसे पूर्णतः सच्चा होना चाहिए। इसके लिए नैसर्गिकता और कलात्मकता का होना अनिवार्य है। कलात्मकता की दृष्टि से वे बंधन को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उससे कविता की नैसर्गिकता नष्ट हो जाती है और उसमें बनावट आ जाती है। उनका यह मानना है कि यदि हमारे मन की भावनाएँ सच्ची हैं तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेंगी, वे भी सच्ची होंगी और उनका प्रभाव भी सच्चा होगा। इस संदर्भ में ही उन्होंने सुसंस्कृत कविता (Classic Poetry) को कृत्रिमता पूर्ण माना।

भट्ट जी का स्वच्छन्दतावाद प्रगतिशील स्वच्छन्दतावाद कहा जा सकता है क्योंकि उन्होंने हमेशा देश और समाज के कल्याण को ध्यान में रख कर काव्य रचना की बात कही।

भारतेन्दु युग में आलोचना का आरंभ पुस्तक-समीक्षा के रूप में हुआ। इन समीक्षाओं में समीक्ष्य पुस्तकों की विषयवस्तु के साथ-साथ उन पर यथासंभव आलोचनात्मक टिप्पणियाँ भी मिलती हैं और आलोचक की दृष्टि से लेखक को कुछ परामर्श भी इनके द्वारा मिलते हैं।

भारतेन्दु युग के दूसरे महत्वपूर्ण आलोचक पं.बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' हैं। प्रेमधन ने रीतिकाल की श्रृंगारिकता के लिए कवियों को दोष दिया और यह स्पष्ट कहा कि श्रृंगाररस अपने आप में बुरा

नहीं है। रीतिकालीन कवियों ने उसका उपयोग जिस तरह काव्य में किया वह बुरा है उन्होंने भी भट्ट जी की भाँति साहित्य को नए युग की आवश्यकता की पूर्ति का साधन बनाने पर बल दिया।

इस प्रकार के विचारों ने ही भारतेन्दु युग में नाटकलेखन का विस्तार किया, बदली हुई परिस्थितियों में नाटक को नया रूप देकर, उस संस्कृत नाटकों से भिन्न स्तर पर रखने के प्रयत्न में भी प्रेमधन ने अपना योगदान दिया। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि नाटक छोटे से छोटे विषय को ले कर लिखा जा सकता है। इसके लिए उन्होंने यूरोप के नाटकों के उदाहरण भी दिए। भारतेन्दु ने भी नाटक के संबंध में अपने आलोचनात्मक विचार व्यक्त किए। भारतेन्दु आवश्यकतानुसार भारतीय और पाश्चात्य नाट्य तत्वों के योग से एक आधुनिक नाट्यशास्त्र रचना चाहते थे, इसके लिए उन्होंने पुराने और नए में समन्वय की बात कही और देश काल और पात्र के प्रति विशेष दृष्टि रखने पर बल दिया। इसीलिए यथार्थवादी विषय वस्तु पर सामयिक रुचि के अनुकूल हो, ऐसी नवीन नाटक की परिभाषा दी। उन्होंने जो उद्देश्य बताए, उसमें समाज-संस्कार और देशवात्सलता प्रमुख हैं।

भारतेन्दु युग में ही नाटक को दृश्यकाव्य के रूप में विवेचित किया गया। इसलिए उनके विचार अभिनय की दृष्टि से प्रस्फुटित हुए। उनके लिए ऐसे नाटकों का कोई अर्थ नहीं था जो मंच पर प्रस्तुत न किए जा सकें। प्रेमधन ने भी इसीलिए नाटक को मात्र अनुकरण नहीं माना बल्कि संगमंच पर उसकी ऐसी प्रस्तुति पर बल दिया जिसमें अनुकार्य और अनुकर्ता का भेद मिट जाए और दर्शक तन्मय-दशा को प्राप्त हो जाए।

भारतेन्दु ने नाटक के साथ-साथ कविता पर भी अपने कुछ विचार व्यक्त किए थे। ये विचार आगे की आलोचना दृष्टियों के लिए प्रेरणा बन सके। भारतेन्दु ग्रंथावली में उनके कविता संबंधी जो विचार मिलते हैं, उससे तीन बातें स्पष्ट होती हैं कि वे कविता और संगीत के घनिष्ठ संबंध को मानते थे और संगीत का योग कविता के प्रभाव को तीव्र करता है, ऐसी भी उनकी मान्यता थी। दूसरे उनका यह सुझाव था कि संगीतयुक्त कविता का उपयोग जनसाधारण में नई चेतना और संस्कार जगाने के लिए करना चाहिए। कविता का व्यापक प्रचार हो, इसीलिए वे उसे ग्राम-गीतों के आदर्श पर रचे जाने के पक्षपाती थे।

भारतेन्दु की विचारधारायें तात्कालिक समाज की जटिल परिस्थिति का परिणाम हैं, जहाँ साहित्य को एक रूप देने के लिए भी प्रयत्न हो रहा था और जो साहित्य रचा जा रहा था उसके मूल्यांकन की दृष्टि से आलोचनात्मक दृष्टिकोण भी व्यक्त किए जा रहे थे। इस युग की आलोचना पुस्तक-समीक्षा होते हुए भी आलोचनात्मक संभावनाओं से भरी हुई है, इसमें गुणदोष विवेचन का प्रकार है लेकिन इसका मूल बल इस बात पर है कि रचना संपूर्ण रूप में कैसी है। रचना को सदैव सामाजिक और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य से संबद्ध करके ही देखा गया है, यह आलोचना लेखक और पाठक दोनों के लिए लिखी गई है। इसीलिए इसकी शैली गंभीर भी है और व्यंग्य विनोद से पूर्ण भी।

इस युग की आलोचना के प्रमुख दोनों आलोचक भट्टजी और प्रेमधन अपने मूलरूप में लेखक थे और इसीलिए उनकी आलोचना लेखक की दृष्टि को भी व्यक्त करती है। यह युग साहित्य को आधुनिक चेतना से जोड़नेवाला युग रहा है। इस चेतना को इस युग की आलोचना ने भी व्यक्त किया है।

भारतेन्दु युग में साहित्य का जो संबंध सामान्य जनसामाजिक परिस्थितियों से जुड़ा था, उसका विकास हमें द्विवेदी युग में दिखाई देता है। इस युग के प्रवर्तक पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के नए साहित्य को समाज की परिस्थितियों से जोड़ना चाहते थे। नए साहित्य को वे रीतिकालीन परंपरागत साहित्यिक कसौटी पर कसने के पक्ष में नहीं थे। वे हिन्दी कविता को सामान्ती रुचि के घेरे से बाहर निकालकर, उसे साधारण मनुष्य और प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उनका यह विचार यहाँ द्रष्टव्य है, 'इस विस्तृत विश्व में ईश्वर ने इतने प्रकार के मनुष्य, पशु-पक्षी, वन-निर्झर, नदी आदि निर्माण किए हैं कि सैकड़ों कालिदास उत्पन्न होकर अनंत काल तक उन सबका वर्णन करते रहे तो भी उनका अंत न हो। फिर हम नहीं जानते कि और विषयों को छोड़ कर

नायिका भेद सदृश अनुचित वर्णन क्यों करना चाहिए। आगे चलकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी पं. द्विवेदी की इस दृष्टि का समर्थन करते हुए दिखाई देते हैं। वे भी कविता को केवल मनुष्य तक रखने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने समस्त चराचर से संबंध रखने वाली काव्य दृष्टि को सर्वोत्तम कहा है। द्विवेदी जी ने नायिका-भेद और रीति-निरूपण वाली परंपरा को समाप्त करके एक नई परंपरा का सूत्रपात किया। द्विवेदी जी का दूसरा महत्वपूर्ण दृष्टिकोण हिन्दी साहित्य में खड़ीबोली के प्रयोग को स्थिर करने से संबंध है और वे इसके कई रूपों में से एक रूप को स्वीकार करते हुए, कविता में भी उसी के प्रयोग की चर्चा करते हैं, 'कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ ले और अर्थ को हृदयंगम कर सके'। इसके साथ ही द्विवेदी कविता में प्रतीक, सामाजिक और राष्ट्रीय विषयों को लाना चाहते थे। इसके लिए वे भाषा और भाव की एकता को अनिवार्य मानते हैं। 'विषय के अनुकूल शब्द स्थापना करनी चाहिए। कविता एक अपूर्व रसायन है उसके रस की सिद्धि के लिए बड़ी सावधानी, बड़ा मनोयोग और बड़ी चतुराई आवश्यक होती है। रसायन सिद्ध करने में आंच के न्युनाधिक होने से जैसे रस बिगड़ जाता है, वैसे ही यथोचित शब्दों का उपयोग न करने से काव्य रस भी बिगड़ जाता है'। कविता में विषय के अनुकूल शब्द-स्थापना के साथ-साथ द्विवेदी जी ने शब्दों को यथास्थान रखने पर भी बल दिया और कविता में अर्थ के महत्व को भी स्थापित किया। अर्थ के लिए उनका यह कहना है कि कवि जिस का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए। अर्थ की स्थिति के लिए वे विषय-वस्तु के साथ कवि के तादात्म्य को अनिवार्य मानते हैं और इसीलिए उन्होंने आलोचक का रसवादी होना भी स्वाभाविक माना है। रस को वे कविता का सबसे बड़ा गुण मानते हैं। वे प्रेमधन की तरह श्रृंगार रस को दोषी न मान कर उसके गलत उपयोग के लिए कवियों को दोषी मानते हैं। 'श्रृंगार रस होने से ही कविता अश्लील नहीं हो जाती। यदि ऐसा होता तो कालिदास की क्या गति होती'। रसवादी होने के कारण ही द्विवेदी जी कविता में अलंकारों को कम से कम महत्व देते हैं। वे अलंकारों के बलात् प्रयोगों का विरोध करते हैं। रचना मनोरंजक और उपदेशजनक हो, यह उनके आलोचक की प्रमुख दृष्टि रही है, द्विवेदी जी ने छंद को और साहित्य में उसके प्रयोग को स्वीकार किया लेकिन उन्होंने मुक्त छंद का समर्थन कभी नहीं किया। छंदों का चुनाव विषय और मनोभाव के अनुकूल होने से ही कविता के प्रभाव में वृद्धि होती है अर्थात् वे छंदों के प्रयोग को विषय और अनुभूति से जोड़ कर देखते थे। द्विवेदी जी ने कविता के साथ-साथ नाटक और उपन्यास पर भी विचार किया, और उपन्यास विधा का स्वागत करते हुए, इसे समृद्ध करने का प्रयत्न किया। 'काव्यों और नाटकों की भी पहुँच जहाँ नहीं, वहाँ भी उपन्यास बँधड़क पहुँच सकते हैं'। उपन्यास के संबंध में उन्होंने मनोवैज्ञान और चरित्र चित्रण के संबंधों पर बहुत सूक्ष्मता से विचार व्यक्त किए। नाटक के विषय में उन्होंने लिखा है 'समाज और जनता के बीच संबंध को दृढ़ता प्रदान करने के लिए द्विवेदी जी नाटक की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हैं। इस संबंध में उनके विचार भारतेन्दु युग के आलोचकों की तरह ही थे। नाटक में अभिनेयता के पक्ष को भी उन्होंने उसी प्रकार अनिवार्य तत्व के रूप में देखा। द्विवेदी जी पश्चिमी देशों के ज्ञान-विज्ञान को राष्ट्र के समक्ष रखना चाहते थे। उपन्यास पर उनके विचार इसी बात के परिचायक हैं।

आलोचना और आलोचक के विषय में भी आचार्य द्विवेदी के विचार स्पष्ट और सुलझे हुए थे। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि समालोचना की प्रणाली अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से ही आई है। सच्चा आलोचक वे उसे ही मानते हैं जो कवि के हृदय के भावों को खोलकर सर्वसाधारण के सामने रख दे। उनके शब्दों में आलोचक का काम रचना का मात्र गुण दिखाना नहीं, बल्कि दोषों को दिखाना भी है। वे आलोचना में केवल व्याकरण की भूलों छंद की भूलों, अलंकारशास्त्र की भूलों को दिखाने को ही आलोचना नहीं मानते। इन्हें वे आलोचना की दृष्टि से गौण बातें मानते हैं। आलोचना में जिन तत्वों के देखने पर उन्होंने बल दिया, उनमें कृति में व्यक्ति विचार और उनकी अभिव्यक्ति का ढंग, विषय की उपयोगिता, मनोरंजन, लाभप्रदता, नई अभिव्यक्ति आदि प्रमुख हैं जिन पर आलोचक को विचार करना चाहिए।

छायावादी कवियों का विरोध द्विवेदी जी ने किया। उन्होंने उसकी दो कमियों - रहस्यात्मकता और अतिशय लाक्षणिकता के कारण उसकी आलोचना की। इन्हीं कमियों की और बाद में आचार्य शुक्ल ने भी विस्तार से चर्चा की।

द्विवेदी जी के समकालीन आलोचकों में मिश्रबन्धु, पं.पद्मसिंह शर्मा, पं.कृष्ण बिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन प्रमुख हैं। ये सभी आलोचक नए युग और उसकी आवश्यकताओं से थोड़ा-बहुत प्रभावित-अवश्य थे, परन्तु इनकी मूल चेतना सामंतवादी प्रवृत्तियों से ही संबद्ध रही। मिश्र बन्धु के पास साहित्य को देखने की सामाजिक दृष्टि का अभाव था। संभवतः इसीलिए वे सूर और तुलसी के काव्य पर विचार करते समय इसकी रचनाओं को सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों से न जोड़ सके। वे इन कवियों की आलोचना रीतिशास्त्र की कसौटी पर ही करते रहे। पद्मसिंह शर्मा ने छायावादी काव्य का विरोध भी रीतिवादी धारा के अनुसार ही किया। वे इसे 'पहली के ढंग की' होने के कारण ही स्वीकार नहीं कर पाये। और नई परिस्थिति से उत्पन्न स्वतंत्र चेतना और भावपूर्ण-कल्पना-चित्रों की प्रशंसा नहीं कर भाषा को साहित्य से अलग करने में भी संकोच नहीं किया। 'विषय की दृष्टि से न सही, भाषा के महत्व की दृष्टि से देखिए तो शृंगार रस के काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है। 'यही कारण है कि उनके आदर्श कवि बिहारी हैं और वे उक्ति-वैचित्र्य को कविता मानते थे जब कि आगे शुक्ल जी के आदर्श तुलसीदास थे और वे उक्ति-वैचित्र्य को कविता नहीं मानते थे। शर्माजी की आलोचना शास्त्रीय आलोचना का ही विस्तार है।

पं. कृष्ण बिहारी मिश्र खड़ी बोली में काव्य-रचना के समर्थक हैं। परन्तु खड़ी बोली में भी वे रीतिकालीन कविता ही चाहते थे। रीतिकालीन कविता को भी वे केवल 'प्रेम-विषय' में जोड़ते हैं। इस युग में दूसरे कवियों द्वारा अन्य विषयों पर लिखी जानेवाली काव्य-परंपरा को देखने का उन्होंने प्रयत्न नहीं किया। इसीलिए कविता के संबंध में उनके विचार बड़े साधारणीकृत हैं। वे कविता का उद्देश्य आनंद प्रदान करना मानते हैं, इस आनंद की सिद्धि वे रस परिपाक द्वारा मानते हैं और शृंगार को 'रसरस' घोषित करते हैं। इसके विरोध में शुक्ल जी के विचार देखे जा सकते हैं। तब मिश्र जी की आलोचनात्मक-दृष्टि की सीमा स्वतः स्पष्ट हो जायेगी। मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनंद पहुंचाना ही यदि कविता का अंतिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि जैसे मुनि और तुलसीदास जैसे भक्त ने केवल इतना ही समझकार श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जाएगा? क्या इससे गंभीर कोई उनका उद्देश्य न था? खेद के साथ कहना पड़ता है कि बहुत दिनों से बहुत से लोग कविता को विलास की सामग्री समझते आ रहे हैं। शुक्ल जी का लक्ष्य कविता की सामाजिक उपयोगिता की ओर संकेत करता रहा है जब कि मिश्र जी जैसे आलोचक उसके सौन्दर्य पक्ष को ही प्रमुख मानते हैं और कविता को एक 'कला' मात्र मानकर उसकी विवेचना की ओर प्रवृत्ति होते हैं। मिश्रजी मूलतः अलंकारवादी आलोचक हैं। उन्होंने उसी कविता को श्रेष्ठ माना जिसमें सुन्दर अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

लाला भगवानदीन भी इसी श्रेणी के आलोचक थे। उन्होंने 'भारत भारती' (मैथिलीशरण गुप्त) की आलोचना उसके भाषा-प्रयोग और काव्यरसिकता के आधार पर की। इसे उन्होंने 'खड़ी बोली' के स्थान पर 'गड़ी-बोली', 'सड़ी-बोली', 'बड़ी-बोली' तक कहा। इतना ही नहीं 'भारत भारती' में व्यक्त विचार भी उन्हें अच्छे नहीं लगे। रीतिकालीन काव्य परंपरा के पक्षधर होने का यह सबसे बड़ा प्रमाण है। इसीलिए उन्हें भक्तिकाल और आधुनिक काल ने प्रभावित नहीं किया। वे काव्य कला चातुर्य को ही 'कविता की जान' कहते हैं, इसीलिए उन्हें केशवदास सबसे प्रिय हैं और फिर बिहारी।

11.3.2 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान

भरतेन्दु युग में जिस जन-चेतना जुड़ी आलोचना-दृष्टि का प्रस्फुटन हुआ और जिसे द्विवेदी युग में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने विकसित किया, उसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चरम विकास प्रदान किया। हम हिन्दी आलोचना-दृष्टि के पूरे परिप्रेक्ष्य को आचार्य शुक्ल को केन्द्र में रखकर देख सकते हैं। इसीलिए हमने पहले शुक्ल पूर्व आलोचना के कुछ महत्वपूर्ण दृष्टिकोणों की चर्चा की। यहाँ हम शुक्ल युग में उनकी अपनी दृष्टि का परिचय प्राप्त करेंगे और अंत में शुक्लोत्तर आलोचना दृष्टियों की चर्चा करेंगे। यह विभाजन ही भारतीय आधुनिक आलोचना में शुक्ल जी के महत्व को स्थापित करता है। आचार्य शुक्ल स्वच्छंदतावादी युग के आलोचक माने जाते हैं। स्वच्छंदतावादी काव्य रचना

द्विवेदी युग से प्रारंभ हो चुकी थी जिसका विकास उनके बाद के युग में व्यापक स्तर पर हुआ। शुक्लजी की आलोचना इसी धारा से अपने को जोड़कर चलती है। पूर्व चर्चा में भी हमने स्थान-स्थान पर शुक्ल जी के महत्वपूर्ण विचारों को देने का प्रयत्न किया था। उससे भी यह स्पष्ट हो गया है कि शुक्ल जी शास्त्रीय कविता और स्वच्छंदतावादी कविता- इन दोनों की सीमाओं से भलीभांति परिचित थे। अतः उनकी आलोचना दृष्टि अतीत काव्य के लिए भी और आधुनिक काव्य के लिए भी पैनी बनी रही। उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रंथ इस तथ्या को प्रमाणित भी करता है। इन्होंने प्राचीन साहित्य को उसकी सामंतवाद प्रवृत्ति के कारण उपयुक्त नहीं ठहराया और आधुनिक साहित्य में उनकी उपनिवेशवादी विरोधी चेतना प्रखर रूप में प्रकट हुई। शुक्ल जी यूरोप की चिंतनधारा को आखंड करके स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। लेकिन उनकी उन्नत विचारधारा का लाभ उठाकर, अपना विकास करने का समर्थन उन्होंने किया। रस, रीति, अलंकार, शब्द-शक्ति के परम्परागत पक्ष परम्परागत पक्ष को वे काव्य की स्पष्ट स्वच्छ विवेचना के लिए उपयोगी स्वीकार करते हैं। पर इसके साथ ही वे नई विकास-परंपराओं के माध्यम से इन पद्धतियों को परिष्कृत और समृद्ध करना चाहते हैं। इसके लिए वे लक्षणों की पुरानी लकीर को पीटनेवाली आलोचना-दृष्टि का स्पष्ट शब्दों में विरोध करते हैं और कविता को केवल दिलबहलाव का साधन मानने से इनकार करते हैं। कविता का संबंध वे जीवन और समाज से अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ देखना चाहते हैं। वे इन्द्रिय-बोध को भाव और विचार का आधार मानते हैं। भाव का महत्व वे विशेष मानते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि भाव के बिना कविता संभव ही नहीं है, उनके अनुसार 'मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करनेवाली मूलवृत्ति भावात्मिका है'। शुक्ल जी भाव-विरोधी विचार-धारा की भांति भाव को विचार निरपेक्ष नहीं मानते। इसीलिए वे भाव के निषेध के पक्ष में नहीं हैं बल्कि कविता द्वारा उसके परिष्कार के पक्ष में हैं। भाव का आधार वे इस गोचर-जगत् को ही मानते हैं।

कविता का कार्य शुक्ल जी ने मनुष्य के हृदय को स्वार्थ की सीमाओं से मुक्त करना बतलाते हुए, इस स्थिति को भावयोग की संज्ञा दी है। अनुभूति का माध्यम शुक्ल जी इस भौतिक-जगत् को ही मानते हैं। भाव को वस्तु के स्थान पर प्रतिष्ठित करके वे वस्तु भाव पर ही अवलंबित मानते हैं।

इस दृष्टि के कारण ही शुक्ल की आलोचना दृष्टि को 'रसवादी' कहा जाता है। परन्तु शुक्ल जी का रसवाद पुराने आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रसवाद की पुनरावृत्ति नहीं है। शुक्ल जी ने इसे वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है और साहित्य के पूर्ण और प्रगतिशील सिद्धान्त के रूप में इसे रखा है। शुक्ल जी ने रसानुभूति को अनुभूति से भिन्न नहीं माना बल्कि उसे अनुभूति का ही उदात्त रूप माना। व्यावहारिक जीवन की अनुभूति की चर्चा भी इसीलिए उन्होंने दो रूपों में की-प्रत्यक्ष और स्मृति पर आधारित। 'स्वदेश प्रेम के गीत गाते हुए नवयुवकों का दिल जिस साहस भरे उमंग के साथ कोई कठिन या दुष्कर कार्य करने के लिए निकलता है, वह वीरता की रसात्मक अनुभूति है। 'इसे हम प्रत्यक्ष रसात्मक अनुभूति का उदाहरण कह सकते हैं। जब हम जन्मभूमि, बाल-सखाओं, परिचित स्थानों आदिका स्मरण करते हैं, तब हमारी मनोवृत्ति स्वार्थ आदि सूखे विधानों से हटकर शुद्ध भाव-क्षेत्र में स्थित हो जाती है'। ऐसे स्मरण को भी शुक्ल जी ने रसात्मक माना है।

ऊपर यह बताया गया है कि शुक्लजी कविता का कार्य मनुष्य के हृदय को स्वार्थप्राप्त करना मानते थे। इस संदर्भ में उनका यह भी मानना था कि अपने इस उद्देश्य की पूर्ति कविता तभी कर सकती है, जब वह मनुष्य के हृदय को रस की अवस्था तक पहुँचाए। 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है'। शुक्ल जी के मतानुसार रसानुभूति की अवस्था में हम अपनी अनुभूति को लोक की अनुभूति से मिला देते हैं। कवि की भावुकता के संबंध में भी शुक्लजी ने जो विचार किए हैं, उसमें उन्होंने कवि की भावुकता के माध्यम से वास्तव में इस पर ही विचार किया है। केवल श्रृंगार या केवल वीरता का वर्णन करने वाले कवि को वे पूर्ण भावुक नहीं मानते। पूर्ण भावुक वे उस कवि को मानते हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सके और श्रोता या पाठक के सम्मुख उसे अपनी शब्द-शक्ति के द्वारा प्रत्यक्ष कर सके। (गोस्वामी तुलसीदास) शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि का परिचय हमें उनके

हिन्दी साहित्य के इतिहास में और निबन्ध संग्रह 'चिन्तामणि' के कुछ निबन्धों में मिल जाता है। इन निबन्धों में 'साधारणीकरण' और व्यक्ति वैचित्र्य, 'गोस्वामी तुलसीदास', 'काव्य में लोक मंगल की अभिव्यजना', 'रस-मीमांसा', 'आधुनिक साहित्य' प्रमुख हैं। शुक्ल जी ने साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए और यह कहा कि विशेष या व्यक्ति और साधारणीकरण में कोई विरोध नहीं है। वे यह मानते हैं कि साधारणीकरण में व्यक्ति विशेष ही रहता है पर उसमें ऐसे सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा रहती है, जो सब से समान रहती है। सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। शुक्ल जी की यह स्थापना किसी शास्त्रीय गुण पर आधारित नहीं है। उनके अपने अनुभवों पर आधारित है। इसीलिए वे कविता में असाधारण वस्तु के स्थान पर साधारण वस्तुओं के चित्रण की बात उठाते हैं और जो कविता असाधारण और विचित्र वस्तुओं के चित्रण पर बल देती है, उसका उन्होंने सदैव विरोध किया। 'काव्य क्षेत्र, अजायबघर या नुमाइशखाना नहीं है'। उन्होंने कहीं कहीं भावों का उत्कर्ष दिखाने के लिए असाधारण तत्व की अपेक्षा को स्वीकार किया है। लेकिन उतनी ही मात्रा में जिससे कि काव्य का प्रकृत भाव दबने न पावे। शुक्ल जी कविता को भाव-प्रधान और विभाव-प्रधान दोनों प्रकार की मानते हैं, भाव और विभाव दोनों पक्षों के लिए सामंजस्य के बिना और सच्ची रसानुभूति हो ही नहीं सकती, ऐसी उनकी मान्यता है। शुक्लजी ने भाव को अनुपयोगी और त्याज्य नहीं माना, उन्होंने अच्छे बुरे दोनों प्रकार के प्रचलित भावों को जीवन के संदर्भ में जांचकर देखा और उन्होंने यह स्थापित किया कि कुछ भाव आनंद की सिद्धावस्था के भाव होते हैं और कुछ आनंद की साधनावस्था का मूल भाव करुणा। इसीलिए वे करुणा और कौतुहल के भावों की अभिव्यक्ति को बिलकुल स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में जगत् का इतिहास, विज्ञान जहाँ तक पहुँचा है वहाँ तक हृदय को भी ले जाना आधुनिक कवियों का काम होना चाहिए। इसीलिए शुक्ल जी कविता में साध्य और साधन के भेद को स्वीकार करते हैं। रस उनके अनुसार कविता का साध्य है और अलंकार उसका साधन। अलंकार के संबंध में शुक्लजी की विचार-धारा बहुत व्यापक और ऊँची है। 'कविता क्या है' नामक अपने निबन्ध में उन्होंने अलंकार के संबंध में विस्तार से विचार किया है, उनकी सौन्दर्य की व्याख्या भी रस-सिद्धान्त पर आधारित है। पाठक अपने स्वार्थ की सीमा से मुक्त होकर, कविता में लीन हो जाए तभी उसे रसात्मक माना जा सकता है। इस अवस्था को शुक्लजी सौन्दर्य की अवस्था कहते हैं। सौन्दर्य की ही शुक्लजी ने कविता की कसौटी बतलाया है। सुंदर और कुरूप काव्य के इन्हीं दो पक्षों को वे मानते हैं, भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल। इस सबको वे काव्य क्षेत्र के बाहर का शब्द मानते हैं। शुक्लजी के प्रिय कवि तुलसी और यसी रहे हैं। तुलसी को उन्होंने रीतिकालीन कवियों के संदर्भ में देखा और यह स्पष्ट किया कि अन्य कवियों का अधिकार एक दो कृतियों पर ही था, जब कि तुलसीदास का अधिकार मनुष्य की संपूर्ण भावात्मक सत्ता पर था। इसीलिए शुक्ल जी के अनुसार- 'केशव, बिहारी के साथ ऐसे कवि को मिलाने के लिए रखना उनका अपमान करना है'। शुक्लजी को कुछ लोग शास्त्रीय रुचि का आलोचक मानते हैं पर यह बात सच नहीं है। यदि वे शास्त्रीय रुचि के प्रति अतिरिक्त मोहित होते तो वे सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी के काव्य को पसंद न करते। शुक्ल जी जायसी की कृति 'पद्मावत' को हिन्दी के सर्वोत्तम प्रबन्ध काव्यों में से एक मानते हैं। उन्होंने तुलसी और सूर के बाद तीसरा स्थान जायसी को दिया है। उनका 'इतिहास भी आलोचनात्मक बोध से युक्त है। शुक्ल जी भक्ति काव्य के प्रशंसक और रीतिकाल के आलोचक थे। भक्ति काव्य को वे मध्यकाल का विकासोन्मुख काव्य और रीति काव्य को मध्ययुग का हासोन्मुख काव्य कहते हैं। शुक्लजी ने अपने इतिहास में आधुनिक युग को भी स्थान दिया है और उसकी प्रमुख रचनाओं पर टिप्पणियाँ की हैं, उन्हें हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास', गुप्तजी के 'भारत-भारती' ने प्रभावित किया। छायावादी काव्य की विशिष्टता को पंत, निराला और प्रसाद की रचनाओं के संदर्भ में देखा और प्रसाद के रहस्यावाद, पंत के स्वच्छन्दतावादी तत्वों और निराला के रचना क्षेत्र के विस्तार को दिखाने का प्रयत्न किया। उन्होंने आधुनिक हिन्दी गद्य-साहित्य पर भी विचार व्यक्त किए जिसमें उपन्यास, नाटक आदि पर शैली, भाषा, कथ्य इन सभी दृष्टियों से उन्होंने गद्य-विधा को देखने के प्रयत्न किया।

शुक्ल जी का साहित्य सिद्धान्त बहुत व्यापक है और मूलतः भारतीय है। अपने रस सिद्धान्त को उन्होंने पाश्चात्य मनोविज्ञान से पुष्ट और सर्वाधिकृत किया। शुक्लजी ने रस और अलंकारों पर जो चर्चा की है, वह रीतिवादी आलोचकों से ही ली गई है लेकिन रीतिवादी आलोचक कृति के सौन्दर्य

को आच्छादित कर लेता है वहाँ शुक्ल जी कृति के, सारे स्तरों को खोलकर दिखला पाते हैं। उन्होंने आलोचना में एक सुसंगत दृष्टिकोण का निर्माण किया और हिन्दी में आलोचना की भाषा तैयार की। शुक्ल जी भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के उस चरण के आलोचक हैं जिसमें यह आन्दोलन गाँवों तक फैल गया था। संभवतः इसीलिए शुक्ल जी की आलोचना, स्वच्छन्दतावादी चेतना से अनुप्राणित है। वे शास्त्रों के ज्ञाता थे लेकिन शास्त्रीयतावादी नहीं थे। उनका यह कहना था, 'साहित्य के शास्त्र-पक्ष की प्रतिष्ठा काव्य-चर्चा की सुगमता के लिए होनी चाहिए, रचना के प्रतिबंध के लिए नहीं'। यह शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि की श्रेष्ठता है कि वे शास्त्रीयतावाद और स्वच्छन्दतावाद की सीमाओं और कमियों से भी भलीभाँति परिचित थे। इसीलिए उन्होंने शास्त्रीयतावाद की भी रुढ़ियाँ तोड़ी और स्वच्छन्दतावाद को भी व्यक्तिवैचित्र्यवाद से बचाने की चेष्टा की।

11.3.3 शुक्लोत्तर आलोचना दृष्टियाँ और प्रतिमान

आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि प्रगतिशील थी। उनकी आलोचना का मार्ग विरोध का मार्ग था। अपने पूर्व की आलोचना में- भारतीय परम्परा में भी और पाश्चात्य परम्परा में भी- उन्हें जो कमियाँ दिखायी दीं, उनका उन्होंने खुले शब्दों में विरोध किया और अपनी आलोचना-दृष्टि द्वारा उनका तार्किक विवेचन प्रस्तुत किया। उनके बाद की आलोचना का स्वर विरोध का नहीं, समन्वय का रहा है। इस दृष्टिकोण के आलोचकों में पंडित नंददुलारे वाजपेयी का नाम लिया जा सकता है। वाजपेयी जी ने भौतिकवाद और भाववाद का समन्वय का रहा है। इस दृष्टिकोण के आलोचकों में पंडित नंददुलारे वाजपेयी का नाम लिया जा सकता है। वाजपेयी जी ने भौतिकवाद और भाववाद का समन्वय किया। इस संबंध में उनका यह कथन देखा जा सकता है, 'मैं मानता हूँ, मार्क्सवादी दर्शन में कोई ऐसी बात नहीं है जो हमारी नैतिक उन्नति में रुकावट डाले और न हमारे आध्यात्मिक दर्शन में कोई ऐसी बात है जो नवीन समाजवादी व्यवस्था के लिए घातक हो। 'वाजपेयी जी ने साहित्य की सामाजिक उपयोगिता को पूर्णतः अस्वीकार किया। उनका यह कहना था कि लौकिक-उपकार साहित्य की कसौटी नहीं है- साहित्यकार के विकास में भी इससे कोई सहायता नहीं मिलती। नीति के दोहे लिखनेवाले दिन गए। इस प्रकार वाजपेयी जी साहित्य की सामाजिक उपयोगिता को कोई महत्व नहीं देते। उनकी दृष्टि में सफल साहित्य कभी समाज के लिए अहितकर नहीं होते। उनकी दृष्टि में सफल साहित्य कभी समाज के लिए अहितकर नहीं होता। वाजपेयी जी आलोचना को कृति विशेष की व्याख्या मात्र मानते हैं। उसके मूल्यांकन नहीं और आलोचना को हमेशा रचना का अनुगामी बनाकर रखना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में वस्तुनिष्ठ आलोचना वह है जो दृष्टिकोण विहीत होती है अर्थात् आलोचक की दृष्टि से नहीं, रचनाकार और उसके परिवेश की दृष्टि से लिखी जाती है। वाजपेयी जी ने प्रेमचंद की आलोचना, इस दृष्टि से की कि उसमें सूक्ष्मता की कमी है- प्रेमचंद की रचनाएँ उन्हें प्रचारात्मक लगती हैं। उनकी यह आलोचना स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि आधुनिकता और सामयिकता से दूर रहने के कारण ही वाजपेयी जी प्रेमचंद की सोदेश्यकता को प्रचार की संज्ञा दे देते हैं। छायावाद के प्रति उनके विचार बहुत उदार हैं क्योंकि उसमें मानवीयता और आध्यात्मिकता का संगम उन्हें दिखाई देता है। वाजपेयी जी की आलोचना दृष्टि असंगतियों से भरी हुई है और उनमें आलोचनात्मक क्षमता का विकसित रूप भी हमें दिखाई नहीं देता।

समन्वयवादी दृष्टि के दूसरे आलोचक डा. नगेन्द्र हैं। उन्होंने भौतिक जीवन को एक ओर धर्म, संस्कृति, दूसरी ओर राजनीति और तीसरी ओर विज्ञान से जोड़ते हुए यह स्पष्ट किया कि इनमें एक संगति है और इसका प्रभाव सच्चे कलाकार पर पड़ता है। काव्य के प्रयोजन के रूप में डा. नगेन्द्र आनंद को ही स्वीकार करते हैं लेकिन इसके द्वारा वे लोक कल्याण और चेतना के परिष्कार को ही मुख्य मानते हैं। नगेन्द्र ने अपनी आलोचना में शुद्ध साहित्य की कल्पना की है, यानि ऐसा साहित्य जो साहित्येतर मूल्यों से युक्त हो। राजनीतिक मूल्यों का वे साहित्य में निषेध मानते हैं और इसीलिए वे साहित्य में बाहर से कोई तत्व लाने के पक्ष में नहीं हैं। वे भी आलोचना का कार्य साहित्य की व्याख्या को मानते हैं, मूल्यांकन को नहीं। नगेन्द्र ने मूलरूप से छायावादी कवियों को ही अपनी आलोचना का विषय बनाया है। आनंदवाद का पक्षधर होने के कारण ही 'कामायनी' उनका प्रिय छायावादी काव्य है, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कविता में प्रगति चेतना के वे प्रशंसक हैं लेकिन ऐसी चेतना जो

वर्गभेद से ऊपर होती है, वर्ग भेद पर आधारित नहीं। प्रेमचंद पर उनके विचार उनकी आलोचना दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं। नगेन्द्र की आलोचना-दृष्टि वाजपेयी जी से अधिक विकसित नहीं हो पायी।

शुक्लोत्तर आलोचकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मूल रूप में साहित्य के इतिहासकार और अनुसंधाता के रूप में जाने जाते हैं। उनके इतिहास ग्रंथों में भी आलोचना के तत्व हैं। शुक्ल जी के बाद हिन्दी आलोचना को उनके प्रतिमानों ने प्रभावित भी किया है। उन्हें भी समन्वयवादी कहा जाता है लेकिन उनकी दृष्टि वाजपेयी और नगेन्द्र की तुलना में भिन्न भी है और व्यापक भी। उन्होंने मनुष्यत्व को कविता का परम लक्ष्य माना। इससे यह स्पष्ट है कि उनके लिए मानव समाज, मानव जीवन और मानव मूल्य सबसे महत्वपूर्ण हैं। द्विवेदी जी इसीलिए साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानव जीवन को ही मानते हैं और साहित्य को एक सांस्कृतिक वस्तु स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य का प्रयोजन मनुष्य को संकीर्णता और मोह से उठा कर, उदार, विवेकी और सहानुभूतिपूर्ण बनाना है। सामाजिक कर्तव्यों से च्युत रचना को वे कभी स्वीकार नहीं करते। 'जो साहित्य अपने आप के लिए लिखा जाता है, उसकी क्या कीमत है, मैं नहीं जानता'। साहित्य के प्रभाव पर भी द्विवेदी जी के विचार बहुत स्पष्ट हैं। वे केवल प्रभाव की नहीं विशेष प्रकार के प्रभाव को साहित्य के साथ जोड़ते हैं। इसीलिए वे यह भी मानते हैं कि साहित्य केवल अच्छे प्रभाव की ही सृष्टि नहीं करता बल्कि बुरे प्रभाव की भी सृष्टि करता है। बुरे प्रभाव की सृष्टि करनेवाला साहित्य विषाक्त और विध्वंसकारी भी बन सकता है। इसीलिए वे साहित्यकार के उत्तरदायित्व को बहुत व्यापक दृष्टि से बताने का प्रयत्न करते हैं कि छोटे बड़े सभी लेखकों को वर्तमान समस्याओं को ठीक समझना चाहिए और यह भी सोचना चाहिए कि मनुष्य को मनुष्यत्व के लक्ष्य तक ले जाने में कौनसी शक्तियाँ सहायक हैं और कौन सी बाधक। द्विवेदी जी साहित्य में यथार्थ चित्रण पर बल देते हैं लेकिन वे साहित्य को जीवन का ज्यों का त्यों छायाचित्र भी नहीं मानते। द्विवेदी जी भी लेखन की सामाजिकता और साहित्यकार की मौलिकता को स्वीकार करते हुए व्यक्ति-वैचित्र्य की अवहेलना करते हैं। परम्परा और परिवेश के योग से साहित्य की रचना होती है, ऐसा वे मानते हैं। कविता को वे चंद परिष्कृत रुचिवाले लोगों की ही वस्तु नहीं मानते, और इसीलिए आलोचना में भी वे समाज की दृष्टि से ही उत्कृष्ट या निकृष्ट साहित्य की बात करते हैं। सूर और कबीर पर द्विवेदी जी ने स्वतंत्र पुस्तकें लिखी हैं। यहाँ उन्होंने भक्ति और संत परम्परा पर ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया है और इन कवियों पर आलोचनात्मक विचार किए हैं। छायावाद को वे स्वाधीनता आन्दोलन की देन मानते हैं। उन्हें निराला की कुछ कविताएँ श्रेष्ठ लगती हैं जिनमें तुलसीदास, राम की शक्ति पूजा और सरोज स्मृति को वे श्रेष्ठ कृतियाँ स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि इनमें भाषा का अद्भुत प्रभाव पाठक को निरंतर व्यस्त बनाए रखता है, कल्पना जहाँ आँखों के सामने फीकी लगती है। प्रगतिवादी आन्दोलन को भी द्विवेदी जी ने भक्ति आन्दोलन जैसी सभावनाओं के साथ देखा। वाजपेयी या नगेन्द्र ने प्रेमचंद को प्रथम श्रेणी का साहित्यकार मानने से इनकार किया था। द्विवेदी जी ने मनुष्य के प्रति प्रेमचंद के गहरे विश्वास के कारण और उनके चित्रण की वस्तुपरकता के कारण उन्हें प्रगतिशील लेखक माना और उनकी भाषा की प्रशंसा जोरदार शब्दों में की। 'तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद प्रेमचंद के समान सरल और जोरदार हिन्दी किसी ने लिखी ही नहीं'। द्विवेदी जी को हम शुक्ल जी की परम्परा का आलोचक कह सकते हैं। वे शुक्ल जी की परम्परा को विकसित नहीं कर सके लेकिन उनके विचार बहुत ही स्पष्ट और गहन अनुसंधान से प्रेरित हैं।

रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित है। उन्होंने आचार्य शुक्ल की आलोचना को वैज्ञानिक ढंग से विकसित किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि साहित्य और कला की आलोचना का आधार सौन्दर्यशास्त्र होता है। सौन्दर्यशास्त्र के उन्होंने दो भाग किए - भाववादी और भौतिकवादी। भाववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार उन्होंने सौन्दर्य का स्रोत आत्मा को माना और भौतिकवादी सौन्दर्यशास्त्र में प्रकृति और मनुष्य के जीवन में उसका आधार देखा। डा. शर्मा सौन्दर्य को हमेशा नेतिकता से संबद्ध मानते हैं इसीलिए वे सौन्दर्यशास्त्र का कार्य केवल सौन्दर्य का निरूपण करना ही नहीं मानते हैं। उनका यह कहना है कि सौन्दर्य और उपयोगिता दो विरोधी वस्तुएँ मालूम होती हैं लेकिन जो लोग उपयोगिता से इनकार करते हैं, वे वास्तव में सौन्दर्य के घटिया उपयोग को छिपाना

चाहते हैं। उनके लिए सौन्दर्य इन्द्रियबोध तक सीमित है, लेकिन जो कुछ मंगल हो वह कलात्मक दृष्टि से सुंदर भी हो, यह आवश्यक नहीं। यहाँ वे साहित्य की विशिष्टता की ओर ध्यान दिला रहे हैं। यहीं पर वे साहित्य में मनुष्य की बाह्य इन्द्रियों, हृदय और मस्तिष्क तीनों के समन्वय की बात उठाते हैं और रूप, भाव और विचार की एकता से कला-सृष्टि की संभावना को देखते हैं। डॉ.शर्मा मार्क्सवादी आलोचना के रूप में जनता और कला में कोई बँर नहीं देखते। उन्होंने नैतिक मूल्यों को शाश्वत माना है और यह भी कि नैतिक मूल्य समाज से परे नहीं होते। यथार्थ और कल्पना, यथार्थ और आदर्श में भी वे कोई भेद नहीं देखते और इसी प्रकार वे व्यक्ति और समाज में भी कोई विरोध नहीं देखते। वे केवल रूप की प्रशंसा करके आलोचना को समाप्त कर देनेवाली आलोचना-दृष्टि के विरोधी हैं और इसीलिए उन्होंने विषयवस्तु के स्थान पर भाषा की चर्चा को महत्व नहीं दिया। डॉ.शर्मा साहित्य के सामाजिक प्रभाव के मूल्यांकन के आलोचक हैं इसी दृष्टि से उन्होंने मध्यकालीन कवियों में तुलसी, जायसी सुर पर और आधुनिक युग में प्रेमचंद, भारतेन्दु, निराला, आचार्य शुक्ल, द्विवेदी पर आलोचनात्मक पुस्तकें लिखीं। हिन्दी आलोचना को उनकी यह सबसे बड़ी देन है। डॉ.शर्मा मार्क्सवादी आलोचना शैली के आलोचक हैं उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य आलोचना शैलियों में से ग्रहणीय तत्वों को लेते हुए, मार्क्सवादी आलोचना पद्धति का विकास किया। उनके सिद्धान्त और व्यवहार में संगति है। उन्होंने समग्रता में ही साहित्य और रचनाकार पर चर्चा की है।

11.4 सारांश

भारतेन्दु युग से हिन्दी आलोचना का प्रारंभ होता है। इस युग में आलोचना का कोई निश्चित स्वरूप निर्धारित नहीं हो सका था, क्योंकि तबतक कई विधाएँ विकसित हो रही थीं। द्विवेदी युग में द्विवेदी जी के अतिरिक्त अन्य आलोचक परम्परागत रीतिवादी दृष्टिकोण से ही बंधे रहे। द्विवेदी जी की दृष्टि को आचार्य शुक्ल ने विस्तार दिया। उन्होंने भारतीय व पाश्चात्य आलोचना दृष्टियों की सीमाओं को देखते हुए, एक वैज्ञानिक रसवादी आलोचना दृष्टि का विकास किया। शुक्ल जी के अतिरिक्त उनके समय के अन्य आलोचक रीतिपरक दृष्टि से ही प्रभावित रहे, आधुनिक प्रवृत्तियों ने उन्हें बहुत कम प्रभावित किया। आचार्य शुक्ल के बाद की आलोचना दृष्टि समन्वयवादी है। इस दृष्टिकोण में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ.रामविलास शर्मा के प्रतिमान एक विकास को उद्घाटित करते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुसंधानपरक चिंतन और डॉ.शर्मा का सौन्दर्यशास्त्रीय आधुनिक चिंतन शुक्ल जी की परम्परा को एक विकास देता हुआ दिखाई देता है।

11.5 पारिभाषिक शब्द

चित्त	: अन्तकरण
भाव	: मन की छिपी हुई गूढ़ इच्छा
छंद	: पद्य
स्वच्छंदतावादी	: स्वतंत्र विचारों का समर्थक
रसवादी	: रस संप्रदाय
व्यक्तिनिष्ठ	: वैयक्तिक

11.6 अभ्यास

11.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. भारतेन्दु युग की आलोचना के प्रमुख बिन्दुओं की चर्चा कीजिए।
2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल की रसवादी आलोचना दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की समन्वयवादी दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।

11.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

1. नन्ददुलारे वाजपेयी के आलोचनात्मक दृष्टिकोण की सीमाओं का विवेचन कीजिए।
2. रामविलास शर्मा का सौंदर्यशास्त्र संबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए।
3. महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाटक संबंधी विचारों की विवेचना कीजिए।
4. आधुनिक भारतीय आलोचनात्मक दृष्टिकोण की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित कीजिए।

11.7 नमूने के उत्तर

11.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

प्रश्न: भारतेन्दु के आलोचना के प्रमुख बिन्दुओं की चर्चा कीजिए।

उत्तर : भारतेन्दु युग में आलोचना का आरंभ पुस्तक-समीक्षा के रूप में हुआ। इन समीक्षाओं में पुस्तकों की विषयवस्तु के साथ-साथ उनपर यथासंभव आलोचनात्मक टिप्पणियाँ भी मिलती हैं और आलोचक की दृष्टि से लेखक को कुछ परामर्श भी इसके द्वारा मिलते हैं। इस युग में रीतिकालीन श्रृंगारिकता के लिए कवियों को दोष दिया गया और यह स्पष्ट कहा गया कि श्रृंगाररस अपने आप में बुरा नहीं है। रीतिकालीन कवियों ने इसका उपयोग जिस तरह काव्य में किया, वह बुरा है।

इस प्रकार के विचारों ने ही भारतेन्दु युग में नाटक-लेखन का विस्तार किया। बदली हुई परिस्थितियों में नाटक को नया रूप देकर, उसे संस्कृति नाटकों से भिन्न स्तूप पर रखने के प्रयत्न में भी अपना योगदान दिया। ये भी विचार सामने आए कि नाटक छोटे से छोटे विषय को लेकर लिखा जा सकता है। इसके लिए यूरोप के नाटकों के उदाहरण भी दिए गए। भारतेन्दु ने भी नाटक के संबंध में अपने आलोचनात्मक विचार व्यक्त किए। भारतेन्दु आवश्यकतानुसार भारतीय और पाश्चात्य नाट्यतत्वों के योग से एक आधुनिक नाट्य शास्त्र रचना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने पुराने और नए में समन्वय की बात कही और देश काल एवं पात्र के प्रति विशेष दृष्टि रखने पर बल दिया। इसीलिए यथार्थवादी विषयवस्तु सामयिक रुचि के अनुकूल हो, ऐसी उन्होंने नवीन नाटक की परिभाषा दी।

भारतेन्दु युग में ही नाटक को दृश्यकाव्य के रूप में विवेचित किया गया। इसीलिए इनके विचार अभिनय की दृष्टि से प्रस्फुटित हुए। नाटक को मात्र अनुकरण नहीं माना गया बल्कि रंगमंच पर उसकी ऐसी प्रस्तुति पर बल दिया गया जिसमें अनुकार्य और अनुकर्ता का भेद मिट जाए और दर्शक तन्मयदशा को प्राप्त हो जाए।

भारतेन्दु ने कविता पर भी अपने विचार व्यक्त किए। ये विचार आगे की आलोचना दृष्टियों के लिए प्रेरणा बन सके। वे कविता और संगीत के घनिष्ठ संबंध को मानते थे और संगीत का योग कविता के प्रभाव को तीव्र करता है, ऐसा मानते थे। उनका सुझाव था कि संगीतयुक्त कविता का उपयोग जन-साधारण में नई चेतना और संस्कार जगाने के लिए करना चाहिए। वे कविता के व्यापक प्रचार के लिए उसे ग्राम गीतों के आदर्श पर रचे जाने के पक्षपाती थे।

11.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)

प्रश्न: महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषा-भाव की एकता संबंधी विचार स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के नए साहित्य को समाज की परिस्थितियों से जोड़ना चाहते थे। द्विवेदी जी कविता में नैतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय विषयों को लाना चाहते थे। इसके लिए वे भाषा और भाव की एकता को अनिवार्य मानते हैं। विषय के अनुकूल शब्द स्थापना करनी चाहिए।

कविता एक अपूर्व रसायन है। उसके रस की मिट्टी के लिए बड़ी सावधानी, बड़ा मनोयोग और बड़ी चतुराई आवश्यक होती है। रसायन सिद्ध करने में यथोचित शब्दों का उपयोग न करने से काव्य-रस भी बिगड़ जाता है। कविता में विषय के अनुकूल शब्द स्थापना के साथ साथ द्विवेदी जी ने शब्दों को यथास्थान रखने पर भी बल दिया और कविता में अर्थ के महत्व को भी स्थापित किया।

11.8 पठनीय पुस्तकें

1. छायावाद और प्रगतिवाद - (स) डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा, ग्रंथमाला, पटना।
2. साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य - डॉ. रघुवंश, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
3. शुक्लोत्तर समीक्षा, रघुवंश - डॉ. बासुदेवनंदन प्रसाद (संपादित), अनुपम प्रकाशन, पटना।
4. इतिहास और आलोचना - डॉ. नामवीर सिंह, नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. हिन्दी आलोचना का विकास - नन्दकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. हिन्दी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई।
7. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना - रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

इकाई-12: निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना

- 12.0 विषय प्रवेश
- 12.1 पाठ का उद्देश्य
- 12.2 पाठ परिचय
- 12.3 मूलपाठ
- 12.4 पाठ का सारांश
- 12.5 शब्दार्थ
- 12.6 अभ्यास
 - 12.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 12.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 12.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 12.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 12.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 12.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.1 पाठ का उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना पद्धति पर विचार किया गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- इन आलोचना पद्धति के स्वरूप को स्पष्ट कर सकेंगे।
- निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना के गुण-दोषों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- इनकी उपयोगिता पर विचार कर सकेंगे।
- इनकी प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।

12.2 पाठ-परिचय

आलोचना में कृति की व्याख्या करना और उन पर आलोचक द्वारा अपना मत स्थापित करना, दो मुख्य कार्य कि आलोचक को अपना 'निर्णय' देने का अधिकार है या नहीं? व्याख्या और निर्णय के अटूट संबंधों भी चर्चा विभिन्न विचारों के परिप्रेक्ष्य में करते हुए आलोचना के प्रमुख चार प्रकारों का उल्लेख किया गया है जिनमें व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक आलोचना प्रमुख हैं। व्याख्यात्मक समालोचना क्या है और उसका स्वरूप कैसा होता है, इस बात पर चर्चा करते हुए व्याख्यात्मक आलोचना के गुण-दोषों की भी चर्चा की गई। इसी प्रकार निर्णयात्मक आलोचना के संदर्भ में भी उसकी विशिष्टता के दोषों पर प्रकाश डाला गया।

निर्णय देने वाले आलोचकों की तीन श्रेणी बना कर उनमें से क्रम बद्ध ढंग से उन्हें श्रेष्ठता क्रम में बांटा गया है। व्याख्या और मूल्य निर्णय कृति के संदर्भ में आलोचक के मूल कार्य हैं, साहित्य के संदर्भ में इसकी उपयोगिता और परख को भी रस पाठ में रेखांकित किया गया है।

12.3 मूलपाठ

यह तो हम जानते ही हैं कि किसी ग्रंथ को पढ़ कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करने को आलोचना कहा जाता है। कभी-कभी इस विवेचन द्वारा आलोचक अपना मत भी प्रकट करता है। आलोचना किसी भी विधा में लिखी गई रचना की जा सकती है। काव्य, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि की आलोचना तो होती ही है, स्वयं आलोचनात्मक ग्रंथों की भी आलोचना की जा सकती है।

जैसा कि ऊपर अभी-अभी कहा गया कि 'विवेचन' आलोचना का प्रमुख अंग है। इसके अंतर्गत किसी कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या की जाती है। और उस कृति के संबंध में मत स्थिर किया जाता है। इस प्रकार आलोचना के दो प्रमुख कार्य हुए: कृति का विवेचन (व्याख्या) और मत-निर्धारण (निर्णय), जो आलोचना प्रचलित रही है और जो व्यापक धरातल पर तर्कपरक बन कर चली है उसमें आलोचना के इन दोनों कर्मों पर काफी विचार हुए हैं।

सामान्यतः आलोचक व्याख्या और निर्णय के कार्य को एक साथ मिला देते हैं। इस स्थिति में आलोचक कृति की व्याख्या करते समय ही अपना मत भी निर्धारित करता चलता है। मतलब यह कि इस प्रकार के आलोचक व्याख्या के अंतर्गत ही मत भी स्थिर कर लेते हैं।

इस प्रकार व्याख्या और निर्णय में अभेद मान कर चलने वाली आलोचना का विरोध भी हुआ। इस प्रकार की आलोचना के विरोध में कहा गया कि आलोचक का प्रमुख कार्य केवल कृति की व्याख्या करना है जो रसिक पाठक में कृति की सही समझ विकसित कर सके। इसलिए कृति के संबंध में आलोचक को अपना कोई मत प्रकट नहीं करना चाहिए। ऐसा मत स्थापित करने वाले आलोचक यह कहते हैं कि 'इस प्रकार के मत का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है जिससे आगे चल कर आलोचना के काम में बाधा पड़ती है।' व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो कृति की व्याख्या करते समय परोक्षतः निर्णय का आगमन तो अपने-आप आलोचना में हो ही जाता है। आलोचक किसी ग्रंथ की आलोचना करने के साथ-साथ अपना मत भी प्रकट करता है, उसे तटस्थ ढंग से ऐसा करना भी चाहिए। आलोचक के मत से लोग लाभान्वित भी हो सकते हैं।

यदि यह मान भी लिया जाय कि आलोचक को अपना मत प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं है तो भी कई शिकायें हमारे मन में उठती हैं। जब कोई आलोचक किसी ग्रंथ की व्याख्या करना चाहता है तो उसके लिए आलोच्य ग्रंथ का पूरा-पूरा और गंभीरतापूर्वक अध्ययन करना पड़ता है। उसे ग्रंथ के सतही गुण-दोषों को छोड़ कर उसके गहरे और आंतरिक भावों तक पहुँचना पड़ेगा। इसके साथ ही कृति की व्याख्या करने वाला आलोचक यह भी देखता ही है कि कृति में कौन-सी बातें महत्व की हैं और कौन-सी साधारण। और यह देखे बिना तो वह रह ही नहीं पाता कि कृति में कला या नीति आदि के कौन से सिद्धांत आदि आए हैं। कृति की व्याख्या करते समय उसमें दिये हुए गुणों को भी आलोचक प्रकटित करता है और कृति में यत्र-तत्र बिखरे हुए तत्वों को एकत्र कर के उन पर भी विचार करता ही है। कृति की व्याख्या के लिए यह सब करते हुए वह प्रत्यक्ष या परोक्ष टिप्पणी द्वारा यह बदलता है कि विषय, भाव और कला आदि की दृष्टि से आलोच्य कृति कैसी है। ऐसे में कृति के गुण-दोष लोगों के सामने स्वतः ही आ जायेंगे। यह अवश्य कहा जा सकता है कि व्याख्या करने वाला आलोचक कृति के गुण-दोष संबंधी निर्णयों पर अपनी रुचि आरोपित नहीं करता। आलोचक को ऐसा करना भी नहीं चाहिए। आलोचक के लिए यह संभव है कि वह स्वयं अपनी रुचि के अनुसार कृति के संबंध में किसी प्रकार का निर्णय न करे।

साहित्य में जीवन संबंधी कथा और जीवन की जो व्याख्या की जाती है उनके विषय में एक पाठक होने के नाते हमारे मन में कई प्रश्न उठते हैं। जैसे कि किसी ग्रंथ में जीवन की जो व्याख्या की गई है या कृति के माध्यम से जो अन्य बातें बताई गई हैं, वे ठीक हैं या नहीं। या यह प्रश्न भी हमारे मन में उभरता है कि जो कृति हम पढ़ रहे हैं वह कला की दृष्टि से कैसी है? अच्छी है या बुरी? एक सामान्य पाठक भी साहित्य का अध्ययन करते समय इन प्रश्नों का सामना करता है। साहित्य का संबंध जीवन की व्याख्या, समाज, नीति, संस्कृति, मूल्यों, विश्वासों आदि अनेक तत्वों से होता है। ये सभी तत्व सामान्य लोगों से अनिवार्यतः जुड़े होते हैं। अतः साधारण पाठक भी इन तत्वों के संदर्भ में कृति के गुण-दोषों को देख पाता है। अतः साहित्य के संबंध में जहाँ भी गुण-दोषों का विवेचन होगा, वहाँ विवेचक/पाठक या आलोचक का मत और निर्णय अपने-आप आ जायेंगे।

आलोचना के प्रमुख रूप: यह तो अपने में एक प्रमाणित बात है कि आलोचना उन्हीं ग्रंथों की होती है जो प्रस्तुत या प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ विद्वानों का यह विचार है कि आलोचना प्रकाशित और पुरानी कृतियों के केवल गुण-दोष ही दिखा पाती है। नये साहित्य के सृजन में या साहित्यिक प्रवृत्तियों को बदलने

में आलोचना बिल्कुल सहायक नहीं होती। इतना ही नहीं कुछ विद्वान तो यह भी कहते हैं कि आलोचना नये साहित्य के सृजन में सहायक नहीं बल्कि बाधक होती है।

लेकिन यह बात ठीक नहीं है। जब रचनाकार मनमाने ढंग से लिखने लगता है तो आलोचक उस पर अंकुश लगाता है। आलोचक का यह अंकुश साहित्य-सृजन की अराजकता को भी नियंत्रित करता है, उसे रोकता है। इतना ही नहीं आलोचना, रचनाकार को सही मार्ग पर चलने के लिए बाध्य भी करती है। अतः यह कहना कि आलोचना साहित्य की सृष्टि में बाधक होती है, कदापि उपयुक्त नहीं है।

इसीलिए आलोचना के महत्व और उसके स्वरूप पर व्यापक चर्चा भी हमें मिलती है। साहित्य जब अपने शिखर पर पहुँचता है तब वह अपने स्वरूप का विश्लेषण स्वयं करने लगता है। इसी समय समालोचना का जन्म होता है। यह तो हम जानते ही हैं कि आलोचना करना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कम या अधिक मात्रा में यह प्रवृत्ति हर मनुष्य में होती है। साहित्य मानव-मन से ही उत्पन्न होता है। अर्थात् साहित्य मनुष्य के भावों, विचारों और अनुभूतियों का संग्रह होता है। अतः आलोचना को कई लोक साहित्य के अंतर्गत ही स्वाभाविक स्थान देने के पक्ष में है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार को इस संदर्भ में देखा जा सकता है 'साहित्य के अंतर्गत सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्म्य समीक्षा या व्याख्या हो।' शुक्ल जी के विचार के रेखांकित अंश इस बात को स्वीकार करते हैं कि समीक्षा या व्याख्या साहित्य के अंतर्गत ही है। अतः आलोचना को सभी कालों में और सभी देशों में साहित्य के अंतर्गत एक महत्वपूर्ण स्थान मिला है। और इसे साहित्य का एक आवश्यक अंग माना गया है।

डॉ. श्यामसुन्दर दास ने भी अपनी पुस्तक 'साहित्यलोचन' में यह विचार व्यक्त किया है कि 'जिस साहित्य में समालोचना का अंग न हो अथवा जिसका यह अंग भली-भाँति विकसित न हो उसे अधूरा समझना चाहिए।' इस प्रकार साहित्य में समालोचना के विकसित स्वरूप का होना अनिवार्य है। डॉ. श्यामसुन्दर दास ने आधुनिक आलोचना के चार रूपों की चर्चा की है:

- (1) **सैद्धांतिक (Speculative) समालोचना:** यह आलोचना-रूप साहित्य के विविध रूपों के विवेचन द्वारा साहित्यिक सिद्धांतों की स्थापना करता है।
- (2) **व्याख्यात्मक (Inductive) समालोचना:** यह आलोचना-रूप साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण और उनकी व्याख्या करता है। इस आलोचना-रूप से सृजनात्मक कृतियों के वर्गीकरण और भविष्य में उनके विकास में सहायता मिलती है।
- (3) **निर्णयात्मक (Judicial) समालोचना:** यह आलोचना-रूप साहित्य-अध्ययन के लिए निर्मित सामान्य सिद्धांतों (काव्यशास्त्रीय) के आधार पर साहित्यिक रचनाओं के महत्व का निर्णय करता है।
- (4) **स्वतंत्र अथवा आत्मप्रधान (Free or Subjective) समालोचना:** यह आलोचना रूप आलोच्य कृति का विवेचन करते हुए कभी उसमें पूरी तरह लीन हो जाता है और कभी उससे पूरी तरह विमुख। ऐसी स्थितियों में वह कृति के सम्यक विवेचन को छोड़ कर कृति में अभिव्यक्त भावों के वेग में बहने लगता है। इस प्रकार आलोच्य कृति आलोचक के भावों का आलंबन बन जाती है। ऐसे आलोचना-रूप सृजनात्मक साहित्य की भावात्मक टीकाओं का रूप ग्रहण कर लेती है।

इन चार आलोचना रूपों में से प्रस्तुत पाठ में दो आलोचना-रूपों - व्याख्यात्मक समालोचना और निर्णयात्मक समालोचना पर विस्तार से चर्चा की जाएगी। प्रारंभ में आलोचना के संदर्भ में इन दोनों के सह-अस्तित्व और प्रकार्य को संक्षेप में समझाने का प्रयत्न किया गया है।

व्याख्यात्मक समालोचना: व्याख्या किसी भी अध्ययन का महत्वपूर्ण अंग होता है। व्याख्या या विश्लेषण उपरके चारों आलोचना-विश्लेषण पर ही अवलंबित है। हमें यह मान कर चलना चाहिए कि साहित्य की आलोचना

में चारों आलोचना-रूपों या एक से अधिक आलोचना-रूपों का मिश्रण होता ही है। फिर भी इनका स्वरूप-भेद स्पष्ट है अतः इन पर स्वतंत्र रूप में भी विचार किए गए हैं। व्याख्यात्मक समालोचना, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, आलोच्य कृति की व्याख्या करती है। इसी व्याख्या से हम सामान्य सिद्धांतों तक पहुँचते हैं। और इसी व्याख्या के आधार पर हम किसी कृति के महत्व का निर्णय भी करते हैं। आत्मप्रधान या भावमयी आलोचना करने के लिए भी आलोच्य कृति का स्वरूप-ज्ञान आलोचक के लिए अनिवार्य है। रचना के स्वरूप का ज्ञान हमें निश्चित ही व्याख्या से ही प्राप्त हो सकता है। व्याख्यात्मक समालोचना के प्रवर्तक यह मानते हैं कि आलोचक किसी कृति का अध्ययन एक अन्वेषक की तरह करता है, एक न्यायाधीश की तरह नहीं। अर्थात् न्यायाधीश की तरह केवल साक्ष्यों, प्रमाणों और तर्कों पर आधारित निर्णय मात्र आलोचक नहीं देता। आलोचक रचना के सूक्ष्मतम बिन्दुओं तक पहुँचता है। वह कृति या रचना के विषय का पता लगाता है। रचनाकार के मंतव्य, रचनाकार के दृष्टिकोण और अभिव्यंजना के उसके ढंग को आलोचक जांचता-परखता है। यह पूरी प्रक्रिया उसे पूर्ण-व्याख्या के लिए सुदृढ़ आधार प्रदान करती है। इस प्रकार रचना की पूर्ण व्याख्या करके आलोचक उस रचना के प्रति एक सामान्य धारणा बना लेता है। अपनी इस धारणा को वह तत्काल अच्छे या बुरे के रूप में व्यक्त नहीं कर देता। क्रमशः साहित्य के अनुशीलन द्वारा वह अपनी इस धारणा को परखता है, यदि आवश्यकता हुई तो उसमें सुधार करता है। अतः व्याख्यात्मक आलोचना उदारतापूर्वक की जाती है और रचना के पूर्ण अनुशीलन के बाद लिखी जाती है। इसीलिए इस आलोचना को न्यायपूर्ण और बुद्धिसंगत माना जाता है। और इसके साथ ही व्याख्यात्मक आलोचना श्रेष्ठ और उपयुक्त भी कही जाती है। व्याख्यात्मक आलोचना का सबसे सरल और आरंभिक स्वरूप हम टिप्पणियों, टीकाओं और भाष्यों में देख सकते हैं।

व्याख्यात्मक आलोचना का स्वरूप: व्याख्यात्मक आलोचना का उपरोक्त विवेचन हमारे मन में यह शंका उठा सकता है कि यह तो आलोचना की एक निर्जीव पद्धति होती है। इसके साथ ही व्याख्या रचना के सौंदर्य को इतना साधारण बना देती है कि एक सौंदर्यनिष्ठ रचना सामान्य मनुष्य की कोटि तक उतर आती है। परन्तु यदि व्याख्यात्मक आलोचना के स्वरूप पर गहराई से विचार किया जाय तो ये शंकाएँ स्वतः ही निर्मूल सिद्ध हो जाती हैं।

व्याख्या के लिए आलोचक में सूक्ष्म बुद्धि और पर्यवेक्षण की कुशलता होनी चाहिए, इसमें कोई संदेह नहीं है। अतः व्याख्यात्मक आलोचना को एक निर्जीव आलोचना-पद्धति कह कर उसकी अवमानना नहीं की जा सकती। व्याख्यात्मक आलोचना के स्वरूप को उत्कृष्ट बनाने के लिए आलोचक कई बातों का ध्यान रखता हुआ चलता है। व्याख्यात्मक आलोचना रचना के अंग-प्रत्यंग को भिन्न-भिन्न रूप में न देख कर समष्टि रूप में देखती है। और हम यह तो जानते ही हैं कि कला का रूप सदा सरलेषात्मक ही होता है। व्याख्यात्मक आलोचना यह बात भी नहीं भूलती कि समष्टि का आधार व्यष्टि ही है। इसीलिए वह रचना के भिन्न-भिन्न अंगों के शुद्ध और पूर्ण अध्ययन को अपनाती है। व्याख्यात्मक आलोचना का स्वरूप एक अन्य दृष्टि से भी विवेचनीय है। यह आलोचना व्याख्या का अर्थ किसी रचना में केवल उपदेशों को दूढ़ना नहीं मानती। किसी पात्र के चरित्र-चित्रण या रचना के कथानक को यह आलोचना आदि से अत तक देखती है। किसी एक कथन या घटना को बलात् व्याख्या करते हुए यह रचना या रचनाकार की असंगति की चर्चा नहीं करती और नह ही उस पर दोषारोपण करने लगती है। इसीलिए व्याख्यात्मक आलोचना का स्वरूप रचना में उपलब्ध साक्ष्यों की व्याख्या से निर्मित होता है, न कि आयामित साक्ष्यों से।

व्याख्यात्मक आलोचक का स्वरूप: व्याख्यात्मक आलोचक कवि के स्वभाव और उसकी प्रवृत्ति के ज्ञान को व्याख्यात्मक आलोचना में स्थान दे सकता है। परन्तु इन दोनों तत्वों को उसे एक सीमा में रह कर ही स्थान देना चाहिए। यदि ये तत्व रचना को समझने में सहायक सिद्ध हों व्याख्यात्मक आलोचना करते समय रचना के भीतर जो आशय है उन्हें ही केन्द्र में रखना चाहिए, रचना के बाहर के आशयों को रचना में दूढ़ने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इसीलिए व्याख्यात्मक आलोचक रचनाकार को ही रचना का स्रष्टा मानता है। वह कवि को समर्थ मानता है और कवि ने रचना को जो रूप दिया है उसे ही आलोचक वास्तविक रूप मानता है। अतः व्याख्यात्मक आलोचक कभी भी बाह्य-साक्ष्य के आधार पर कल्पित अभिप्राय दूढ़ने के लिए कृति की व्याख्या नहीं करता। यही वास्तव में व्याख्यात्मक आलोचक का आदर्श स्वरूप है।

किसी कवि की कृति की व्याख्या करते समय व्याख्यात्मक आलोचना कवि पर यह दोषारोपण नहीं करती कि उसने नियमों का उल्लंघन किया है। क्योंकि इस आलोचना की यह मान्यता है कि साहित्य के नियम तो स्वयं विकसित होते हैं। ये नियम संशोधित होते और बदलते भी रहते हैं। इसलिए यदि कोई रचनाकार किसी मान्य नियम या सिद्धांत के विपरीत चलता है तो व्याख्यात्मक आलोचना यह देखने का प्रयत्न करती है कि रचनाकार किसी नए नियम का विकास तो नहीं कर रहा है। यदि ऐसा है तो वह रचनाकार की कृति को नए सिद्धांत के संदर्भ में देखने को तैयार रहती है। व्याख्यात्मक आलोचना नियम के विपरीत चलने वाले रचनाकार को स्पष्ट मानती है, दोषी नहीं। इस आलोचना का यह मत है कि नियमों के उल्लंघन के द्वारा ही कला का विकास होता है और वह सजीव बनी रहती है।

यह एक सामान्य धारणा है कि किसी कृति पर विचार करते समय या उसकी व्याख्या करते समय कई आलोचक ऐसी बातें कह देते हैं या कृति का ऐसा अर्थ निकालते हैं जो उस रचना में होता ही नहीं। वास्तव में यह दोषारोपण एक सीमा तक ठीक भी है। अतः व्याख्यात्मक समालोचक को अपनी ओर से बलात् किसी अर्थ और मतव्य का आरोपण कृति पर करने से बचना चाहिए। और किसी कृति में आए हुए सारूप पर ही अवलंबित रहना चाहिए। इस प्रकार के दोषारोप का यह तात्पर्य नहीं है कि इस प्रकार की आलोचना अग्राह्य या भ्रामक है। इस प्रकार की आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस पद्धति के द्वारा की गई व्याख्या की गवेषणा और जाँच के अनुसार साहित्य में परिवर्धन तथा सुधार को आधार मिलता है।

निर्णयात्मक समालोचना: इस समालोचना की स्थिति और इसका स्वरूप व्याख्यात्मक समालोचना के एकदम विपरीत होता है। जैसा कि पहले भी बताया गया कि व्याख्यात्मक समालोचना का आलोचक अन्वेषक के रूप में भी दिखाई देता है। व्याख्यात्मक समालोचक का प्रमुख कार्य व्याख्या करना है। साहित्यिक कृति के संदर्भ में उसकी मूल जिज्ञासा यह होती है कि 'इस काव्य में क्या है?' इस जिज्ञासा के द्वारा व्याख्यात्मक समालोचक को अपनी साहित्याभिरुचि को विकसित करने का अवसर मिलता है, नई-नई साहित्यिक शैलियों और नवीन साहित्य रूपों का अस्तित्व वह उदारता के साथ स्वीकार करता है और अपने समालोचक के स्वरूप को आलोच्य कृति के समानांतर ले कर चलता है। ये तीनों उपलब्धियाँ व्याख्यात्मक समालोचक की 'जिज्ञासा' का ही सुपरिणाम होती हैं।

निर्णयात्मक समालोचना में समालोचक का स्वरूप एक न्यायाधीश की भाँति होता है। वह कृति के संबंध में अपना निर्णय या फैसला देता है। अतः निर्णयात्मक समालोचना का प्रमुख कार्य है - कृति के विषय में अपना निर्णय देना। निर्णयात्मक समालोचक की मूल जिज्ञासा यह होती है कि 'यह काव्य कैसा होना चाहिए था?' अर्थात् निर्णयात्मक समालोचक यह देखता है कि रचना या कृति एक निश्चित आदर्श के अनुरूप है या नहीं। इस प्रकार वह अपनी निश्चित साहित्याभिरुचि के मापदंड से किसी कृति को देखता है। इस पूर्वाग्रह के कारण वह नवीनता पर नियंत्रण रखता है। इतना ही नहीं नवीनता से इसका विरोध भी हो जाता है। निर्णयात्मक आलोचना साहित्यिक कृति को अपनी विचार-पद्धति के मेल में रखने के दुराग्रह से मुक्त नहीं हो पाती। इस प्रकार की समालोचना प्रचलित तो है परन्तु आग्रह द्वारा पूर्व निर्मित धारणाओं के आधार पर किसी कृति के संबंध में अच्छे-बुरे का निर्णय देने के कारण इस आलोचना-रूप को साहित्य की प्रगति में अवरोधक माना जाता है।

निर्णयात्मक आलोचना एक प्रकार के भ्रम से भरी हुई है। अंग्रेजी में इस भ्रम को मूल्य का भ्रम (Illusion of Values) कहा गया है। इस आलोचना में आलोचक कला या कृति के संपूर्ण उपादानों, उपकरणों, माध्यम का मूल्य निर्धारित करने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न असंगत और अनावश्यक है। क्योंकि कला का एक ही अंग मूल्य-निर्धारण का विषय बन सकता है, सब नहीं। उदाहरण के लिए किसी चित्रकार द्वारा बनाए गए चित्र में प्रकाश का प्रयोग कैसा हुआ है, यह विश्लेषण और मूल्य-निर्धारण का विषय हो सकता है, परन्तु स्वयं प्रकाश नहीं। इसी प्रकार साहित्यिक कृति की निर्णयात्मक समालोचना में यदि आलोचक यह मानता है कि उसका एक अंग (जैसे शैली) आलोचना के लिए उपयुक्त है तो उसकी आलोचना का विषय शैली ही को होना चाहिए। संपूर्ण को एक ही मापदंड से मापना भ्रामक होगा।

निर्णयात्मक आलोचना कृति के संबंध में अपना फैसला देती है। फैसला देने के लिए उसे किसी प्रामाणिक मापदंड की आवश्यकता होती है जिसके आधार पर किसी कृति को परख कर वह कृति पर अपना निर्णय देता है। इस विषय में दो मत हैं। एक तो किसी समालोचना-संस्था की सम्मति को या किसी स्थापित काव्यशास्त्रीय सिद्धांत को प्रामाणिक मानता है। उदाहरण के लिए यूरोपीय साहित्य पर निर्णयात्मक विचार व्यक्त करने के लिए फ्रांस अकादमी की सम्मतियों को माना जाता है या भारत में रस, अलंकार, वक्रोक्ति आदि सिद्धांतों के ऊपर परख कर कृति के विषय में निर्णय देने की परंपरा रही है। दूसरा मत संस्था या सिद्धांतों की मान्यताओं के आधार पर निर्णय लेने को स्वीकार नहीं करता। यह मत मानता है कि रचनाकार की अपनी प्रतिभा और मौलिकता होती है तथा समालोचक की भी। अतः आलोचक को इन सम्मतियों-सिद्धांतों को आवश्यक परिवर्तनों के साथ ही स्वीकार करना चाहिए। समालोचक की प्रतिभा, साहित्य के प्रति उसका दृष्टिकोण करने में सहायक होता है।

एक और बात भी महत्वपूर्ण है कि निर्णयात्मक आलोचना व्याख्या के अभाव में न्यायपूर्ण और उचित नहीं हो सकती। यह आलोचना जब व्याख्या से बचती है तब इस प्रकार की आलोचना के द्वारा हमें आलोच्य वृत्ति के विषय में उतना परिचय नहीं मिलता जितना कि समालोचक की आत्मा का, उसकी वैचारिकता का। शेक्सपियर और मिल्टन जैसे विश्व प्रसिद्ध रचनाकारों पर निर्णय देने वाले आलोचकों (एडिसन, जानसन आदि) की समालोचनाओं में बिल्कुल विपरीत निर्णयों को देख कर इन निर्णायकों (आलोचकों) की विचारधारा का ही पता चलता है। शेक्सपियर या मिल्टन की कला का नहीं।

निर्णय देने वाले आलोचकों के तीन प्रकारों की चर्चा डॉ. श्यामसुन्दर दास ने की है:

- (1) जो विभिन्न सम्मतियों और सिद्धांतों का ज्ञान नहीं रखते। अपनी रुचि और भावानुभूति के अनुसार निर्णय करते हैं।
- (2) जो केवल सम्मतियों और सिद्धांतों को मिलाकर ही निर्णय देते हैं। और
- (3) जो नियमों के विशेषज्ञ तो होते हैं परन्तु आलोचना को नियमों से परे रखते हैं।

तीसरे प्रकार के निर्णयात्मक आलोचकों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि वे नियम भी जानते हैं और उनसे तटस्थ रह कर अपना निर्णय दे पाने की क्षमता रखते हैं। दूसरी श्रेणी में पहले प्रकार के आलोचकों को रखा गया है जो अपने स्वभाव, अपनी रुचि और अपनी भावानुभूति को कृति के निर्णय में सहायक बनाते हैं। तीसरे श्रेणी में उन आलोचकों को रखा गया है जो केवल सम्मतियों, सिद्धांतों और नियमों को ही अपने निर्णय का आधार बनाते हैं। नियमों के अधानुकरण के कारण ही इन्हें सबसे नीचे के स्तर पर स्थापित किया गया है। ऐसे आलोचकों के विषय में लोकमान्य तिलक ने बड़ी ही तीखी और रोचक टिप्पणी दी थी "कालिदास के जिन ग्रंथों के आधार पर लक्षण-ग्रंथों की रचना हुई है उन ग्रंथों में लक्षण-ग्रंथों के अनुसार दोष देखना कैसी विचित्र बात है।"

12.4 सारांश

इन दोनों आलोचना-रूपों के परिचय के माध्यम से हम देख सकते हैं कि समालोचक का कार्य बहुत ही दायित्वपूर्ण और गंभीर है। आलोचना के क्षेत्र में कवि और भावक, अर्थात् साहित्यकार और साहित्य समालोचक दोनों के कर्म और स्वभाव का समान महत्व है। दोनों ही स्वभाव से अनुभूति वाले होते हैं। दोनों ही चेतना को अंकित करते हैं। साहित्यकार जीवन की अनुभूतियों को अपनी कला से इस प्रकार अभिव्यजित करता है कि उसकी अनुभूतियाँ सरस और सवेदनीय बन जाँय। समालोचक इन्हीं अभिव्यजनाओं की व्याख्या करके कवि का ऐसा विवेचन करता है कि उसका मूल्य-निर्णय हो जाय। यही दोनों क्रियाएँ बाद में व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक आलोचना के रूप में देखी-परखी गई।

12.5 पारिभाषिक शब्दावली

कृति/रचना	: The work of art
मूल्य	: Values
विश्वास	: Beliefs
अन्वेषक	: Inventor
समष्टि	: Totality
साक्ष्य	: Proof
आयातित	: Imported
आशय	: intended meaning
साहित्यिक शैलियाँ	: Literary styles
समानांतर	: Parallel
नियम	: Rules
तटस्थ	: Neutral

12.6 अभ्यास

12.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. आलोचक को कृति की आलोचना करते समय अपना मत व्यक्त करने का अधिकार है या नहीं? अपना मत दीजिए।
2. आधुनिक आलोचना के प्रमुख रूपों को समझाइए।
3. व्याख्यात्मक आलोचना पर विस्तार से अपना विचार व्यक्त कीजिए।
4. निर्णयात्मक आलोचना के संदर्भ में निर्मित सम्मतियों और सिद्धांतों की चर्चा कीजिए।
5. निर्णयात्मक आलोचना का स्पष्ट परिचय दीजिए।

12.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

1. साहित्य में जीवन की व्याख्या होती है। सिद्ध कीजिए।
2. आलोचना क्या साहित्य सृजन में बाधक होती है? स्पष्ट कीजिए।
3. व्याख्यात्मक आलोचना का आदर्श स्वरूप क्या है?
4. निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना की तुलना कीजिए।
5. निर्णयात्मक आलोचना किस भ्रम से बंधी है? बताइए।
6. आलोचकों के प्रमुख प्रकारों को श्रेणीबद्ध कीजिए।

12.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

12.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर (125 शब्दों में)

प्रश्न: व्याख्या और निर्णय में अभेद मानने वाली विचारधारा के विरोध में क्या कहा गया है?

उत्तर: सामान्यतः आलोचक व्याख्या और निर्णय के कार्य को एक साथ मिला देते हैं। इस स्थिति में आलोचक कृति की व्याख्या करते समय ही अपना मत भी निर्धारित करता चलता है। मतलब यह कि इस प्रकार के

आलोचक व्याख्या के अंतर्गत ही अपना मत भी स्थिर कर लेते हैं। इस प्रकार व्याख्या और निर्णय में अभेद मान कर चलनेवाली आलोचना का विरोध भी हुआ। इस प्रकार की आलोचना के विरोध में कहा गया कि आलोचक का प्रमुख कार्य केवल कृति की व्याख्या करना है जो रसिक पाठक में कृति की सही समझ विकसित कर सके। इसलिए कृति के संबंध में आलोचक को अपना कोई मत प्रकट नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के विरोध करनेवाले आलोचक कहते हैं कि इस प्रकार के मत का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है जिससे आगे चल कर आलोचना के काम में बाधा पड़ती है।

12.8 पठनीय पुस्तकें

मानव मूल्य और साहित्य	:	डॉ. रघुवीर मालती, 1960., वारणासी: भारतीय समष्टि
साहित्य: स्थायी मूल्य और मूल्यांकन	:	डॉ. रा विलस शर्मा, 1968, दिल्ली: अक्षर
कविता के नए प्रतिमान	:	डॉ. ना. सिंह, दिल्ली: राजकमल
यथार्थवाद	:	डॉ. शिवकुमार मिश्र, 1978, दिल्ली: मैकमिलन
साहित्यालोचन	:	बाबू श्यामसुन्दर दास
पुनराख्यान और कविता	:	लक्ष्मी नारायण शर्मा, 1980, दिल्ली: नरेश पं. हास
विचार और अनुभूति	:	डॉ. नगेन्द्र
समकालीन सिद्धांत और साहित्य	:	विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, 1976, मैकमिलन: दिल्ली

इकाई-13: ऐतिहासिक आलोचना

- 13.0 विषय प्रवेश
- 13.1 पाठ का उद्देश्य
- 13.2 पाठ परिचय
- 13.3 मूलपाठ
- 13.4 पाठ का सारांश
- 13.5 शब्दार्थ
- 13.6 अभ्यास
 - 13.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 13.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 13.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 13.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 13.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में ऐतिहासिक आलोचना का परिचय देते हुए उसका विवेचन किया गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप यह जान सकेंगे कि -

- ऐतिहासिक आलोचना क्या है।
- साहित्य का मानव और राष्ट्र की ऐतिहासिक परम्परा और सामाजिक जीवन से कैसा सम्बन्ध है।
- ऐतिहासिक आलोचना के सिद्धान्त क्या है।
- ऐतिहासिक आलोचना पद्धति का क्या महत्व है।

13.2 पाठ परिचय

साहित्य का जीवन और समाज से अटूट सम्बन्ध होता है। साहित्यकार समाज में रहता है। साहित्य अनिवार्यतः समाज से प्रेरित और प्रभावित होता है तथा समाज को भी प्रेरित-प्रभावित करता है। रचनाकार अपने समय तथा अपने से पूर्व के अतीत की उपज होता है। अतः ऐतिहासिक रूप से सामाजिक परम्पराओं तथा आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों के ज्ञान से साहित्य के सौन्दर्य को अच्छी तरह ग्रहण किया जा सकता है। ऐतिहासिक आलोचना अतीत की परम्पराओं तथा वर्तमान स्थितियों की पृष्ठभूमि में साहित्य का अध्ययन-विश्लेषण करती है।

प्रस्तुत पाठ में ऐतिहासिक आलोचना के स्वरूप को समझाया गया है तथा इस आलोचना पद्धति का क्रमिक विकास दिखाते हुए इसके महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

13.3 मूलपाठ

13.3.1 ऐतिहासिक आलोचना: परिभाषा और स्वरूप

"ऐतिहासिक आलोचना" आलोचना की एक ऐसी पद्धति है जिसमें किसी रचना का विवेचन करने के सिलसिले में उसके लेखक के समय का तथा उसके पहले के इतिहास का, व्यापक रूप से, सहारा लिया जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब माना जाता है। लेखक

अपने जिन भावों और विचारों को रचना में अभिव्यक्त करता है, वे सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों से अद्भुत होते हैं। लेखक रचना में अपने युग के वातावरण को प्रस्तुत करता है। वास्तव में युग की, जीवन और समाज की समस्याएँ जटिल और बहुमुखी होती हैं। उनके अनेक पक्ष होते हैं, जैसे- आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक आदि। ऐतिहासिक आलोचना का लक्ष्य रचना में अंकित युगजीवन के अच्छी तरह से समझने-समझाने का होता है। अतः ऐतिहासिक आलोचना की पद्धति में अनेक ज्ञान-विज्ञानों से सहायता ली जाती है। इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, दर्शन, समाज शास्त्र, मानव शास्त्र आदि के उपयोग के द्वारा साहित्यिक कृति की व्याख्या का प्रयास किया जाता है।

19वीं सदी के प्रसिद्ध विद्वान इपोलीत तेन (Hippolite Taine) ने साहित्य और समाज के बीच कार्य कारण का सम्बन्ध माना था। तेन ने इसी दृष्टि से अंग्रेजी साहित्य का इतिहास लिखा था। उसने बताया कि साहित्य-निर्माण में तीन प्रभावकारी तत्वों की सक्रिय भूमिका होती है और वे हैं- प्रजाति अर्थात् संस्कार (Race), क्षण अर्थात् युगीन परिस्थिति (Moment) तथा वातावरण अथवा पर्यावरण (Milieu)। तेन के अनुसार मनुष्य का स्वभाव भौगोलिक, सामाजिक, जैविक आदि तत्वों से निर्मित होता है और मनुष्य के भावों की अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। अलग-अलग देशों की मानव-जातियों में प्रवृत्तिगत भिन्नताएँ उन्हीं भौगोलिक-ऐतिहासिक कारणों से दिखायी पड़ती है और उन प्रवृत्तियों का प्रकाशन उनके साहित्य में अलग-अलग युगों में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों की प्रधानता रही है, जिन्हें साहित्य में भी देखा जा सकता है। जब कृषि सभ्यता का आरंभिक काल था तो साहित्य में गोचारण काव्य (Pastoral Poetry) की प्रधानता थी। इसी प्रकार मध्य युग में वीर-काव्य की। ऐतिहासिक आलोचना रचना के युगीन सन्दर्भों और परम्परागत संस्कारों का विश्लेषण प्रस्तुत करती है। इस विश्लेषण से कृति (और कृतिकार) की प्रेरणा, उस पर पड़े प्रभाव, उसके महत्व आदि का पता चलता है और साथ ही साहित्य में आए परिवर्तनों, मोड़ों, आन्दोलनों के कारण भी समझ में आते हैं।

13.3.2 साहित्यिक इतिहास और सामाजिक इतिहास का संबंध

साहित्य की ऐतिहासिक आलोचना सामाजिक इतिहास के तथ्यों का व्यापक उपयोग करती है। आधुनिक मनुष्य का विकास अनेक ऐतिहासिक दौरों से गुजरकर हुआ है। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक, चिंतक तथा आलोचक हर्डर (Johann Gottfried Herder, 1744-1803ई.) विश्व के विकास से सम्बन्धित प्रश्नों से जुझता रहा था और इस सिलसिले में मनुष्य, भाषा, समाज और साहित्य के सम्बन्ध पर उसने विचार किया था। उसके समय में भाषा को ईश्वरीय देन के रूप में देखा जाता था। हर्डर ने इस धारण का खंडन किया तथा उपलब्ध प्रमाणों से सिद्ध किया कि मनुष्य ने भाषा का आविष्कार किया तथा धीरे-धीरे इसे विकसित तथा निर्दोष बनाता गया। ("It was not God who invented language for man. Man himself had to invent language in exercising his own powers") हर्डर की आलोचना प्राकृतिक विज्ञानों, इतिहास तथा मनोविज्ञान पर आधारित थी। उसके अनुसार साहित्य की जड़े विशेष सामाजिक एवं भौगोलिक वातावरण में होती हैं। अतः साहित्य का इतिहास सांस्कृतिक इतिहास होता है। हर्डर के अनुसार "राष्ट्र की चेतना" तथा "समय की चेतना" से साहित्य का सीधा कार्य-कारण (Cause & Effect) वाला सम्बन्ध होता है। हर्डर ने अनुभव के आधार पर काल और दिक् (Time & Space) की धारणा पर बल दिया। उसने प्राकृतिक विकास से मानवतावाद की दिशा में इतिहास तथा समाज की प्रगति की शिक्षा ली तथा शिल्प एवं विज्ञान के महत्व को सामाजिक विकास के सन्दर्भ में रेखांकित किया। हर्डर को दक्षिणी स्लावों (Southern Slavs) की कविताएँ बहुत पसन्द थीं। वह अनेक जातियों की आध्यात्मिक संस्कृतियों की मौलिकता पर बल देता था।

हर्डर का प्रश्न था कि कुछ विशेष प्रकार के साहित्य ही कुछ विशेष क्षेत्रों में क्यों उत्पन्न होते हैं तथा वे अन्यत्र क्यों नहीं विकसित होते? इस प्रश्न के उत्तर में प्रकृति, जलवायु, जाति, रिवाज, संस्कृति, राजनीति जैसे तत्वों की उसने चर्चा की लेकिन फिर भी साहित्य और समाज के गठन (Structure & Organisation) पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ता, साथ ही उसके द्वारा प्रयुक्त शब्द "राष्ट्र की चेतना", "समय की चेतना" आदि भी अस्पष्ट और अव्याख्यायित रह गये।

फ्रांस की साहित्यालोचिका मदाम द स्ताल (1766-1817) ने भी समाज और साहित्य के सम्बन्धों का अध्ययन प्रस्तुत किया। (अंग्रेजी में अनूदित उसकी एक पुस्तक का नाम था- (Literature considered in its relation with Social Institution) स्ताल से पूर्व प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक और विचारक वॉल्टेयर (1694-1778) ने समाज और साहित्य के सम्बन्धों में जाति की भूमिका पर बल देते हुए कहा था कि "जिस जाति में स्त्रियाँ पराधीन हैं और परदे के अन्दर रहती हैं उसके साहित्य से उस जाति का साहित्य भिन्न होगा जिसमें स्त्रियाँ स्वाधीन रहती हैं।"

मदाम द स्ताल का कहना था कि साहित्य पर धार्मिक तथा राजनीतिक धारणाओं का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। सन् 1800 में प्रकाशित अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक "साहित्य" ('द ला लितेराच्यूर') में स्ताल ने साहित्य और समाज के सम्बन्धों पर विचार करते हुए साहित्य के स्वरूप को प्रभावित करने वाले सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और कानूनी प्रभावों का विवेचन प्रस्तुत किया। इस सिलसिले में भूगोल, जलवायु आदि के महत्व को भी देखा। उनके अनुसार विज्ञान के अतिरिक्त सभी लिखित विचार साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। इस तरह स्ताल की साहित्य के बारे में धारणा अति व्यापक थी, फिर भी उन्होंने कविता और उपन्यास जैसी विधाओं पर विचार रखे। उन्होंने माना कि जलवायु की भिन्नता होने से विभिन्न देशों के निवासियों के स्वभाव में भिन्नता होती है, अतः उनके साहित्य की प्रकृति भी अलग-अलग होती है। जैसे घुघली जलवायु में रहने के कारण उत्तरी क्षेत्र के देशों के निवासियों का स्वभाव विषादपूर्ण, उदासीन तथा आवेग युक्त (मुडी) होता है, अतः उनके साहित्य में जीवन के प्रति उदासीनता की भावना प्रकट होती है। दूसरी ओर दक्षिणी जलवायु की विशेषता धूप, शीतल छाया, हरे जंगल तथा साफ़ झरने हैं। अतः दक्षिणी प्रदेशों के साहित्य में प्रेम का वर्णन विशेष रूप से मिलता है।

स्ताल का कहना था कि विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा कानूनी संस्थाओं के बीच आपसी सम्बन्ध जटिल होते हैं और इन के बीच से राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण होता है। स्ताल की एक महत्वपूर्ण स्थापना थी- नारी की प्रगति से सामाजिक प्रगति जुड़ी है तथा जिस समाज में नारी की सम्मान जनक स्थिति होती है वहाँ उपन्यास विधा का विकास होता है। स्ताल साहित्य के विकास में मध्यवर्ग की भूमिका को महत्वपूर्ण मानती थीं। उनका कहना था कि वह देश सुखी है जहाँ अमीर दुखी हो, व्यापारी संतुष्ट हो, जनता खुश हो और लेखक उदास हो। स्ताल के अनुसार साहित्य में राष्ट्रीय चरित्र अर्थात् युग चेतना की अभिव्यक्ति होती है।

मानव सभ्यता के आरंभिक विकास के दौर में कविता, संगीत और नृत्य का मिला-जुला "आदिम काव्य रूप" मिलता था। कविता साहित्य की आदिम विधा है, इसके माध्यम से समाज में बुद्धि जीवी-पुरोहित, नेता, दार्शनिक-संदेश देते आये हैं। धीरे-धीरे श्रम विभाजन और उद्योगों के विकास से कलाओं का आपसी सम्बन्ध बिखरता गया और कविता, नाटक, उपन्यास तथा अन्य साहित्यिक विधाएँ, बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार, रूप ग्रहण करने लगीं।

फ्रेंच दार्शनिक आग्युस्त कोत (August Conte, 1798-1857) ने समाज शास्त्र (Sociology) नामक विषय को क्रमबद्ध करके उसका प्रचलन किया। प्रत्यक्षवाद या विधेयवाद (Positivism) का प्रथम प्रयोक्ता था, जिसका उद्देश्य रहस्यात्मक अनुमानों का त्याग कर केवल तथ्यों का वर्णन करना था। ऐतिहासिक आलोचना ने स्वयं में, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में प्रचलित इतिहास के प्रति तीन अवधारणाओं को समाहित किया। ये थीं -

1. कोत की विधेयवादी अवधारणा (Positive Concept)
2. दानिलेवस्की, स्पेंग्लर, डॉयनबी की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक अवधारणा (Historico-Cultural Concept)
3. फ्रायड, हुसर्ल आदि की सांस्कृतिक-आलोचनात्मक अवधारणा (Cultural-Critical Concept)

इपोलीत तेन ने प्रजाति, क्षण और वातावरण वाले सिद्धान्त के द्वारा सामाजिक जीवन और साहित्य में कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना करके अपने विधेयवादी रुख का परिचय दिया और बताया था कि

किसी भी साहित्य को समझने के लिए उसकी जातीय परम्पराओं, राष्ट्रीय-सामाजिक वातावरण एवं सामयिक परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के विवेचन में जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने इस विधेयवादी प्रणाली का आरंभ किया तथा रामचन्द्र शुक्ल ने इसका अपने ढंग से भरपूर उपयोग किया।

तेन का मानना था कि साहित्य का सम्बन्ध समाज की आर्थिक अवस्था से होता है। साहित्य कल्पना की व्यक्तिगत, क्रीड़ा नहीं है, मास्तिष्क की अकेली भटकने वाली तरंग नहीं है, अपितु वह समकालीन परिवेश की एक विशेष मानसिकता की प्रति लिपि है। अतः साहित्यिक रचनाएँ दस्तावेज और स्मारक की भाँति होती हैं। तेन उपन्यास को हर जगह ले जाया जाने वाला छोटा आईना कहता था। इस प्रकार वह साहित्यिक रचना और समाज के बीच निश्चित सम्बन्ध मानता था।

13.3.3 ऐतिहासिक आलोचना - पद्धति: गुण-दोष तथा महत्व

क्रिस्टोफर काडवेल का कहना था कि कला का मोती समाज की सीपी में पैदा होता है। सच तो यह है कि वस्तुवादी दृष्टिकोण से देखने पर साहित्य की सामाजिक भूमिका अत्यन्त स्पष्ट होकर सामने आती है। अतः बाद में चलकर इससे समाज शास्त्रीय आलोचना का मार्ग प्रशस्त हुआ। साहित्य के अध्ययन में ऐतिहासिक आलोचना पद्धति का उपयोग जाने-अनजाने आलोचक करते ही रहते हैं। सामाजिक एवं ऐतिहासिक शक्तियों से साहित्यिक रचना को जोड़कर देखने के प्रयासों का लम्बा इतिहास है। होमर, कामाङिल, हेगेल, श्लीगल, मैथ्यू अर्नाल्ड, टी.एस.इलियट आदि अनेक साहित्य चिंतकों ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। हर ऐतिहासिक युग में समाज और जीवन की परिस्थितियाँ अपने पूर्ववर्ती काल से सम्बद्ध होते हुए भी भिन्न होती हैं। अतः पूर्ववर्ती युग के विचार और संस्कार परवर्ती युग के साहित्यकारों को प्रभावित करते हैं तथा सामयिक परिस्थितियों के कारण साहित्यकार अपनी कृति में नवीनता भी लाता है। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना पूर्ववर्ती संस्कारों और नवीनता के तत्वों का विवेचन-विश्लेषण करते हुए स्वयं भी नया रूप धारण करती रहती है। अतः युग-जीवन को समझने में इस आलोचना-पद्धति का योगदान बहुत रहा है।

इसके बावजूद ऐतिहासिक आलोचना साहित्यिक कृति के संपूर्ण सौन्दर्य का उद्घाटन करने में सक्षम नहीं होती। इससे कृति की प्रेरणा, प्रभाव आदि का पता तो चलता है लेकिन पाठ (Text) की समुचित व्याख्या नहीं हो पाती। ऐतिहासिक आलोचना का ध्यान कृति के पाठ (Text) से हटकर कृतिकार के जीवन और सामाजिक परिवेश पर केन्द्रित हो जाता है और असल चीज कृति ही छूट जाती है। लेखक के विचारों का परिचय और व्याख्या यहाँ महत्वपूर्ण हो जाती है लेकिन अनुभूतियों और संवेदनाओं के सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं हो पाता।

ऐतिहासिक आलोचना के द्वारा कृति को उसकी संपूर्णता में नहीं देखकर उसे दस्तावेज के रूप में देखना कृति का एक प्रकार से अवमूल्यन करना है क्योंकि ऐसा करने से कृतिमाध्यम बन जाती है और आलोचक का लक्ष्य कृति से इतर वस्तु हो जाती है। ऐतिहासिक आलोचना इस प्रकार से कृति का यात्रिक अध्ययन ही प्रस्तुत कर पाती है।

साहित्यिक कृति में समाज और समय ही सब कुछ नहीं होता अपितु उसमें मौलिकता भी होती है। ऐतिहासिक आलोचना इस मौलिकता अथवा प्रतिभा का विश्लेषण नहीं कर पाती। समाज और साहित्य को बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में देखने से प्रतिभा के महत्व को नकारा जाता है। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना पद्धति का प्रयोग करने वाला आलोचक अच्छा पर्यवेक्षक (Observer) तो होता है, किन्तु पूर्ण विश्लेषक नहीं होता।

फिर भी ऐतिहासिक आलोचना का अपना महत्व है। इसने सिद्ध कर दिया कि साहित्य-रचना कोई विशुद्ध काल्पनिक चीज नहीं होती, बल्कि उसका जीवन और समाज से अटूट रिश्ता होता है।

इसने शुद्धतावादी, कलावादी अथवा रूपवादी दृष्टियों की तीखी आलोचना की, जो दृष्टियाँ साहित्य को एक स्वतंत्र संसार के रूप में देखती थीं।

ऐतिहासिक आलोचना ने विभिन्न ज्ञान-विज्ञान के विषयों से सहायता लेकर उनकी आपसी सम्बद्धता की ओर भी संकेत किया है। आज जिस अन्तर्विधावर्ती अध्ययन (Inter-disciplinary Study) की चर्चा जोरों पर है, इसके महत्व को ऐतिहासिक आलोचना ने बहुत पहले समझ लिया था। अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, इतिहास, शिक्षा शास्त्र आदि परस्पर-पूरक हो सकते हैं— ऐतिहासिक आलोचना ने इसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर ऐतिहासिक कार्य किया है।

13.4 सारांश

कला और साहित्य व्यक्ति-रचनाकार के माध्यम से प्रस्तुत किये जाने के बावजूद सामाजिक प्रक्रिया से उत्पन्न होते हैं। युग और जीवन के बदलाव साहित्य में उभर कर आते हैं। इतिहास में मनुष्य के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, कलात्मक आदि उपलब्धियों का अकलन होता है। साहित्य में उपलब्ध अनुभवों और संवेदनाओं से किसी राष्ट्र, जाति एवं युग जीवन का इतिहास सामने आ जाता है। ऐतिहासिक आलोचना पद्धति साहित्य को सामाजिक जीवन के प्रति बिम्ब के रूप में ग्रहण करती है। जीवन और समाज की युगीन समस्याओं को अच्छी तरह समझने के क्रम में यह पद्धति अनेक ज्ञान-विज्ञानों का सहारा लेती है और इस तरह साहित्यिक कृति की व्याख्या करती है।

ऐतिहासिक आलोचना पद्धति के निर्माण में मर्यादा द स्ताल, इपोलीत तेन, हर्डर आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। तेन ने साहित्य-निर्माण में तीन प्रभावी तत्वों के रूप में प्रजाति, क्षण और वातावरण की चर्चा की। उन्होंने कोत के विधेयवादी चिन्तन का उपयोग साहित्य की आलोचना के लिए किया। बाद में चलकर ऐतिहासिक आलोचना पद्धति के लिए इतिहास, संस्कृति और मनोविज्ञान से सम्बन्धित विचारों का प्रयोग भी हुआ। मार्क्सवादी विचारों ने ऐतिहासिक आलोचना को नए आयाम दिये।

ऐतिहासिक आलोचना पद्धति युगजीवन की व्याख्या तो सफलता पूर्वक करती है किन्तु इस में कृति के पाठ (Text) के आन्तरिक सौन्दर्य का समुचित उद्घाटन संभव नहीं हो पाता। साहित्य के बल स्मारक और दस्तावेज ही नहीं होता बल्कि अपनी संपूर्णता में वह रचनाकार की मौलिक प्रतिभा के सौन्दर्य को भी समेटे रखता है। रूपवादी अध्ययन अगर कृति के भीतरी सौन्दर्य का उद्घाटन करना चाहता है तो ऐतिहासिक आलोचना उसके सामाजिक प्रभावों का अच्छा अध्ययन प्रस्तुत करती है। इस पद्धति ने रचना के अध्ययन को शुद्ध कलावादी आग्रहों से मुक्त करके देखने का प्रयास किया है।

13.5 शब्दार्थ

कार्य-कारण सम्बन्ध (Cause & Effect) = निश्चित कारण का निश्चित परिणाम तथा हर कार्य के पीछे कारण होने की स्थिति

विकास वादी सिद्धान्त (Theory of Evolution) = सृष्टि के आरंभ, जीवों की उत्पत्ति एवं उनके विकास से सम्बन्धित सिद्धान्त।

विधेयवाद (Positivism) = अनुभव के तथ्यों पर आधारित उपयोगितावादी दर्शन, जो मानवीय ज्ञान के परिणामों को व्यावहारिक जीवन में दर्शाता है।

दस्तावेज (Record, Document) = सबूत या प्रमाण के रूप में उपस्थित किये जाने वाले कागज-पत्र।

अन्तर्विधावर्ती अध्ययन
(Interdisciplinary Study)

= ज्ञान-विज्ञानों का परस्पर-सम्बद्धता में अध्ययन करना।

समाज विज्ञान या समाज शास्त्र
(Sociology)

= मानव-समूह, परिवार तथा विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करने वाला शास्त्र।

मानव विज्ञान या नृत्व शास्त्र
(Anthropology)

= आनुवंशिकी के आधार पर मनुष्य के जैविक तथा सांस्कृतिक विकास का अध्ययन करने वाला विज्ञान।

मनोविज्ञान (Psychology)

= मनोभावों तथा मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करनेवाला शास्त्र।

13.6 अभ्यास

13.6.1 दीर्घ श्रेणी के प्रश्न

1. साहित्य और समाज के सम्बन्ध पर विचार करते हुए ऐतिहासिक आलोचना के स्वरूप को समझाइए।
2. ऐतिहासिक आलोचना के विकास-क्रम को स्पष्ट कीजिए।
3. ऐतिहासिक आलोचना पद्धति के गुण-दोषों तथा उसके महत्व को रेखांकित कीजिए।

13.6.2 मध्यम श्रेणी के प्रश्न

1. ऐतिहासिक आलोचना किसे कहते हैं?
2. प्रजाति, क्षण और वातावरण को समझाइए।
3. साहित्य की आलोचना को ऐतिहासिक आलोचना पद्धति का क्या योगदान है, विचार कीजिए।

13.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

13.7.1 दार्ढ्य श्रेणी का प्रश्नोत्तर

प्रश्न: साहित्य और समाज के सम्बन्ध पर विचार करते हुए ऐतिहासिक आलोचना के स्वरूप को समझाइए?
उत्तर: साहित्य मनुष्य की अनुभूतियों, संवेदनाओं और अनुभवों को लेकर रचा जाता है। मनुष्य प्रकृति से सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना वह अस्तित्ववान नहीं हो सकता। वह समाज के दूसरे मनुष्यों के संपर्क में रहता है और विभिन्न मानसिक स्थितियों से गुजरता है। उसकी मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ उसकी सामाजिक अवस्था और स्थितियों का परिणाम होती हैं। उस साहित्य में जिन अनुभूतियों का अंकन होता है उन के द्वारा सामाजिक स्थितियों का ज्ञान भी संभव है। इस प्रकार साहित्य जो व्यक्ति और व्यक्तियों का प्रत्यक्ष चित्रण करता है, प्रकारान्तर से समाज का चित्रण भी प्रस्तुत कर रहा होता है। इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण भी कहा गया है अर्थात् सामाजिक जीवन की झलक साहित्य में दिखायी देती है।

लेकिन साहित्य को समाज का दर्पण मानना और साहित्य और समाज के सम्बन्धों में बिन्म-प्रतिबिन्म भाव देखना निर्भान्त नहीं है। साहित्य समाज को ज्यों का त्यों, स्थूल वास्तविकता में, उपस्थित नहीं करता। साहित्य और समाज में सीधा कार्य-कारण सम्बन्ध भी नहीं होता, फिर भी साहित्य का यथार्थ सामाजिक जीवन के यथार्थ से दूर भी नहीं होता। साहित्य हर सामाजिक घटना का तथ्यपरक विवरण नहीं देता मगर साहित्य में वर्णित घटनाएँ काल्पनिक होने पर भी सामाजिक सच के निकट होती हैं। कल्पनाओं का भी लौकिक आधार होता है। रचनाकार के मन पर सामाजिक परिस्थितियों, घटनाओं,

समस्याओं आदि का प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव को वह रचना में चित्रित करता है। इस प्रकार साहित्य और समाज का सम्बन्ध स्थूल नहीं, अपितु सूक्ष्म और किंचित् जटिल होता है। ऐतिहासिक आलोचना रचना में सामाजिक सन्दर्भों की पहचान और परख करती है।

साहित्य की आलोचना के लिए अनेक पद्धतियाँ सामने आयी हैं, जिनमें ऐतिहासिक आलोचना भी एक है और जिसका अठारहवीं उन्नीसवीं सदी में जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड जैसे देशों में जन्म और विकास हुआ। यह आलोचना-पद्धति साहित्य को जीवन और समाज की सापेक्षता में देखती है। इसके अनुसार साहित्यकार अपने परंपरागत संस्कार और युगीन जीवन-संदर्भों की उपज होता है। अतः साहित्यिक रचना को अच्छी तरह समझने तथा व्याख्यायित करने के लिए तत्कालीन समाज की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, पारंपरिक आदि स्थितियों की जानकारी अपेक्षित है। रचना की अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को उसकी ऐतिहासिकता के आलोक में अच्छी तरह परखा जा सकता है, ऐसा ऐतिहासिक आलोचना पद्धति का मानना है।

अतः ऐतिहासिक आलोचना पद्धति किसी भी साहित्य का अध्ययन और मूल्यांकन अतीत की परंपराओं तथा वर्तमान स्थितियों की पृष्ठ भूमि में करती है। इसके लिए ऐतिहासिक आलोचना पद्धति समाज शास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, दर्शन, नृत्य विज्ञान आदि ज्ञान-विज्ञानों की मदद भी लेता है। इस पद्धति के अनुसार साहित्य कोरी कल्पना नहीं, अपितु सामाजिक यथार्थ होता है। उसमें रचनाकार के जातिगत संस्कार, युग जीवन के द्वन्द्व और परिवेशगत चेतना अंकित होती है, अतः केवल छन्द, अलंकार, वक्रोक्ति, रस आदि के द्वारा उस रचना के सम्पूर्ण सौन्दर्य का उद्घाटन संभव नहीं है। इस आलोचना पद्धति के अनुसार सामाजिक प्रभावों से रचना के आन्तरिक सौन्दर्य का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति साहित्य के सामाजिक संस्कारों का विस्तार से पर्यवेक्षण करती है। रचना के सामाजिक पक्ष के इस प्रकार के अध्ययन से साहित्य की प्रासंगिकता तथा उपयोगिता उभर कर सामने आती है।

13.7.2 मध्यम श्रेणी का प्रश्नोत्तर

प्रश्न: प्रजाति, क्षण और वातावरण को समझाइए?

उत्तर: उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध फ्रांसीसी सौन्दर्यशास्त्री, साहित्यिक आलोचक तथा अंग्रेजी साहित्य के इतिहास-लेखक इपोलीत तेन ने प्रजाति, क्षण और वातावरण (Race, Moment & Milieu) सम्बन्धी अपना विचार प्रस्तुत किया था। तेन का कहना था कि साहित्य के निर्माण में प्रजाति, क्षण एवं वातावरण की सक्रिय एवं महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्रजाति से तेन का आशय मनुष्य के जातिगत जैव संस्कारों से था। संसार के विभिन्न भूभाग में रहनेवाले मानव समूहों की अपनी खास विशेषताएँ दिखायी पड़ती हैं। कोई जाति वीर स्वभाव की होती है तो कोई कायर स्वभाव की। जातिगत स्वभाव, संस्कार और प्रवृत्तियाँ साहित्य में भी परिलक्षित होती हैं। जैसे किन्हीं जातियों में प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं की प्रचुरता मिलती है तो किन्हीं जातियों के साहित्य में उनके स्वभाव के अनुरूप वीरता को प्रमुखता मिलती है। क्षण से तेन का आशय तत्कालीन युगीन परिस्थितियों से है। यही कारण है कि हम किसी खास समय में एक निश्चित साहित्यिक प्रवृत्ति को पाते हैं। मध्यकाल में युगीन परिस्थितियों के कारण कभी वीरकाव्य दिखायी पड़ता है, कभी भक्ति काव्य तो कभी शृंगार काव्य। वातावरण (Milieu), परिवेश या पर्यावरण से तेन का आशय भूगोल, जलवायु तथा प्राकृतिक अवस्था से था। मनुष्य के जीवन और स्वभाव पर पर्यावरण काफी प्रभाव डालता है, इसमें सन्देह नहीं।

तेन प्रजाति, क्षण और वातावरण इन तीनों तत्वों को परस्पर अवलम्बित मानता था। यद्यपि तेन अनुसार क्षण, प्रजाति और वातावरण का साहित्य से कार्य-कारण सम्बन्ध, अर्थात् बिल्कुल सीधा सम्बन्ध होता है, किन्तु यह मान्यता एक प्रकार से अतिवादिता ही है। प्रजाति, क्षण और वातावरण का साहित्य से सूक्ष्म और जटिल सम्बन्ध होती है जिसे बड़ी सावधानी से देखा जाना चाहिए।

13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. हिन्दी साहित्य कोश भाग-1
2. साहित्य का समाज शास्त्रीय चिंतन : (सं.) निर्मला जैन।
3. साहित्य और इतिहास - दृष्टि : मैनेजर पांडेय
4. इतिहास और आलोचना : नामवर सिंह

BRAOU

इकाई-14: मनोविश्लेषणवादी आलोचना

14.0 विषय प्रवेश

14.1 पाठ का उद्देश्य

14.2 पाठ परिचय

14.3 मूलपाठ

14.4 सारांश

14.5 शब्दार्थ

14.6 अध्यास

14.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न

14.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

14.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

14.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

14.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

14.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.1 उद्देश्य

आधुनिक आलोचना पद्धतियों में मनोविश्लेषणवादी आलोचना का महत्वपूर्ण स्थान है। मनोवैज्ञानिक चिंतन से आधुनिक साहित्य काफी प्रभावित हुआ। मनोविज्ञान मन की प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है और मानव-मन सभी कलाओं का जनक है, इसीलिए वह साहित्य के अध्ययन में अधिक प्रभावकारी भूमिका निभा सकता है। मनोवैज्ञानिक मानदंडों, इसकी विश्लेषण पद्धति, इसकी सीमाओं और मनोविश्लेषणवादी आलोचकों का परिचय देना इस पाठ का उद्देश्य है।

14.2 पाठ परिचय

1. मनोविश्लेषण सिद्धांत और उसका मनोवैज्ञानिक आधार
2. मनोविश्लेषणवाद और साहित्य
3. मनोविश्लेषणवादी आलोचना का स्वरूप और प्रवृत्ति
4. हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी आलोचना का परिचय
5. मनोविश्लेषणवादी आलोचकों का परिचय इस पाठ में दिया गया है।

14.3 मूलपाठ

आधुनिक आलोचना पद्धतियों में मनोविश्लेषणवादी आलोचना का भी महत्वपूर्ण स्थान है। आलोचना के क्षेत्र में काव्य को वस्तुगत सत्ता के रूप में देखने और जानने का प्रयास किया गया। मानवतावादी विचारधारा के कारण सांस्कृतिक दृष्टि से काव्य पर विचार किया गया या सामाजिक संबंधों के आधार पर मार्क्सवादी दृष्टि से साहित्य का विवेचन किया गया। किन्तु इस बात पर कम विचार किया गया कि काव्य के कार्य विषय का स्वरूप क्या है और काव्य-सृजन के समय कवि की मानसिक स्थिति क्या होती है? यह विषय भी विवादास्पद रहा है कि साधारणीकरण का संबंध केवल पाठक से है या कवि से। यह भी कहना कठिन है कि कवि अपने कार्य विषय, भाव आदि के साधारणीकृत रूप को ग्रहण करता है या नहीं। यह प्रश्न भी अनसुलझा रहा कि भाव और विभाव का साधारणीकरण काव्य-सृजन के समय होता है या काव्य अनुशीलन में। किन्तु यह बात महत्वपूर्ण है कि साधारणीकरण की प्रक्रिया कवि-व्यापार में भी होती है और कवि-व्यापार से यह पाठक में भी संभव है। साधारणीकरण

के मूल में यह बात स्पष्ट है कि कवि और पाठक का तादात्म्य होता है। साधारणीकरण के चिंतन की विकास-परंपरा में पाठक या सामाजिक दृष्टि से साहित्य के मूल्यों का निर्धारण करने का प्रयास तो किया गया किन्तु इस बात पर विचार नहीं किया गया कि कवि भी एक सामाजिक व्यक्ति है, अतः काव्य-सृजन के समय उसकी मनः स्थिति क्या होती है और उसके काव्य-सृजन की प्रेरणा किसा मनःस्थिति में मिलती है। पाश्चात्य आलोचना शास्त्र में कवि की मानसिक शक्तियों तथा रचना की मानसिक प्रक्रिया पर ध्यान देने का प्रयास किया गया। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के विकास के साथ-साथ इस दृष्टि में भी विकास होता गया। वस्तुतः मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की दृष्टियों में थोड़ा सा अंतर है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि में चेतना के सामान्य जागृति स्तर पर विचार किया जाता है तो मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि में अचेतन और अवचेतन को जीवन का मूल तत्व माना जाता है। इस सिद्धांत से साहित्य में नवीन समीक्षा सिद्धांतों और पद्धतियों का जन्म हुआ। इस मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत के आचार्यों में प्रमुख हैं:- फ्रायड, एडलर और युंग। इन तीनों मनोविश्लेषण शास्त्रियों तथा इनके सिद्धांतों ने कला और साहित्य के क्षेत्र में अपना काफी अधिक प्रभाव डाला है।

14.3.1 मनोविश्लेषण सिद्धांत

मनोविश्लेषणवादी आलोचना पर विचार करने से पहले "मनोविश्लेषण क्या है" विषय पर चर्चा करना असमीचीन न होगा। वास्तव में मनोविश्लेषण सिद्धांत के जन्मदाता सिगमंड फ्रायड हैं। एडलर और युंग इनके शिष्य और सहयोगी हुए हैं। किन्तु आगे चलकर इन दोनों शिष्यों ने फ्रायड का सिद्धांत स्वीकार नहीं किया। इन्होंने अपने स्वतंत्र सिद्धांत स्थापित किए। तीनों के सिद्धांतों के अलग-अलग नाम हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धांत को "मनोविश्लेषण" (Psycho analysis), एडलर के सिद्धांत को "वैयक्तिक मनोविज्ञान" (individual psychology) और युंग के सिद्धांत को "विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान" (analytical psychology) कहा गया है। इस मनो बृहद् ने साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में एक क्रांति-सी ला दी।

वास्तव में मनोविश्लेषण सिद्धांत अपने प्रमुख और प्रारंभिक रूप में मानसिक और स्नायविक रोगों की चिकित्सा की विशेष विधि रहा है जिसके आसपास मनोवैज्ञानिक सिद्धांत भी अपना काम करते हैं। इसके आदि प्रवर्तक फ्रायड ने मानसिक-स्नायविक रोगों की चिकित्सा करते हुए देखा कि सम्मोहन क्रिया (hypnotism) या वार्तालाप में स्वच्छंद विचार-साहचर्य से बहुत से पुराने अनुभव पुनः जीवित हो उठते हैं। उन्होंने देखा कि इन अनुभवों का मूल कारण कामवृत्ति या कामवासना है तथा उसका अचेतन रूप में दमन है। इसे फ्रायड ने संक्षिप्त रूप में तीन शब्दों में व्यक्त किया है- शैशवीय दमित कामवृत्ति। फ्रायड के मतानुसार यह कामवृत्ति जीवन की मुख्य प्रेरक शक्ति है। यह शिशु के जन्म से ही कार्यशील रहती है और इसकी अभिव्यक्ति मानव के समूचे आचार-विचार में परोक्ष रूप से होती है। इस शक्ति को और अधिक व्यापक रूप देने के लिए फ्रायड ने "लिबिडो" शब्द का प्रयोग किया है। इसलिये उसने मन का विभाजन अहं (ego) और आदर्श अहं (superego) में किया है। अहं वास्तव में अचेतन मन ही है। जैविक संघटन में जो कुछ है वह अहं (इड) में रहता है। "अहं" मूल प्रवृत्तियों का नियंत्रण करता है। अनुरूप परिस्थितियों के मिल जाने से जो प्रवृत्तियाँ संतुष्ट हो जाती हैं, वह उनका समर्थन करता है और जो प्रवृत्तियाँ संतुष्ट नहीं हो पाती उन्हें दबा देता है। यह सब सचेत रूप में क्रियाशील होता है। "आदर्श अहं" (सुपर इगो) मूलतः चेतन मन है जो सामाजिक आचार-विचार से नियंत्रित होता है। वस्तुतः शैशवावस्था में केवल "अहं" का विकास होता है और उसका दमन नहीं होता किन्तु सामाजिक और नैतिक दबावों के कारण "अहं" और "आदर्श अहं" दोनों का विकास होने लगता है तथा स्वाभाविक कामेच्छाओं का दमन होता जाता है। इन दमित इच्छाओं से अचेतन मन का निर्माण होता है। प्रबल इच्छा के दमन से चेतन मन में भय का जन्म होता है। वास्तव में शिशु की कामवृत्ति अपने माता-पिता और भाई-बहन की ओर प्रवृत्ति होती है किन्तु नैतिक निषेधों के कारण इस वृत्ति का दमन होता रहता है और व्यक्ति के मन में कुंठाएँ बन जाती हैं। फ्रायड ने ग्रीक नायक ईडिपस (इस नायक ने अपने पिता का वध कर के अपनी माता से विवाह किया था) के नाम से "ईडिपस कुंठा" अर्थात् "मातृ रति" (Oedipus Complex) के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए कहा कि शिशु के मन में समलिंगी जनक के प्रति ईर्ष्या और विषमलिंगी जनक के प्रति कामेच्छा

की भावना होती है। इन दोनों का दमन करके नैतिक और सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत आदर और प्रेम या स्नेह के भाव व्यक्त किए जाते हैं। फ्रायड के मतानुसार बाल्यकाल की यह कामवासना ही चरित्र निर्माण की मूल प्रेरणा है। इसका उन्नयन या उदात्तीकरण भी विभिन्न प्रकार से होता है। दमित इच्छाओं और वासनाओं की अभिव्यक्ति से व्यक्ति का मन हलका हो जाता है। यह विरेचन सिद्धांत (catharsis) का आनंद है। यदि मनुष्य के व्यक्तित्व का संघटन कमजोर हो तो किसी संवेगात्मक आघात के लगने से "ईडिक्स कुंठा" कई मानसिक रोगों को जन्म देती है। साधारण स्वस्थ जीवन में भी ये दमित वासनाएँ तथा कुंठाएँ अपने को व्यक्त करने के लिए प्रयासशील रहती हैं किंतु "आदर्श अहं" के कारण ये स्वाभाविक रूप में व्यक्त न होकर स्वप्न, दैनिक मूल, हास्य विनोद, कला आदि रूपों में व्यक्त होती हैं। इन रूपों के अधिक प्रबल हो जाने पर ये कुंठाएँ हिस्टीरिया, खंडित व्यक्तित्व, अपराध भावना आदि मानसिक स्नायविक रोगों के रूप में प्रकट होती हैं। मनोविश्लेषण सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए फ्रायड ने बताया है कि मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। बिना किसी प्रयोजन या कारण के कोई भी कार्य नहीं होता। इन प्रयोजनों या कारणों में फ्रायड ने कामेच्छा या कामवृत्ति को मुख्य प्रयोजन माना है।

फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धांत का प्रभाव कला और साहित्य पर काफी पड़ा। फ्रायड कहते हैं कि कला और धर्म दोनों का उद्भव अचेतन मन की संचित प्रेरणाओं और इच्छाओं में ही होता है। इस काम शक्ति के उदात्तीकरण के कारण कलाकार सर्जन करता है। कवि की सृजनशीलता से इस कुंठा की अभिव्यक्ति जिस रूप में होती है उसे सहृदय पाठक भी स्वीकार कर लेता है और वह उसी में रम कर अपने आपको उनसे मुक्तकर लेता है। यह एक प्रकार की आनंदानुभूति होती है। वास्तव में कला या साहित्य कवि और सहृदय पाठक के रुग्ण मानस के उपचार का साधन बन जाती है। इस दृष्टि से कला के तीन मुख्य आधार दिखाई देते हैं। वे हैं दमन, कामवृत्ति और उदात्तीकरण। वस्तुतः मानव मन के अतल में व्याप्त दमित प्रवृत्तियाँ - व्यक्तिगत और सामूहिक - मानव जीवन पर व्यापक प्रभाव डालती हैं। ये उसके सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इन प्रवृत्तियों का स्वस्थ उन्नयन साहित्य के माध्यम से ही कल्याणकारी सिद्ध होता है। इसी संदर्भ में फ्रायड ने दमित प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति स्वस्थ और अस्वस्थ दो प्रकार से मानी है। उनके मतानुसार स्वस्थ अभिव्यक्ति का साहित्य चिरस्थायी होता है और वह मानव कल्याण के लिए होता है। दूसरा, अस्वस्थ अभिव्यक्ति का साहित्य विध्वंसात्मक प्रकृति का होता है और वह थोड़े समय के लिए अपना रूप दिखाकर समाप्त हो जाता है। फ्रायड का यह मनोविश्लेषण सिद्धांत पाश्चात्य आलोचना में साहित्य-समीक्षा का मानदंड बन गया था और इसने एक संप्रदाय का रूप ले लिया था। इस संप्रदाय ने कला और साहित्य की मूल प्रेरणा शमित वासनाओं की अभिव्यक्ति को स्वीकार किया है।

मनोविश्लेषण के सिद्धांत के विकास में फ्रायड के दो शिष्यों एडलर और युंग ने इस विचार-परंपरा को नया मोड़ दिया। एडलर के मनोविज्ञान में "लिबिडो" अथवा "कामवृत्ति" का उतना महत्व नहीं है जितना "अहं" भाव का। इनके मतानुसार फ्रायड "कामवृत्ति" को अनावश्यक रूप से महत्व देते हैं। वास्तव में मनुष्य अपने व्यक्तित्व को समाज में महत्वपूर्ण देखना चाहता है। समाज में अपने व्यक्तित्व की महत्ता और उपादेयता व्यक्त करने की उसकी इच्छा होती है। यह इच्छा वह अपने बाल्यकाल से ही लिए रहता है। अतः एडलर के मत में मानसिक स्नायविक रोगों का मूल कारण कामवृत्ति के अतिरिक्त "अहं" भी हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में "अहं स्थापन" या अधिकार भावना (self-assertion) की मूल प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप में निहित रहती है। इस इच्छा की अभिव्यक्ति समाज, व्यवसाय और विवाह के क्षेत्रों में होती है। "अहं स्थापन" की इच्छा और जीवन के यथार्थ में जो परस्पर विरोध होता है वह मानसिक जीवन की मुख्य समस्या बन जाता है। इसी संदर्भ में एडलर ने मानसिक स्नायविक रोग का मूल कारण "हीनत्व कुंठा" स्वीकार किया है। यथार्थ से संघर्ष करते हुए जब व्यक्ति का आत्म स्थापन संतुष्ट नहीं होता तो उसमें हीन-भावना का विकास होने लगता है। इस भावना से मुक्ति पाने के लिए वह छटपटाता है और अभावों का क्षतिपूर्ति के लिए प्रयासशील रहता है। इस प्रयास से कुछ व्यक्तियों में अत्यधिक अहंकार या स्वार्थ पराणयता आ जाती है जिसे हम हीन भावना का कपट रूप कह सकते हैं। जैसे कुरूप स्त्री का अत्यधिक श्रृंगार करना या क्षीण शरीर वाले व्यक्ति का अपने-आपको पहलवान दिखाने के लिए अत्यधिक प्रयत्न करना। वास्तव में

इस समयोजन के अभाव में मनुष्य को आत्म ग्लानि होती है और वह रुग्ण हो जाता है। रुग्णता के तीन कारण माने गए हैं- संरचनात्मक, क्रियात्मक और मानसिक। संरचनात्मक रुग्णता का अर्थ है शारीरिक विकृति या अपंगता। क्रियात्मक रुग्णता से अभिप्राय है दर्द आदि के कारण चलने-फिरने या काम करने में असमर्थता या कठिनाई। मानसिक रुग्णता का संबंध उदासीनता, चिन्ता, भय, उद्वेग, क्षोभ आदि से है। इस मानसिक रुग्णता के कारण मनुष्य में प्रभुत्व की कामना अत्यधिक पैदा होती है और इसलिए वह अपने विशेष क्षेत्र के प्रभुत्व की रक्षा प्रत्येक प्रकार से करना चाहता है। इससे उसके मन में इसके प्रति मोह पैदा हो जाता है। वस्तुतः वह शक्तिशाली दिखाई देते हुए भी दुर्बल होता है। उसे अपनी अर्जित शक्ति या यश के चले जाने का भय सदैव बनारहता है। अतः उसे बचाए रखने के लिए वह उचित या अनुचित किसी भी तरीके को अपना सकता है। दूसरी ओर, हीनभावना से बचने के लिए कभी-कभी व्यक्ति कोई साधन ढूँढ लेता है। यहाँ अभाव की पूर्ति स्वप्न, कल्पना, साहित्य, कला, दर्शन आदि कई रूपों में करता है। यह वास्तव में स्वस्थ क्षतिपूर्ति है। इस प्रकार एडलर "अहंस्थापन" की प्रवृत्ति को मुख्य मानते हैं न कि कामवृत्ति को।

एडलर के इन सिद्धांतों का साहित्य और अन्य क्षेत्रों पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना फ्रायड के मत का। लेकिन इसमें दो राय नहीं हैं कि एडलर का सिद्धांत फ्रायड की अपेक्षा अधिक व्यापक है। फ्रायड जीवन की मूल प्रेरणा कामवृत्ति मानते हैं और एडलर "अहं स्थापन" या अधिकार भावना। फ्रायड के मत में आत्म ग्लानि मन की विकृति है जबकि एडलर के लिए आत्म ग्लानि संपूर्ण व्यक्तित्व की विकृति है। अचेतन मन के संदर्भ में दोनों के सिद्धांतों में कोई विशेष अंतर नहीं है। डॉ. फ्रायड का उदात्तीकरण सिद्धांत एडलर की क्षतिपूर्ति सिद्धांत के समान अवश्य है।

फ्रायड के एक अन्य शिष्य युंग ने भी मनोविश्लेषण सिद्धांत में कुछ संशोधन करने का प्रयास किया है। इन्होंने भी फ्रायड के इस मत का खंडन किया कि जीवन की मूल प्रेरक शक्ति कामवृत्ति है। इन्होंने "लिबिडो" शब्द को और अधिक विस्तृत अर्थ दिया। इन्होंने इस शब्द के भीतर फ्रायड की "कामवृत्ति" और एडलर की "अहंस्थापन" प्रवृत्ति दोनों को समाहित किया है। इसे "जीवन शक्ति" या "जिजीविषा" कहा जा सकता है। युंग इसे जीवन की सामान्य एवं प्रारंभिक प्रेरणा शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। "जिजीविषा" के लिए मनुष्य को कई संघर्ष करने पड़ते हैं। कामजन्य संघर्ष एकांगी होता है और जिजीविषा जन्य संघर्ष सर्वांगीण तथा सर्वतोमुखी होता है। इस प्रकार युंग ने कामवृत्ति की अपेक्षा "जिजीविषा" पर अधिक बल दिया है।

युंग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत व्यक्तित्व के प्रकारों का सिद्धांत है। इनके मतानुसार मुख्य से दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं- एक, अंतर्मुखी (introvert) और दूसरे, बहिर्मुखी (extrovert)। अंतर्मुखी व्यक्ति का ध्यान और शक्ति स्वयं पर ही केन्द्रित रहती है और बहिर्मुखी की शक्ति सामाजिक तथा भौतिक वातावरण की ओर प्रकट होती है। अंतर्मुखी व्यक्ति विचारों और भावनाओं में केन्द्रित होने के कारण अधिक भावुक, कल्पनाशील, एकांतप्रिय और अव्यावहारिक होता है। बहिर्मुखी व्यक्ति, समाजप्रिय, क्रियाशील और व्यवहारदुःशल अधिक होता है। युंग ने कहा है कि वास्तव में ये दोनों भावनाएँ प्रत्येक व्यक्ति में मिलती हैं, अंतर होता है तो केवल मात्रा का। इसलिए उन्होंने इस प्रकार का वर्गीकरण उनके प्राबल्य (या मात्रा) के आधार पर किया है। इनमें से जो प्रवृत्ति प्रबल होती है वही मनुष्य की जीवन-शक्ति की धारा का दिशा-निर्देश करती है और उसकी सर्जनात्मक शक्ति का नियंत्रण करती है। इसीलिए इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के कार्य भिन्न प्रकार के होते हैं। इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के साहित्यिक और कलात्मक सृजन में भी काफी अंतर दिखाई देता है। इनके वर्ण्य-विषय, चरित्र-चित्रण, शिल्प योजना, शैली आदि में भी भेद मिलता है। अंतर्मुखी साहित्यकार व्यक्ति प्रधान रचना की सर्जना अधिक करता है और बहिर्मुखी साहित्यकार विषय-प्रधान रचना की। इन दोनों का जीवन-दर्शन भी अलग अलग होता है।

युंग की दृष्टि में भी अचेतन मन का महत्व अधिक है। फ्रायड ने अचेतन मन को दमित वासनाओं का भंडार माना था लेकिन युंग ने अचेतन मन का विभाजन दो भागों में किया है। 1. वैयक्तिक और 2. प्रजातीय। वैयक्तिक अहं संपूर्ण अचेतन का क्षुद्र अंश है। प्रत्येक व्यक्ति में

प्रजाति के सामूहिक आदिम विश्वास, मिथक आदि का संचय रहता है। यह सामूहिक आदिम अचेतना सार्वभौम एवं निर्व्यक्तिक होती है। इसमें कई प्रकार की परतें होती हैं जैसे पशु जीवन के अवशेष, आदिम पूर्वजों के संस्कारों, राष्ट्रकुल परिवार आदि की परतें। इसी को युंग ने प्रजातीय स्मृति (Racial memory) की संज्ञा दी है। प्रजातीय अचेतन में मनुष्य की सहज वृत्तियाँ समाहित रहती हैं। पूर्वजों की जीवाणु कोशिकाएँ (germ cells) उनके वंशजों में आ जाती हैं। ये कोशिकाएँ न केवल अंगरचना का कार्य करती हैं वरन् अपने साथ प्रजातीय अचेतन में सुरक्षित अनुभवों एवं विचार-पद्धतियों को भी साथ लेती आती हैं। इसमें सृष्टि के आरंभ से लेकर आज तक के संस्कारों की दीर्घ परंपरा निहित रहती है। इन सामूहिक विकारों को युंग ने आदि प्ररूप (archetype) कहा है। इसी संकल्पना के आधार पर "आर्केटाइप आलोचना पद्धति" का भी प्रचलन हुआ है।

14.3.2 मनोविश्लेषणवाद और साहित्य

उपर्युक्त सिद्धांतों का विवेचन करने से पता चलता है कि मनोविश्लेषण सिद्धांत भी न्यूटन, कोपरनिकस, आइन्स्टाइन, मार्क्स आदि के सिद्धांतों की भांति क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है। इसने आधुनिक चिंतन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। इसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि साहित्य या कला मानसिक विकृतियों का परिणाम है। फ्रायड की दमित वासना की अभिव्यक्ति, एडलर की हीनभावना से मुक्ति और युंग की जिजीविषा को मनुष्य की मूल प्रवृत्ति स्वीकार किया गया और इन्हीं तीन मूल प्रवृत्तियों को साहित्य की मूल प्रेरणा के रूप में माना गया। इनके मतानुसार साहित्य निर्माण की प्रेरणा मनुष्य को चेतन मन से नहीं होती वरन् अवचेतन मन से होती है। वस्तुतः साहित्य में बौद्धिकता काम नहीं करती, प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। ये प्रवृत्तियाँ ही हमें सत्य की ओर ले जाती हैं। वास्तव में साहित्य समाजिक होने की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक होता है इसमें जो कुछ सामाजिक तत्व दिखाई देते हैं वे साहित्यकार या कलाकार के सामाजिक दायित्व के अनुभव के परिणाम नहीं हैं। वरन् वे सामाजिक दबाव के परिणाम होते हैं। पाप-पुण्य, भले-बुरे आदि के सिद्धांत बंधे-बंधाए और बेकार होते हैं। ये मनुष्य के विकास में बाधा डालते हैं क्योंकि इनसे मनुष्य के अवचेतन मन में निहित वासनाओं की सहजता से संतुष्टि नहीं होती बल्कि उनका दमन होता है। वस्तुतः अवचेतन मन की दमित वासनाओं पर परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है किन्तु वह सतही एवं ऊपरी होता है। इस प्रभाव से मूल प्रवृत्तियों में यदि थोड़ा सा परिवर्तन हो भी जाता है किन्तु उनका चिरंतन रूप समाप्त नहीं होता। इस प्रकार फ्रायड, एडलर और युंग के सिद्धांतों का समन्वित रूप साहित्य सृजन एवं कला के क्षेत्र में मनोविश्लेषणवादी संप्रदाय के रूप में प्रसिद्ध हुआ। साहित्य या कला के क्षेत्र में डाडाइज्म, सुररियालिज्म जैसे नए-नए आन्दोलनों को इसी से प्रेरणा मिली है। अंग्रेजी साहित्य में डी.एच.लारेस और जेम्स डॉइस इस साहित्यिक प्रणाली के प्रमुख लेखक माने जाते हैं।

19.3.3 मनोविश्लेषणवादी आलोचना

इस आलोचना पद्धति में कृति के आधार पर रचनाकार का मनोविज्ञान बताया जाता है। फ्रायड, एडलर और युंग द्वारा प्रतिपादित मूल प्रवृत्तियों के आधार पर किसी कृति-विशेष का मूल्यांकन और विश्लेषण मनोविश्लेषणवादी आलोचना है। मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति की यह मान्यता है कि रचनाकार के जीवन के अनेक तथ्यों अर्थात् आशा, निराशा, संघर्ष, तनाव आदि का प्रतिफलन उनकी रचनाओं में होता है, अतः आलोचक रचनाकार के मानसिक स्तरों का अध्ययन-विश्लेषण करता है। प्रभावात्मक आलोचना में जिस प्रकार आलोचक के मन में पड़े प्रभावों का विवेचन होता है उसी प्रकार इस आलोचना पद्धति में कृतिकार के मन की व्याख्या की जाती है। उसकी मानसिक भावनाओं को पकड़ने का प्रयास किया जाता है। इसमें रचनाकार के व्यक्तित्व और परिवेश पर ध्यान केन्द्रित करते हुए इस बात पर विचार किया जाता है कि कृति की रचना किन मनः स्थितियों एवं परिवेशों में हुई है। लेकिन यह रचना के संबंध में प्रायः मौन रहती है। इस प्रकार मनोविश्लेषणवादी आलोचना रचनाकार की मनःस्थितियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है।

आधुनिक काल में अनेक काव्य-रचनाएँ, उपन्यास और कहानियाँ मनोविज्ञान की भूमिका पर लिखी जा रही हैं और इनका मूल्यांकन भी इसी आलोचना-पद्धति के आधार पर किया जा रहा है। प्रसाद की "आत्मकथा" निराला की "सरोज स्मृति", मुक्तिबोध की "अंधेरे में" के आधार पर कवियों की मानसिक स्थितियों का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। जैनेन्द्र और अज्ञेय के उपन्यासों का विवेचन एवं मूल्यांकन मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर किया गया है। जैनेन्द्र के कल्याणी, सुखदा आदि उपन्यासों में अंतर्विरोधों को देखकर उनमें मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की खोज की गई है। अज्ञेय के "शेखर एक जीवनी" उपन्यास में बाल मनोविज्ञान तथा अचेतन मन को समझने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त इस आलोचना पद्धति में पात्रों की स्थितियों तथा कार्यों के जटिल संबंधों को उद्घाटित किया जाता है। इलाचंद्र जोशी के "सन्यासी", "पर्दे की रानी" तथा "प्रेत और छाया" उपन्यासों के मुख्यपात्र किसी न किसी मनोवैज्ञानिक ग्रंथ के शिकार मिलते हैं। जब तक उनकी ग्रंथ का उद्घाटन नहीं होता वे असामाजिक कर््यों में लगे रहते हैं। इनका समन हो जाने पर वे सामान्य स्थिति में आ जाते हैं। इस प्रकार मनोविश्लेषणवादी आलोचना साहित्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष को उद्घाटित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

प्रश्न उठता है कि मनोविश्लेषणवादी आलोचना साहित्य की समीक्षा करने में कितनी सहायक हो सकती है। मनोविज्ञान के मानदंड पर पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ बताने से क्या आलोचना का कार्य पूरा हो जाता है? क्या यह बताने पर कि जैनेन्द्र पर गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का प्रभाव है या अज्ञेय में मनोवैज्ञानिक नियति और बाल मनोविज्ञान के तत्व मिल जाते हैं, साहित्यिक आलोचना हो जाएगी? यह सही है कि यह आलोचना पद्धति साहित्यकार की मनोवृत्तियों के स्वस्थ एवं अस्वस्थ पक्षों के उद्घाटन में उपयोगी सिद्ध हो सकती है किंतु यह भी कहना गलत नहीं है कि यह साहित्य की महत्ता का समुचित मूल्यांकन करने में पूर्णतया सक्षम नहीं है। इन्हीं मनोविज्ञान संबंधी जानकारी तो अवश्य मिल जाएगी किन्तु कलात्मक सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं हो पाएगा। कलात्मकता के परिप्रेक्ष्य में यह अध्ययन अधूरा रहेगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि साहित्य मनोविज्ञान के सिद्धांतों के आधार पर कभी नहीं रचा जाता। वह तो मानवीय अनुभूतियों को मूलधार के रूप में ग्रहण करता है और कला के संदर्भ में उसे सर्जनात्मक एवं सौन्दर्यात्मक रूप प्रदान करता है। इसलिए यह स्वीकार करना उचित नहीं होगा कि साहित्यकार एक मात्र अतृप्त कामवृत्ति या अहस्थापन की भावना या जिजीविषा से आक्रांत होकर साहित्य-रचना करता है। ये सभी अतिवादी दृष्टिकोण हैं और अपने-आपमें अपूर्ण हैं। इसका अभिप्राय तो यह हो जाएगा कि कालिदास, भवभूति, तुलसीदास, सूरदास, प्रसाद, निराला, पंत आदि महान् कवि इन तीनों प्रवृत्तियों में से किसी न किसी प्रवृत्ति से अतृप्त रहे हैं और उनके काव्यों में अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। वास्तव में इस प्रकार का निर्धारण करना कठिन तो है ही, उचित भी नहीं है। यह हो सकता है कि इन तीनों का सम्मिलित रूप कवि की मानसिक प्रेरणा के रूप में मिल जाए। इनका आंशिक रूप भी मिल सकता है। यह भी हो सकता है कि कवि की मानसिक स्थिति में इन तीनों से भिन्न साहित्यिक प्रेरणा भी मिल जाए। किन्तु इनका एक मात्र रूप मिल जाए, कहना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। वस्तुतः साहित्य में सृजन की प्रेरणाएँ अपना अलग रूप धारणकर अभिव्यक्त होती हैं। स्वच्छंद अभिव्यक्ति की मूलभूत कामना से कला का सृजन होता है और फ्रायड, एडलर एवं युंग की मनोवृत्तियाँ इनमें सहायता कर सकती हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मनोविश्लेषण सिद्धांत को आलोचनात्मक कसौटी के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि किसी भी कृति में केवल मनोवैज्ञानिक सूत्रों एवं तत्वों का चयन नहीं होता। हाँ, इसे आंशिक रूप में या सहायक के रूप में अवश्य ग्रहण किया जा सकता है।

14.3.4 हिन्दी की मनोविश्लेषणवादी आलोचना

हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी आलोचना छायावादोत्तर काल की देन है। इसका पदार्पण सन् 1940 के आसपास माना जाता है। वास्तव में छायावाद के बाद मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण सिद्धांत का हिन्दी साहित्य पर काफी प्रभाव पड़ा। किन्तु मार्क्सवाद हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद के नाम से एक स्पष्टवाद के रूप में जिस प्रकार स्थापित हुआ और इसकी मान्यताओं ने हिन्दी में जिस प्रकार अपना स्थान बना लिया है उसी प्रकार मनोविश्लेषणवाद हिन्दी में साहित्यिकवाद के रूप में नहीं उभरा और यही कारण है कि इसका प्रारंभ तो हुआ लेकिन विकास नहीं हो पाया। इसके मुख्य प्रवर्तकों में

इलाचन्द्र जोशी और डॉ. देवराज उपाध्याय के नाम आते हैं। इलाचन्द्र जोशी ने साहित्य-सर्जना, विवेचना, विश्लेषण करते हुए जोशी जी ने फ्रायड की कामवृत्ति की अतृप्ति और एडलर के अहंस्थापन की भावना के सिद्धांत का विवेचन किया है। हिन्दी की मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति में फ्रायड और एडलर को प्रतिनिधि आचार्य मानते हुए जोशी जी ने बताया कि समीक्षा में मनोविश्लेषण शास्त्रों के सिद्धांतों का उपयोग उद्देश्य-विहीन और केवल पांडित्य-प्रदर्शन की आकांक्षामात्र नहीं है। ये सिद्धांत काव्य के वास्तविक स्वरूप के निरूपण और उसके स्वस्थ मार्ग का दिग्दर्शन कराने में सहायक होते हैं।

डॉ. देवराज उपाध्याय ने अपने शोध प्रबंध "आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान" में मनोविश्लेषण के आधार पर कथा साहित्य की समीक्षा की। उन्होंने अपने शोध प्रबंध के प्रारंभ में "मनोविज्ञान क्या है" का विवेचन करते हुए उसके विभिन्न संप्रदायों को समझाने का प्रयास किया है। बाद में इन सिद्धांतों, भाव-ग्रंथियों आदि के आधार पर हिन्दी की कहानियों और उपन्यासों का अध्ययन किया है। इसी संदर्भ में पाश्चात्य आलोचना में उपन्यासों के जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुए हैं उनकी चर्चा करते हुए डॉ. उपाध्याय ने जोन्स द्वारा किए गए "हेगलेट" (शेक्सपीयर का) के मनोवैज्ञानिक विवेचन को महत्वपूर्ण एवं सार्थक बताया है, हालांकि पाश्चात्य आलोचकों ने इसे साहित्यिक आलोचना के रूप में स्वीकार नहीं किया है। उपाध्याय जी ने फ्रायड द्वारा प्रतिपादित अचेतन मन को उपन्यासों में आँकने का प्रयास किया है किंतु इस अचेतन मन का मुख्य संबंध चेतना-प्रवाह के उपन्यासों से है लेकिन इस प्रकार के उपन्यास अभी तक हिन्दी में नहीं लिखे गए। डॉ. उपाध्याय ने पात्रों के कार्य व्यापारों में उनकी जटिल मनःस्थितियों को दूढ़ने का प्रयास मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की कसौटी पर किया है, किन्तु इन चरित्रों का इस प्रकार का अध्ययन अपने-आप में सार्थक दिखाई नहीं देता। कथा साहित्य के पात्रों का अध्ययन यथार्थ जीवन के आधार पर करना सही प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार उपाध्याय के ग्रंथ में मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के उदाहरण तो पर्याप्त मात्रा में मिल जाएंगे किन्तु साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से वे अधिक सार्थक सिद्ध नहीं होते। वास्तव में प्रेमचंद के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक, अर्थात्तन्वास, जैनेन्द्र के उपन्यासों में गेस्टाल्ट के सूत्र या अश्रेय के साहित्य में बाल मनोविज्ञान या मनोवैज्ञानिक नियतिवाद के तत्व दूढ़ने से हिन्दी की साहित्यिक आलोचना को कोई विशेष लाभ नहीं मिला है।

हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी आलोचकों ने काव्य की आधुनिक विधाओं का विवेचन करते हुए कला वैयक्तिकता और जीवन शक्ति से सक्षम सिद्धांतों को अपने आलोचना क्षेत्र में समाहित किया है। इनके मतानुसार कला की श्रेष्ठता जीवन शक्ति प्रदान करने की क्षमता में है। इस दृष्टि से यह सिद्धांत शुक्ल जी जैसे मूल्यवादी आलोचकों के सिद्धांत से अधिक भिन्न नहीं है। इसमें अंतर इतना है कि इसमें नैतिकता और लोक मंगल की भावना के स्थान पर सौन्दर्य और लोक मंगल के सामंजस्य पर अधिक बल दिया। यही कारण है कि इन आलोचकों ने छायावादी और प्रगतिवादी काव्यधारा का खंडन अधिक किया है। एक ओर यदि इन्होंने छायावाद के कलात्मक सौष्ठव की सराहना की है तो दूसरी ओर इन्होंने इसकी विलासिताजन्य पलायनवादी प्रवृत्ति का घोर विरोध भी किया है। इस आलोचना-पद्धति के मतानुसार प्रगतिवाद में नग्न चित्रण के आवरण में इसकी तृप्ति तो मिलती है किन्तु साहित्य को आर्थिक समस्याओं से बौधकर रखना भी इसके स्वच्छंद विकास में बाधा उत्पन्न करना है। इसी धारणा की पुष्टि इलाचन्द्र जोशी के "छायावादी और प्रगतिवादी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण" नामक निबंध में हो जाती है।

मनोविश्लेषणवादी आलोचक साहित्य को मुख्यतः व्यष्टिचित्त का कार्य मानते हैं। चूंकि मार्क्सवादी समष्टि चित्त को काव्य का कारण मानते हैं इसलिए ये आलोचक उनसे सहमत नहीं हैं। वास्तव में मनोविश्लेषणवाद ने साहित्य को व्यक्तिनिष्ठ यथार्थवादी चेतना प्रदान की है। इसमें नैतिकता संबंधी रूढ़ एवं संकुचित धारणाओं को स्थान नहीं दिया गया। इस संप्रदाय ने कवि-व्यक्तित्व के स्वस्थ या अस्वस्थ दिशा के विकास, काव्यवस्तु के चयन, प्रतीक-विधान आदि को समझने के लिए नई चिंतन-पद्धति स्थापित की है। किंतु इससे साहित्य-दर्शन और आलोचना को एक स्थायी एवं सर्वांगीण पद्धति नहीं मिल पाई। यह एक शैलीमात्र रह गई है। हालांकि अन्य पद्धतियों ने इस आलोचना-पद्धति के कई तत्व आत्मसात् कर लिए हैं।

14.3.5 मनोविश्लेषणवादी आलोचक

हिन्दी मनोवैज्ञानिक पक्षों का उपयोग प्रायः सभी आलोचकों ने किया है किन्तु मनोविश्लेषणवादी आलोचना हिन्दी में बहुत कम हुई है। इस समय हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी आलोचना के मुख्य विद्वान श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री अज्ञेय और डॉ. नगेन्द्र हैं। इनका विवरण इस प्रकार है:

इलाचन्द्र जोशी:

श्री इलाचन्द्र जोशी हिन्दी के पहले मनोविश्लेषणवादी साहित्यकार हैं जिन्होंने मनोविश्लेषणवाद के आलोक में सृजन और मूल्यांकन दोनों में अपनी लेखनी उठाई। जोशी जी फ्रायड और डरलर दोनों के सिद्धांतों से प्रभावित हैं किन्तु उन्होंने फ्रायड के सिद्धांतों का अधिक उपयोग किया है। फ्रायड के मनोविश्लेषण का मूलधार काम-भावना है। उसी को ध्यान में रखकर जोशी जी ने "सन्यासी" (1941), "पर्दे की रानी" (1941) तथा "प्रेत और छाया" (1946) उपन्यासों की रचना की है। ये उपन्यास विभिन्न भाव-ग्रथियों के विश्लेषण पर आधारित हैं। इनके मुख्य पात्र किसी न किसी भाव-ग्रथि के शिकार हैं। "सन्यासी" उपन्यास में आत्महीनता की भावना मिलती है तो "प्रेम और छाया" में "ईडिपस कुंठा" की और "पर्दे की रानी" के पात्र भी मानसिक कुंठाओं से ग्रस्त मिलते हैं। इन पात्रों पर मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत इतने हावी हैं कि इनका स्वतंत्र विकास नहीं होता और यही कारण है कि इन उपन्यासों में सहज प्रवाह नहीं मिलता। जोशी जी के कुछ उपन्यासों में भावग्रथि से शमन होने के बाद सामाजिक कार्य की ओर मुड़ने के संकेत मिलते हैं। "जहाज का पंछी" (1955) का नायक भावग्रथि से बाहर निकलकर समाज की बदबूदार गलियों का चक्कर लगाता है और निस्सहाय एवं दीनों की सहायता करता है। किन्तु उसका कार्य परिस्थितिजन्य कम है बौद्धिक अधिक। वह अपनी बनाई हुई योजना के कारण भटकता रहता है। अतः व्यक्ति और समाज का जो संबंध मिलता है, स्वाभाविक कम। जोशी जी की कहानियों में भी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। "खंडहर की आत्माएँ", "डायरी के नीरस पृष्ठ", "आहुति" आदि कहानी संग्रह इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार जोशी जी के कथा-साहित्य में कहीं-न-कहीं मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्ति दिखाई दे जाती है।

मनोविश्लेषणवादी आलोचक के रूप में जोशी ने साहित्य में मनोविश्लेषण सिद्धांत की उपादेयता का विवेचन किया है। उनके ग्रंथ "साहित्य सर्जना" (1940), विवेचना (1948), साहित्य संतरण (1955), विश्लेषण (1954), साहित्य चिंतन (1955) आदि ग्रंथों में उनका मनोविश्लेषणवादी आलोचना सिद्धांत स्पष्ट हो उठा है। इन ग्रंथों से पता चलता है कि जिस प्रकार स्वप्न में मानव की वासनाएँ अपना रूप बदलकर आती हैं और अपने-आपको कुछ प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्ति करती हैं। उसी प्रकार साहित्य या कला में भी साहित्यकार या कलाकारी की मानसिक स्थिति की अभिव्यक्ति प्रतीकों के सहारे होती है।

जोशी जी ने हीन भावना की क्षति-पूर्ति का सिद्धांत भी कला से जोड़ा है। इनके मतानुसार मनोविश्लेषणवादी आलोचक को यह भी देखना होता है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व में स्वस्थ साहित्य-सृजन की कितनी क्षमता है और कैसे है। शमित इच्छाओं का अध्ययन और हीन-भावना की क्षति पूर्ति का प्रयास यदि स्वस्थ दिशा की ओर अग्रसर होता है तो कलाकार एक महान् कृति की सर्जना कर सकता है, अन्यथा वह साहित्य चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो, उसमें जीवन-शक्ति का अभाव अवश्य रहता है। जोशी जी का मत है कि स्वस्थ जीवन-शक्ति से प्रभावित जो भी काव्य लिखा जाता है वह चिरंतन और युग-युगांतर रहता है। इसलिए काव्य का मूल उद्देश्य जीवन शक्ति प्रदान करना है और यही काव्य की नैतिकता है।

जोशी जी सौन्दर्यान्वेषी हैं। वे काव्य का चरम लक्ष्य सौन्दर्य ही मानते हैं, इनके मतानुसार काव्य का लक्ष्य प्रयोजनातीत आनंद है। यह सौन्दर्य सृष्टि द्वारा ही संभव है। स्थूल नैतिकता से इसका संबंध नहीं है। इसीलिए वे अपने सौन्दर्य-भाव में मंगल भाव भी समाहित करते हैं। वे उसी साहित्य को चिरंतन एवं स्थायी मानते हैं जिसमें ये दोनों भाव अंतर्निहित हैं। हलांकि साहित्य में चिरंतन और मंगलमय सौन्दर्य की सृष्टि प्रत्येक कलाकार नहीं कर सका। इसी आधार पर जोशी ने "कामायनी" को इस मंगलमय भावना से ओत-प्रोत माना है और उसी को साहित्य की श्रेष्ठता का मानदंड स्वीकार किया है।

छायावादी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए जोशी जी ने फ्रायड की कामवृत्ति की अतृप्त भावना और एडलर की अहं स्थापन का वर्णन किया है। कला का दमित वासनाओं से संबंध जोड़ते हुए जोशी जी कहते हैं कि "वहाँ" वे ऐसी दबी पड़ी रहती हैं कि फिर आसानी से उपर को उठ नहीं पातीं। पर बीच-बीच में जब वे शेषनाग के फनों की तरह आन्दोलित हो उठती हैं, तब हमारे सचेत मन को भूकंप के प्रचंड प्रवेग से हिला देती हैं। ऐसे ही अवसरों पर कलाकार का हृदय अपने भीतर किसी "अज्ञात शक्ति" की प्रेरणा का अनुभव करके कलात्मक रचना के लिए विकल हो उठता है। कवि अथवा कलाकार की कृतियाँ उसके अतस्तल में दबी हुई भावनाओं की ही प्रतीक होती हैं। आगे चलकर छायावाद और प्रगतिवाद पर प्रहार करते हुए जोशी जी ने छायावादी कवियों में स्वर्गिक कल्पनाओं का कारण आत्म ग्लानि माना है जो जीवन-संघर्ष से पलायन होने के कारण है। इन कवियों में विश्व कल्याण की भावना का अभाव है। वे अपने विकृत मनोभावों की तृप्ति की आकांक्षा के भीतर उनकी पुरुष हीनता की झलक मिलती है। जोशी जी ने प्रगतिवादी काव्य में भी जीवन की स्वस्थ शक्ति का अभाव माना है। उनके मतानुसार हिन्दी का प्रगतिवाद कुछ कुंठाओं का परिणाम है। यह मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर नहीं लिखा गया वरन् अपनी व्यक्तिगत महत्वकांक्षा और यथार्थ के नाम पर वासना-तृप्ति का प्रयास मात्र है। जोशी जी का मत है कि छायावादी कवियों के महत्वस्थापन का दूसरा प्रकार ही प्रगतिवाद है। यहाँ यह उल्लेख करना है कि जोशी जी ने प्रगतिवाद के सिद्धांतों का विरोध नहीं किया बल्कि व्यावहारिक क्षेत्र में उनकी अस्वस्थ दिशा का विरोध किया है। उन्हीं के शब्दों में "छायावाद की छायामयी शक्ति का प्रभाव धीरे-धीरे नष्ट होते देखकर उन्होंने जनता पर धोस जमाने का यह दूसरा तरीका अख्तियार किया है। मानव के नाम पर उन्होंने अपनी इतने दिनों से दबी हुई सहज प्रवृत्तियों को नग्न रूप देने की उन्मुक्त सुविधा पाई है। स्त्री-पुरुष के द्वंद्व-मूलक संबंध में सुधार का बहाना पकड़कर वे निर्द्वन्द्व हो उठे हैं। उन्होंने अपने विचार प्रकट करते हुए आगे कि प्रगतिवादी कवियों का समाज के सामूहिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर नहीं है बल्कि अपनी व्यक्तिगत महत्वकांक्षा की चरित्रार्थता में बाधा पहुँचाने के कारण है और समाज के विरुद्ध उसी पुरानी प्रतिहिंसा की मनोवृत्ति के विस्फोट के कारण यह व्यक्त हुआ है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि मार्क्सवाद बाह्य वास्तविकता अर्थात् मनुष्य के आर्थिक योग क्षेत्र तक सीमित है। मार्क्सवाद मानवीय वृत्तियों का विश्लेषण सामूहिक दृष्टि से करता है और व्यक्ति के अहं तथा उसकी अलग अलग समस्याओं पर ध्यान नहीं देता। इधर मनोविश्लेषणवाद व्यक्ति मन की दमित वासनाओं और उनसे उत्पन्न होने वाली मानसिक जटिलताओं को भी यथार्थ मानता है। जोशी जी इनके समन्वित रूप में ही सत्य के दर्शन करते हैं। इनके मतानुसार मार्क्स और फ्रायड दोनों एक ही सतर के दो छोरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक और मार्क्स ने बाह्य जगत की कालानुक्रमिक प्रगतिशीलता के बारे में बताया है और सामूहिक जीवन की वास्तविकता की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। दूसरी ओर, फ्रायड ने मानव मन के भीतर उपाय की ओर हमारा मार्गदर्शन किया है। इसलिये एक महान सत्य की खोज के लिए इन दोनों पक्षों को सामंजस्य की आवश्यकता है। इसी कारण जोशी जी मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की स्थापना पर बल देते हैं। जिसका कारण बाह्य पक्ष मार्क्सवादी विचारधारा से संबंध है और आंतरिक पक्ष मनोविश्लेषणवादी विचारधारा से।

मनोविश्लेषणवादी आलोचक साहित्य के सौन्दर्य एवं श्रेष्ठता की कसौटी मानव कल्याण तथा उसके सांस्कृतिक विकास में मानते हैं। जोशी जी का भी मत है कि मनुष्य की अज्ञात चेतना की मनोवृत्तियाँ ही उसके जीवन को परिचालित करती हैं। सभ्यता के विकास के साथ साथ मनुष्य की पाशविक वृत्तियाँ अपना स्वरूप बदलती रहती हैं। वास्तव में इन पाशविक वृत्तियों को अज्ञान चेतना से बाहर निकाल देना ही मानव-कल्याण है। इनका विध्वंसक विस्फोटन न होकर स्वस्थ प्रस्फुटन ही कल्याणकारी है। जोशी जी का मत है कि व्यक्तिगत जीवन की समस्याएँ को विश्व की सभी वस्तुओं के मूल में हैं। चूंकि व्यक्ति की समूची प्रगति अज्ञात चेतना द्वारा प्रेरित होती है। इसलिये व्यक्ति का स्वस्थ विकास ही इन समस्याओं का वास्तविक समाधान है। इस दृष्टि से लिखा गया साहित्य भी श्रेष्ठ एवं सुंदर होगा। और वह मानव के स्वस्थ विकास में सहायक सिद्ध होगा। इसी आधार पर जोशी जी कहते हैं कि मनोविश्लेषण सिद्धांत पर आधारित साहित्य-दर्शन बड़ा उपयोगी होगा। क्योंकि यह साहित्य में अस्वस्थ वृत्तियों का अवरोध करेगा, बाह्य और आंतरिक वृत्तियों का सामंजस्य तथा उदात्तीकरण कर उसे मानव के स्वाभाविक विकास और उसके कल्याण के लिए सहायता करेगा।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' :

अज्ञेय जी को भी सृजन और मूल्यांकन के क्षेत्र में मनोविश्लेषणवादी सिद्धांतों से प्रेरणा मिलती है। अज्ञेय जी फ्रायड और एडलर के सिद्धांतों से प्रभावित तो हैं किन्तु उन्होंने एडलर के सिद्धांतों का प्रतिपादन अधिक किया है। उनके उपन्यास 'शेखर' एक जीवनी (1941) में नायक शेखर स्वतंत्रता की खोज में अनेक प्रकार के आंतरिक संघर्षों से जुड़ता है। वह भीतरी तनाओं से गुजरता है किन्तु फिर भी अपने आप को बहिर्मुखी नहीं बना पाता। इसी कारण उसका समूचा संघर्ष क्रियात्मक नहीं हो पाता। 'शेखर' एक जीवनी के दूसरे खंड में पहले खंड का विद्रोह सृजन की भूमिका के रूप में दिखाई देता है क्योंकि इसमें इसका बिखरा व्यक्तित्व संगठित होकर रचनात्मक कार्य करता है। वास्तव में शेखर विद्रोही है और समाज द्वारा बनाए गए प्रतिमान उसे सहनीय नहीं है। शेखर अपनी अनुभूतियों को निश्चल अभिव्यक्ति देता है। शेखर और शशि के संबंध में नैतिकता अधिक मिलती है (वास्तविकता कम) वस्तुतः काल के आयाम में यह उपन्यास प्रयोग धर्मी है। अज्ञेय जी के दूसरा उपन्यास "नदी के द्वीप" (1951) को सामान्यतः शेखर की संवेदना का विकास ही कहा जा सकता है। शेखर और भुवन तथा शशि और रेखा में एक प्रकार की समानता मिलती है। किन्तु शेखर की तुलना में भुवन की तेजस्विता कृत्रिम, आरोपित और अविश्वसनीय अधिक है। वह अपना अहं स्थापन सही रूप से नहीं कर पाता, इसीलिए वह आत्मकेन्द्रित और दंभी बन जाता है। अज्ञेय जी के तीसरे उपन्यास "अपने अपने अजनबी" में एक प्रकार की धार्मिक दृष्टि-संपन्नता मिलती है। पहले दोनों उपन्यासों में यौन-संकल्पना के साथ-साथ मसीहाई दृष्टिकोण भी मिलता है जिसका स्पष्ट रूप इस उपन्यास में आया है। इसमें मूल समस्या स्वतंत्रता की है जो सत्रास, अकेलेपन, अजनबीपन आदि से युक्त है। इसमें अज्ञेय जी ने स्वतंत्रता को अहंकार से जोड़कर अस्तित्ववादी स्वतंत्रता के मूल अर्थ को बदल दिया है। अज्ञेय जी की कहानियों में भी व्यक्ति के आत्मसंघर्ष तथा व्यक्ति और परिवेश के संघर्ष का चित्रण मिलता है।

अज्ञेय जी के "विपथगा", "परंपरा", "जय दोल", "अमरवल्लरी" आदि कहानी-संग्रहों में व्यक्ति के अपने नैतिक संघर्ष और दायित्व को उनकी मुख्य समस्या के रूप में दिखाया गया है। अज्ञेय जी मुख्यतया सजनशील लेखक हैं किन्तु उन्होंने आलोचना बहुत कम लिखी है। उनके एक निबंध संग्रह "त्रिशकु" में एडलर के "अहंस्थापन" और क्षति पूर्ति सिद्धांत का स्पष्ट विवेचन मिलता है। अज्ञेय जी के मतानुसार व्यक्ति में जब अपनी "व्यक्ति सत्ता" की अनुभूति जागृत होती है। तब वह अपने आप को समाज का अंग अनुभव करने लगता है। जब उसकी महत्वपूर्ण कृतियाँ समाज की मान्यताओं के अनुकूल स्वीकार कर ली जाती हैं तब वह अपने आप को समाज का महत्वपूर्ण अंग मान लेता है। यदि उसके व्यक्तित्व और कृतित्व को समाज की स्वीकृति नहीं मिलती तो उसमें विद्रोह की भावना पैदा होती है। यदि वह प्रतिभावान होता है तो वह रुढ़िग्रस्त और हासोनुखी स्थितियों में हलचल पैदा कर देता है। यदि नहीं कर पाता तो उस में अतृप्त की भावना रह जाती है। कभी कभी वह अपनी इच्छाओं और रुचियों को समाज के अनुकूल बदल कर अतीत की स्वीकृति के खोज में वह अपने आप को समाज के अनुकूल ढालता है और इस प्रकार अपना बहुत कुछ समाज को देकर अपना मूल्य चुकाता है। किन्तु जब उसका मर्म आहत होने लगता है तब वह विद्रोह या चीत्कार कर उठता है। वास्तव में मनुष्य के व्यक्तित्व की एक मौलिकता होती है जो परिस्थितियों के अनुसार नहीं बदल सकती। मौलिकता का यही अंश स्वीकृति चाहता है। इस अंश में "व्यक्ति के" "अहं स्थापन" की भावना या प्रभुत्व कामना निहित रहती है। इस अंश की अस्वीकृति उसमें हीनता का भाव पैदा करती है। अज्ञेय जी इसकी क्षतिपूर्ति कला द्वारा मानते हैं। वास्तव में काव्य या कला से इसका उदात्तीकरण और क्षतिपूर्ति होती है। अज्ञेय जी ने आदिम और नवीन युगों से उदाहरण प्रस्तुत कर इस मनोवैज्ञानिक सत्य को कला की शाश्वत प्रेरणा स्वीकार किया है। इस के अतिरिक्त उन्होंने फ्रायड और एडलर के सिद्धांतों को विरोधी संप्रदाय न मानकर एक दूसरे का पूरक माना है। इसीलिए उन्होंने काव्य के क्षेत्र में इन दोनों के समन्वित रूप पर बल दिया है।

"कला का उद्देश्य क्या है" विषय पर अज्ञेय जी कहते हैं कि अपनी सृष्टि के प्रति कलाकार में एक दायित्व भावना रहती है। वह अपनी चेतना के गूढ़तम स्वर में स्वयं अपना आलोचक बन कर जांचता है कि उस ने जो कुछ समाज को दिया क्या उसका कोई मूल्य है? इस प्रकार कला-वस्तु रचना का सतत मूल्यांकन होता रहता है। लेकिन यह मूल्यांकन नैतिक होता है। क्योंकि कला कभी

भी अलौकिक नहीं हो सकती। वास्तव में शुद्ध कला-वस्तु में अनिवार्यतः एक नैतिक उद्देश्य रहता है। और अतः उसका नैतिक मूल्य (Ethical Value) होता है। यहाँ नैतिकता से अभिप्राय श्रेष्ठ नीति (ethic) है न विचारी नैतिकता या आचार मात्र (mortality) से। इस श्रेष्ठ नीति के साथ-साथ कलाकार की "स्वातः सुखाय" की भावना भी निहित रहती है। इस दृष्टि से अज्ञेय जी की संकल्पना अधिक व्यापक भूमि पर आधारित है।

टी.एच.इलियट के विचारों का समर्थन करते हुए अज्ञेय जी ने अतीत और वर्तमान का अपरिहार्य संबंध स्वीकार किया है। इनके विचार में प्रत्येक नई रचना के आते ही पूर्ववर्ती परंपरा के साथ उसके संबंध, उनके परस्पर अनुपात और सापेक्ष मूल्य अथवा महत्व का फिर से अंकन हो जाता है तथा "पुरातन" और "नूतन" रुढ़ और मौलिक परंपरा और प्रतिभा में एक तारतम्य स्थापित हो जाता है। आधुनिक साहित्यकार की यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह चाहे या न चाहे उसे अतीत द्वारा अथवा रुढ़ि द्वारा उतना ही नियमित होना पड़ता है जितना वह स्वयं उसे परिवर्तित अथवा परिवर्द्धित करता है। इलियट के मत का पुनः समर्थन करते हुए अज्ञेय जी ने कविता को भावों का उन्मोचन नहीं, भावों से मुक्ति माना है। उनके मतानुसार कविता व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं, व्यक्तित्व से मोक्ष है। इसलिए कवि का स्रष्टामन जितनी ही तटस्थता से विभिन्न अनुभूतियों पर प्रभाव डालकर उनके मिश्रण और संगति का माध्यम बनता है, कला उतनी ही उच्च कोटि की होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अज्ञेय जी मनोविश्लेषणवादी आलोचना के उन कवि-चिन्तकों में हैं जिनके पास गहन संवेदनाशीलता है, सूक्ष्म दृष्टि है, विस्तृत सौन्दर्य बोध है और प्राचीन प्रश्नों की मौलिक व्याख्या करने की शक्ति है। उन्होंने साहित्य का अध्ययन सामाजिक परिस्थितियों में रखकर किया है किन्तु उनकी दृष्टि परंपरागत दृष्टि से काफी भिन्न है। अज्ञेय जी साहित्य को आलोचना का विषय मानते हैं किन्तु उसके सम्यक् अध्ययन के लिए साहित्यकार के व्यक्तित्व का अध्ययन भी अनिवार्य है। वास्तव में कलाकार या साहित्यकार के आवचेतन मनकी चेतनाओं का अध्ययन करने से आलोचना अपना सार्थक रूप ग्रहण कर लेगी।

डॉ. नगेन्द्र :

डॉ. नगेन्द्र मूलतः रसवादी आलोचक है किन्तु उन्होंने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से आलोचना का संवर्धन किया है। एक ओर वे मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित होकर साहित्य या कला के निर्माण के पीछे आत्मभिव्यक्ति की प्रेरणा को मानते हैं और दूसरी ओर वे उपयोगितावाद को भी महत्व देते हैं। तीसरी ओर, उन्होंने समस्त आचार्यों के विचारों को ग्रहणकर उनके आधार पर शास्त्रीय ढंग की विवेचना की है तो चौथी ओर छायावाद के काव्य-लालित्य और स्वच्छंद कृति से प्रभावित होकर प्रभाववादी समीक्षा को अपनी आलोचना में स्थान दिया है। इन्होंने अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की स्थापना "विचार और अनुभूति" (1944) और "आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ" (1951) ग्रंथों में की है और व्यावहारिक आलोचना के विभिन्न पक्ष उनकी "सुमित्रानंदन पंत" (1938), "साकेत एक अध्ययन" (1939), "देव और उनकी कविता" (1949) आदि ग्रंथों में दिखाई देते हैं। वस्तुतः डॉ. नगेन्द्र ने साहित्य की प्रेरणा के बारे में जो अपने सिद्धांत प्रस्तुत किए हैं उनपर फ्रायड का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। डॉ. नगेन्द्र के मतानुसार आत्मभिव्यक्ति की प्रेरणा व्यक्ति के भीतर होने वाले आत्म एवं अनात्म के संघर्ष से ही उद्भूत होती है। आत्म के निर्माण में जो प्रवृत्तियाँ काम करती हैं उनमें कामवृत्ति का प्राधान्य रहता है। इसलिए मनुष्य के व्यक्तित्व में होने वाले आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय होता है। चूँकि साहित्य रसात्मक होता है, इसलिए उसकी प्रेरणा में कामवृत्ति का प्राधान्य दिखाई देना स्वाभाविक है। उनके शब्दों में "मैं कविता या कला के पीछे आत्मभिव्यक्ति को प्रेरणा मानता हूँ और चूँकि आत्म निर्माण का और उसकी अतृप्तियों का योग है, इसलिए इस प्रेरणा में उनका विशेष महत्व मानना भी अनिवार्य समझता हूँ"। नगेन्द्र जी के ये विचार फ्रायड से प्रभावित हैं।

डॉ. नगेन्द्र साहित्य को मूलतः वैयक्तिक मानते हैं। इस के साथ ही उन्होंने वैयक्तिक चेतना और सामाजिक चेतना दोनों को अन्योन्याश्रित स्वीकार किया है किन्तु तुलनात्मक अध्ययन के समय उन्होंने व्यक्ति और उसकी अनुभूति को ऊँचा दर्जा दिया है। "कविता की महत्ता की कसौटी क्या है इस

संबंध में नगेन्द्र जी का मत है कि कलाकृति की आनंद देतकी शक्ति ही उसकी महत्ता की विधायक है। इसकी महत्ता की मात्रा का निर्णय डॉ. नगेन्द्र कला-विशेषज्ञों पर छोड़ते हैं। इस निर्णय को देने के लिए पहले यह देखा जाता है कि किसी कृति का रचयिता उस कृति में अपने व्यक्तित्व को कहीं तक अनूदित कर सका है और फिर यह देखा जाता है कि उसका आत्म कितना प्राणवान है? इसीलिए डॉ. नगेन्द्र ने साहित्यकार के आत्म और उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति को मूल्यांकन की कसौटी के रूप में स्वीकार किया है। आत्माभिव्यक्ति से लेखक और पाठक दोनों के लिए रस की सृष्टि होती है। इस प्रकार विभिन्न सिद्धांतों का आधार लेने के कारण डॉ. नगेन्द्र के विचार अधिक स्पष्ट और सुझे हुए हैं। उन्होंने शास्त्रीय, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में पुराने विषयों को नई दृष्टि से आंका है। इसलिए उनकी आलोचना में अन्य व्यक्तिवादी मनोविश्लेषणवादी आलोचकों की अपेक्षा अधिक गहराई आ पाई है।

14.4 सारांश

आलोचना के क्षेत्र में काव्य को वस्तुगत सत्ता के रूप में देखने का प्रयत्न किया गया। मानवतावादी विचारधारा के अंतर्गत या तो सांस्कृतिक दृष्टि से काव्य पर विचार किया गया या सामाजिक संबंधों के आधार पर मार्क्सवादी दृष्टि से साहित्य का विवेचन किया गया। किंतु इस दृष्टि से कम विचार किया गया कि काव्य का वर्ण्य-विषय का स्वरूप क्या है और काव्य-सृजन करते समय कवि की मानसिक स्थिति क्या होती है? पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र में कवि की मानसिक शक्तियों तथा रचना की मानसिक प्रक्रिया पर ध्यान दिया गया। मनोविज्ञान के विकास के साथ-साथ इस दृष्टि में भी विकास होता गया। मनोवैज्ञानिक अध्ययन ने मन के निग्रह, नैतिकता, बुद्धि-विवेक आदि पर प्रहार किया। बुद्धि का अधिपत्य समाप्त कर अवचेतन मन में पड़ी हुई मनोप्रथियों के विश्लेषण पर बल दिया। इस सिद्धांत के प्रमुख आचार्य फ्रायड, एडलर और युंग हैं। फ्रायड का कथन है कि सामाजिक वर्णनाओं के कारण मानव की इच्छाएँ, विशेषकर काम संबंधी इच्छाएँ सपुप्तावस्था में स्पन्नों या कलाओं के माध्यम से व्यक्त होती हैं। इस सिद्धांत के आधार पर कलाकार को मूलतः मनस्तापी माना जाता है वह कला के माध्यम से अपनी इस मानसिक रुग्णता से मुक्त होता है। साहित्य-निर्माण की प्रेरणा मनुष्य को चेतन मन से नहीं होती बल्कि अवचेतन मन से होती है। इस प्रकार फ्रायड, एडलर और युंग के सिद्धांतों का समन्वित रूप साहित्य-सृजन और कला के क्षेत्र में मनोविश्लेषणवादी संप्रदाय के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसमें फ्रायड की दमित वासना की अभिव्यक्ति, एडलर की हीन भावना से मुक्ति और युंग की जिजीविषा को मनुष्य की मूल प्रवृत्ति माना गया और इन तीन मूल प्रवृत्तियों के आधार पर किसी कृति-विशेष का मूल्यांकन और विश्लेषण मनोविश्लेषणवादी आलोचना है। इस आलोचना में रचनाकार की अनेक मनःस्थितियों अर्थात् आशा, निराशा, संघर्ष, तनाव आदि का प्रतिफलन उनकी रचनाओं में होता है, अतः आलोचक रचनाकार के मानसिक स्तरों का अध्ययन करता है। इस आलोचना पद्धति की कई सीमाएँ भी हैं। वास्तव में मनोविश्लेषण का संबंध मानसिक व्यापार की प्रक्रियाओं से है, साहित्य-समालोचना का संबंध कलासृष्टि से है। अतः कलासृष्टि का संबंध मनोविज्ञान से नहीं हो सकता। इसके साथ ही आलोचना के अंतर्गत कलावस्तु, कलात्मक व्यापार, मूल्यांकन और शब्दार्थ विचार मनोविज्ञान के क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आते। हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी आलोचना का प्रारंभ 1940 के आस पास हुआ। इस पद्धति में डॉ. देवरज उपाध्याय, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, डॉ. नगेन्द्र आदि विद्वानों का प्रमुख स्थान है।

14.6 अभ्यास

14.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न

निम्न लिखित प्रश्नों के उत्तर 250 शब्दों में लिखिए।

1. मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. फ्रायड, एडलर और युंग के मतों का प्रतिपादन करते हुए हिन्दी की मनोविश्लेषणवादी आलोचना का परिचय दीजिए।

14.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

निम्न लिखित प्रश्नों के उत्तर 125 शब्दों में दीजिए।

1. मनोविश्लेषणवाद और साहित्य का संबंध स्थापित कीजिए।
2. हिन्दी के मनोविश्लेषणवादी आलोचक के विचारों को स्पष्ट कीजिए।
3. मनोविश्लेषणवादी आलोचना की सीमाएँ बताइए।

14.7 नमूने का उत्तर

14.7.1 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: मनोविश्लेषणवादी आलोचना की सीमाएँ बताइए।

उत्तर: आधुनिक काल में अनेक काव्य-रचनाएँ, उपन्यास और कहानियाँ मनोविज्ञान की भूमिका पर लिखी जा रही हैं। इनका विवेचन भी इसी आलोचना पद्धति के आधार पर किया जा रहा है। प्रश्न उठता है कि मनोविश्लेषणवादी आलोचना साहित्य के अध्ययन में कितनी सहायक सिद्ध हो सकती है। मनोविज्ञान के मानदंड पर पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ बताने से क्या आलोचना का कार्य पूरा हो जाता है। यह सही है कि यह आलोचना पद्धति साहित्यकार की मनोवृत्तियों के स्वरूप एवं अस्वस्थ पक्षों के उद्घाटन में उपयोगी सिद्ध हो सकती है किन्तु यह भी कहना गलत नहीं है कि यह साहित्य के महत्व का समुचित मूल्यांकन करने में सक्षम नहीं है। इससे मनोविज्ञान संबंधी जानकारी तो मिल सकती है किन्तु कलात्मक सौंदर्य का उद्घाटन नहीं हो पाएगा। यह आलोचना पद्धति काव्य-रचना के पीछे कामवृत्ति को एकमात्र प्रेरणा मानती है। वास्तव में आलोचक और मनोविश्लेषक के वर्ण्य विषय में काफी अंतर है। मनोविश्लेषण का संबंध मानसिक व्यापार की प्रक्रियाओं से है जब कि आलोचना का संबंध कलासृष्टि से है। साहित्य में निहित कलावस्तु, कलात्मक व्यापार, मूल्यांकन और शब्दार्थ का अध्ययन मनोविश्लेषणवादी आलोचना के क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आता। इसमें कलात्मक संवेदनशीलता का उद्घाटन नहीं हो पाता। वास्तव में मनोविश्लेषणवादी आलोचकों ने काव्य-सौंदर्य और रसास्वादन की ओर ध्यान नहीं दिया। सीमाओं के कारण यह आलोचना पद्धति अपने-आप में अधूरी रह गई।

14.8 पठनीय पुस्तकें

आलोचक और आलोचना	- डॉ. बच्चन सिंह
आधुनिक समीक्षा	- भगवतस्वरूप मिश्र
साहित्य अध्ययन की दृष्टियाँ	- उदयभानु सिंह और अन्य

15.8 पठनीय पुस्तकें

1. आलोचना और आलोचना	: डॉ. देवीशंकर द्विवेदी
2. हिन्दी आलोचना के आधार स्तंभ	: डॉ. रामेश्वरलाल खंडेलवाल
3. आलोचना और साहित्य	: डॉ. इन्दुनाथ मदान
4. मार्क्सवादी आलोचना	: डॉ. शिवकुमार मिश्र
5. साहित्य: अध्ययन की दृष्टियाँ	: डॉ. उदयभानु सिंह और अन्य (संपादक)
6. मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र	: कमला प्रसाद और अन्य
7. हिन्दी आलोचना का विकास	: नंद किशोर नवल
8. आधुनिक समीक्षा	: भगवतस्वरूप मिश्र

इकाई-15: मार्क्सवादी आलोचना

- 15.0 विषय प्रवेश
- 15.1 पाठ का उद्देश्य
- 15.2 पाठ-परिचय
- 15.3 मूलपाठ
- 15.4 पाठ का सारांश
- 15.5 शब्दार्थ
- 15.6 अभ्यास
 - 15.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 15.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 15.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 15.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 15.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 15.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.1 उद्देश्य

मार्क्सवादी आलोचना एक ऐसे साहित्यिक आन्दोलन के रूप में उभरा जिसमें जीवन और यथार्थ के वस्तु-सत्य को बल मिला। साहित्यिक चेतना को व्यक्तिवादी अनुभूतियों और अंतर्मुखी प्रवृत्तियों के बंद कमरे से निकालकर उसे जन जीवन के बीच प्रवाहित किया। इस आलोचना के अंतर्गत जनवादी शक्तियों को संघटित कर मार्क्सवादी और भौतिक यथार्थवादी मूल्यों के आधार पर साहित्य का अध्ययन और मूल्यांकन किया जाता है। इसलिए मार्क्सवादी आलोचना की मूलभूत अवधारणा को स्पष्ट करते हुए भौतिकता, सामाजिकता, और ऐतिहासिकता का विवेचन करना इस पाठ का उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त इस पाठ में इन के अंतः संबंधों को स्थापित करते हुए साहित्य के परिप्रेक्ष्य में उनका महत्व बताना भी उद्देश्य है।

15.2 पाठ परिचय

1. मार्क्सवाद की अवधारणा
2. भौतिकवाद-द्वैतात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद
3. मार्क्सवाद और साहित्य का परस्पर संबंध
4. हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना
5. हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचक
6. हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों की चर्चा भी इस पाठ में की गई है।

15.3 मूलपाठ

मार्क्सवाद अंग्रेजी के "मार्क्सिज़्म" का हिन्दी रूपांतरण है। चिन्तन की परंपरा में इसका प्रादुर्भाव जर्मनी के क्रांतिकारी विद्वान एवं दार्शनिक कार्ल मार्क्स (1818-1883) के विचारों से हुआ है। मार्क्सवाद जीवन का संपूर्ण दर्शन माना जाता है किंतु इसे केवल दर्शन मानने से मार्क्सवाद की पूरी व्याख्या नहीं हो सकती, इसलिए कुछ विद्वानों ने इसे क्रियात्मक दर्शन की भी संज्ञा दी है। वास्तव में मार्क्सवाद समाजवादी विचारधारा है किन्तु समाजवाद के इतिहास में मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद के रूप में स्वीकार किया गया है। एंगेल्स के मतानुसार वैज्ञानिक समाजवाद वह समाजवाद है जो समाजवादी

व्यवस्था स्थापित करने से पहले उन सभी वैज्ञानिक नियमों को जान लेता है जिनके आधार पर सामाजिक परिवर्तन होता है। इसीलिए सामाजिक गत्यात्मकता नियम-रहित नहीं होती। वस्तुतः वैज्ञानिक समाजवाद स्वप्नों और भावनाओं की कोमल भूमि नहीं है बल्कि सत्य और परिस्थिति का कठोर धरातल है।

15.3.1 द्वैतात्मक भौतिकवाद

मार्क्सवाद का संबंध भौतिकवाद से है। भौतिकवाद का मत यह है कि चेतना भूत से उत्पन्न हुई है। वस्तुतः यह सिद्धांत नया नहीं है। भारत में प्राचीन कालीन चार्वाक भौतिकवादी माना जाता है। मार्क्सवाद की मूल चेतना का आधार द्वैतात्मक भौतिकवाद है। द्वैतात्मक भौतिकवाद सृष्टि का मूल सत्य-पदार्थ है। यह केवल भौतिकवादी दर्शन ही नहीं, बल्कि उसकी प्रणाली भी है जिसके अनुसार सृष्टि और समाज का भौतिकवादी अध्ययन किया जाता है। आदिमकाल से लेकर आज तक समाज का निरंतर विकास होता रहा है। इस विकास के मूल में जो शक्ति काम करती है उसे मार्क्स ने "द्वैतात्मक" कहा है। वास्तव में "द्वैतात्मक" शब्द प्रणाली का द्योतक है। यह उस प्रक्रिया को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार सृष्टि का विकास हो रहा है। "भौतिकवाद" शब्द इस सृष्टि के मूल तत्व की सूचना देता है। इसके अतिरिक्त भौतिकवाद से केवल समसामयिक ही नहीं भावी परिवर्तनों की दिशा का भी पता चलता है। मार्क्स ने "द्वैतात्मक" पद्धति का यह विचार दार्शनिक हीगेल के "द्वैतात्मक प्रत्ययवाद" अर्थात् "डायलेक्टिकल आइडियलिज्म" से लिया था। इस द्वैतवाद के तीन रूप होते हैं—पक्ष (थीसिस), प्रतिपक्ष (एंटी-थीसिस) और समन्वय (सिंथीसिस)। द्वैतवाद के इस त्रिक स्वरूप को भी मार्क्स ने हीगेल से ग्रहण किया है। मार्क्स ने हीगेल के द्वैत सिद्धांत को तो स्वीकार किया किन्तु उस के परम तत्व को अस्वीकार करते हुए भूत को चरम सत्य माना है तथा चेतना, बुद्धि, विचार और आत्मा को उसी का विकसित रूप कहा है। हीगेल के अनुसार प्रकृति और समाज का आधार परमतत्व या विश्वात्मा (एम्सल्यूट आइडिया) है जो प्रकृति और मानव से स्वतंत्र है। प्रकृति उस विश्वात्मा का एक दूसरा रूप है। यह विश्वात्मा (निरपेक्ष ज्ञान) समस्त विश्व में गुप्त रूप में अंतर्निहित है। विकास का अर्थ है उसके गुप्त रूप का प्रकटीकरण। विश्वात्मा या निरपेक्ष ज्ञान के अतिरिक्त जो कुछ है वह अपूर्ण है। जब अपूर्ण ज्ञान (प्रकृति) को पूर्ण मान लिया जाता है तो उसमें विरोध का आविर्भाव होता है। इस विरोध के कारण उसका विकास होता है और तब यह पूर्णता की ओर बढ़ती है। यह विरोध स्वयं प्रकृति का नहीं है, यह निरपेक्ष ज्ञान या विश्वात्मा से प्राप्त होता है। निरपेक्ष ज्ञान समस्त ज्ञानों की क्रिया, गति, बुद्धि और विकास का कारण है। किन्तु मार्क्स गति और विकास को पदार्थगत मानते हैं। गति के बिना न तो पदार्थ का अस्तित्व है और पदार्थ के बिना गति का नहीं। दोनों का अन्वय-व्यतिरेक का संबंध है। वस्तु या पदार्थ में जो परिवर्तन होता है, उसका मुख्य कारण अंतर्विरोध है। प्रकृति, समाज, मनुष्य की मानसिक क्रियाओं में भी इस अंतर्विरोध को देखा जा सकता है। पेड़, पौधों, मानवीय जीवन और समाज के विकास के मूल में विरोधी तत्वों का संघर्ष है। इस संघर्ष में जीर्ण-शीर्ण प्राचीन रूपों का निवाश होता है और नए-नए रूपों का प्रादुर्भाव। इसमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है। द्वैतात्मकता गति के सामान्य नियम का विज्ञान है।

मार्क्स परिवर्तन को निरर्थक चक्र नहीं मानते बल्कि उसे विकास का सिद्धांत मानते हैं। वस्तु का परिवर्तन हमेशा उन्नयन और उत्कर्ष का हेतु है। उसके परिमाण में बढ़ोत्तरी होती है और यह बढ़ोत्तरी उसके तात्त्विक तथा गुणात्मक अंतर का कारण बन जाती है। प्रत्येक वस्तु अपनी पहली स्थिति में अधिक प्रौढ़ तथा विकसित होती है। मार्क्स के मतानुसार भौतिक जगत का मानव मस्तिष्क में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही विचार है। भूत की प्रकृति द्वैतात्मक है। यह द्वैतात्मकता उससे विकसित तत्वों एवं स्थितियों में रहती है। भूत द्वैतात्मक प्रक्रिया निरंतर विकासशील है। इसके अतिरिक्त मार्क्स कहते हैं कि जगत की कोई भी वस्तु न तो पूर्णतया स्वतंत्र है और न ही शेष जगत से नितान्त विच्छिन्न रहने वाली सत्ता है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व शेष जगत पर आश्रित है। इसलिए इसका ज्ञान भी शेष जगत के संबंध की अपेक्षा रखता है।

द्वैतात्मक भौतिकवाद प्रत्येक परिवर्तन को द्वैतात्मक दृष्टि से देखता है। द्वैतात्मकता में संघर्ष अनिवार्य है और संघर्ष दो मूल विरोधी शक्तियों के बीच होता है। इसीलिए द्वैतात्मक भौतिकवाद के अनुसार सृष्टि का मूल सत्य परिवर्तन है जो सदैव दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष से संपन्न होता है।

15.3.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद

द्वैतात्मक भौतिकवाद को जब मानव समाज के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता तो उसे ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं। इसमें मनुष्य के समूचे अतीत को व्यवस्थित रूप में देखने का प्रयास किया जाता है। उस समय इतिहास इधर-उधर की बिखरी घटनाओं का संकलन नहीं होता वरन् उन घटनाओं को निश्चित नियमों के अंतर्गत देखा जाता है। इन ऐतिहासिक निश्चित नियमों का समन्वित रूप ही ऐतिहासिक भौतिकवाद है यह ऐतिहासिक भौतिकवाद मानव के इतिहास और समाज की एक विशिष्ट व्याख्या करता है। इसका दृष्टिकोण यथार्थवादी है। वास्तव में द्वैतात्मक भौतिकवाद के सामाजिक रूप को ही ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं। इसी कारण द्वैतात्मक भौतिकवाद वे मूल सिद्धांत ऐतिहासिक भौतिकवाद के भी आधार हैं। ऐतिहासिक भौतिकवाद जीवन की भौतिक परिस्थितियों पर बल देता है। उसके मतानुसार आर्थिक व्यवस्था के अनुकूल ही सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं का निर्माण होता है। इसलिए किसी भी व्यवस्था का मूल्यांकन उसके संदर्भों तथा प्रवृत्तियों से अलग होकर नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि समूचे पदार्थ जगत की भौति समूचा मानव-जीवन और समाज भी चिरंतन परिवर्तनशील और प्रवाहपूर्ण है। इसीलिए जीवन का कोई भी नियम शाश्वत सत्य नहीं है और नैतिकता की धारणा भी हमेशा एक सी नहीं बनी रहती। यही कारण है कि मार्क्सवाद शाश्वत मूल्यों की संभावनाओं को स्वीकार नहीं करता। देश और काल के अनुसार नैतिक धारणाएं और मूल्य बदलते रहते हैं, इसीलिए मार्क्सवाद का कहना है कि भौतिक जीवन पर देश-काल की परिस्थितियों का पर्याप्त मात्रा में प्रभाव पड़ता है। किन्तु जीविकोपार्जन के प्रकार तथा उत्पादन की पद्धति का सर्वाधिक नियंत्रण रहता है। जब उत्पादन संबंधों में परिवर्तन होगा तो मनुष्य के सामाजिक संबंधों में भी बदलाव आएगा। इसीलिए समाज के दो ढाँचे माने गये हैं। पहला ढाँचा मनुष्य के उत्पादन संबंधों पर आधारित है। वास्तव में यह आधारभूत ढाँचा है। दूसरा ढाँचा इस आधारभूत पहले ढाँचे पर आधारित है। इस दूसरे ढाँचे के अंतर्गत समाज, साहित्य, कला और संस्कृति संबंधी तत्व आते हैं और इसीलिए कवि की काव्य-प्रेरणा, दार्शनिक की ज्ञान-जिज्ञासा, कलाकार का कलात्मक लक्ष्य और संस्कृति का मूल उद्देश्य सभी अर्थ-व्यवस्था से नियंत्रित होते हैं।

मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष की संकल्पना भी रखी है। उनके मतानुसार समाज की उत्पादन प्रणाली का परिवर्तन भी दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष से होता है। संघर्ष दो वर्गों में होता है। इन वर्गों में से एक शोषक वर्ग है जो समाज पर आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टि से शासन करता है। दूसरा शोषित वर्ग है जो शारीरिक श्रम तो करता है किन्तु उस शारीरिक श्रम का फल उसे नहीं मिलता बल्कि शोषक वर्ग को मिलता है। इसलिए शोषित और शोषक वर्ग में अनिवार्य रूप से संघर्ष हो जाता है। इसी संघर्ष के मूल में विकास की स्थिति रहती है।

कार्ल मार्क्स का यह भी मत है कि पूँजीवादी व्यवस्था शोषण पर आधारित है। यह शोषण सर्वहारा का होता है क्योंकि सर्वहारा शारीरिक श्रम से उत्पादन करता है और उसका लाभ मिलता है पूँजीपतियों या मालिकों को। दैनिक जीवन के इस साधारण अनुभव की व्याख्या कार्ल मार्क्स ने अर्थशास्त्र के जटिल रूप में की है। वे इसे मूल्य-का सिद्धांत (थ्योरी ऑफ वल्यू) कहते हैं। इसी संघर्ष में सर्वहारा क्रांति करता है और यदि क्रांति सफल हो जाती है तो साम्यवाद की सृष्टि होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्सवाद एक नई वैज्ञानिक और मानववादी जीवन दृष्टि है जो दर्शन के क्षेत्र में द्वैतात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद पर आधारित है।

15.3.3 मार्क्सवाद और साहित्य

समाज को समझने तथा शोषणहीन समाज व्यवस्था का निर्माण करने के विज्ञान का नाम मार्क्सवाद है। साहित्य बुद्धि विरोधी सृष्टि नहीं है किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि यह मनुष्य के सचेत चिंतन का परिणाम नहीं है। मार्क्सवाद के अनुसार समूचा चिंतन, सभी सास्त्र एवं विधाएं केवल स्थितियों एवं परिस्थितियों से परिचालित ही नहीं होते बल्कि वे स्थितियों एवं परिस्थितियों की उपज भी हैं। यही कारण है कि समाज-संगठन का मूलधार आर्थिक संबंध है जिस प्रकार के उत्पादन होंगे उस अनुरूप समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों में परिवर्तन होता जाएगा। इसी के साथ-साथ आचार-विचार, चिंतन धारा, साहित्य आदि में भी परिवर्तन आता जाएगा। साहित्यकार भी अपने समाज से प्रभावित होता है, इसलिए उसके व्यक्तित्व का निर्माण उसकी अपनी भौतिक स्थितियों तथा अपने वर्ग की मान्यताओं से होता है। इन्हीं मान्यताओं में बंधकर साहित्यकार साहित्य का सृजन करता है। मार्क्सवादी इसी अर्थ में साहित्य पर भौतिक परिस्थितियों का नियंत्रण स्वीकार करता है, क्योंकि साहित्य अपने युग और वर्ग के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकता। मार्क्सवाद का मत है कि वर्गहीन समाज में ही वर्ग हीन साहित्य की रचना संभव हो सकती है। चूंकि मार्क्सवाद साहित्यकार को युग का उपभोक्ता और निर्माता दोनों ही मानता है, इसलिए यदि वह एक ओर कवि या साहित्यकार (कलाकार) की निरपेक्ष स्वतंत्रता का समर्थन नहीं करता तो दूसरी ओर वह उसे युग की शृंखला में भी जकड़ने देना नहीं चाहता। वह तो उसे युग की मर्यादाओं में सीमित रहकर साहित्य के माध्यम से वर्ग के प्रतिक्रियावादी तत्वों का खंडन करने के लिए कहता है।

मार्क्सवाद का संबंध सामाजिक व्यवस्था से है, किंतु उसका चरम लक्ष्य व्यवस्था नहीं है बल्कि उस व्यवस्था में रहने वाला मानव ही है। सामाजिक व्यवस्था तो उसका साधन है, उसका साध्य है स्वयं मनुष्य। अतः साहित्यकार को सामाजिक व्यवस्था की अपेक्षा उसकी पृष्ठभूमि में रहने वाले मनुष्य का चित्रण करना है। लेकिन मार्क्सवाद व्यक्ति-वैचित्र्य के आधिक्य का विरोध करता है। वह साहित्य में मानव के सामूहिक भावों को स्थान देने के पक्ष में है। उसके मतानुसार जीवन से संपर्क तोड़ लेने से तथा सामूहिक भावों के स्थान पर व्यक्ति-वैचित्र्य को बल देने से कला में प्राण-शक्ति का अभाव हो जाता है और इसलिए वह अस्थायी रहता है। चिरस्थायी या शाश्वत साहित्य की विषय-वस्तु सामाजिक तथा सामूहिक होती है।

मार्क्सवाद आनंद को काव्य या साहित्य का लक्ष्य स्वीकार नहीं करता। वह उसे साधन के रूप में मानता है। साहित्य का उद्देश्य तो मानव को भौतिक विकास की प्रेरणा देना है। इसीलिए वह मानव के भौतिक विकास की निश्चित रूपरेखा में विश्वास होने के कारण उसने अपने व्यवहार में विशुद्ध प्रचारवादी दृष्टि को अधिक बल दिया है। वह इस युग में उस साहित्य को श्रेष्ठ मानता है जिसका एकमात्र मानदंड साम्यवाद का प्रचार और पूँजीवाद का विरोध करना है। इससे साहित्य रस परक नहीं हो पाता है और उससे आनंद की पूरी प्राप्ति नहीं होती।

15.3.4 मार्क्सवाद और भाषा शैली

मार्क्सवाद विषय वस्तु की तरह भाषा और शैली को भी जनवादी बनाने का समर्थन करता है। वह अलंकार पूर्ण, अतिशयोक्तिपूर्ण और चमत्कार प्रधान शैली को मान्यता नहीं देता। भाषा की अत्यधिक कोमलता एवं सरसता को वह सामाजिक हास का चिह्न स्वीकार करता है। वह साहित्य की भाषा सरल, सहज, स्पष्ट और प्रभावपूर्ण मानता है। वह साहित्य में अलंकारों के अनावश्यक प्रयोग को स्थान नहीं देता। वह तो मर्मस्पर्शी और संवेदनशील काव्य की अपेक्षा ओजपूर्ण और कठोर साहित्य की मींग करता है और उसी के अनुरूप साहित्य की भाषा स्वीकार करता है। मार्क्सवाद के अनुसार काव्य की भाषा में अत्यधिक कोमलता और संवेदनशीलता वासना-तृप्ति की आकांक्षाओं का परिणाम है और यह पूँजीवादी युग की देन है। यह बात अवश्य है कि मार्क्सवाद काव्यभाषा और सामान्यभाषा

में भेद स्वाकीर करता है। उसके मतानुसार सामान्य बोलचाल की भाषा की अपेक्षा काव्य की भाषा अधिक परिष्कृत, परिमार्जित, सुगठित एवं लययुक्त होती है। काव्य भाषा में व्याकरण के सामान्य नियमों का अतिक्रमण भी होता है और इस भाषा का प्रयोग भावों और विचारों के अनुकूल होता है।

15.3.5 मार्क्सवादी आलोचना

मार्क्सवादी आलोचना पूर्णतया मार्क्सवादी सिद्धांतों पर आधारित है। इस आलोचना पद्धति को अपनाने वाले आलोचक की दृष्टि समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता पर केन्द्रित रहती है। वह यह देखता है कि शोषित और सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति के कण साहित्यिक कृति में मिलते हैं या नहीं। वह जीवन की उदात्त चेतना की ओर ध्यान नहीं देता। उसकी दृष्टि तो इस बात पर रहती है कि कृति में सम्यवादी भावों का अच्छी तरह से दिग्दर्शन हुआ है कि नहीं। वह नैतिक आदर्शों, आध्यात्मिक दर्शन और जीवन की निष्पक्ष रसात्मक भावना आदि के प्रति उपेक्षा भाव रखता है। उसका प्रमुख मानदंड साहित्य में आत्माभिव्यक्ति नहीं है बल्कि सामाजिक यथार्थ की अभिव्यंजना है।

मार्क्सवादी आलोचना साहित्य को सामाजिक क्रिया मानती है और इसके लिए जन साधारण के जीवन से घनिष्ठ संबंध स्थापित करना अनिवार्य है। इसके मतानुसार कला या साहित्य जीवन का फोटो नहीं है बल्कि उसमें जीवन के वास्तविक तथ्यों के साथ उसकी प्रेरक शक्तियों का उद्घाटन भी है। इसलिए साहित्य में यथार्थ का चित्रण जीवन का नग्न चित्र नहीं है। साहित्यकार अपने युग का केवल उपभोक्ता नहीं है, वह मार्गदर्शक भी है। वह अतीत का संरक्षक, वर्तमान का प्रेक्षक और प्रेरक तथा भविष्य का निर्देशक भी है। यदि साहित्यकार अपने युग से निरपेक्ष रहकर साहित्य की सर्जना करता है तो वह केवल आत्म तृप्ति के लिए करता है। समाज के लिए उस साहित्य का कोई उपयोग नहीं है। मार्क्सवादी आलोचना के अनुसार ऐसी रचना चिरकाल तक स्थायी नहीं रहती। साहित्यकार का धर्म है कि वह कल्पना द्वारा आत्म तृप्ति न कर तथा जीवन से पलायन कर संदेश न देकर मानव को जीवन शक्ति प्रदान करे।

वास्तव में मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की उपयोगितावादी दृष्टि तथा ऐतिहासिक प्रणाली का ही विकसित रूप है। साहित्यिक क्षेत्र में कॉडवेल इसके प्रमुख एवं प्रारंभिक अचार्यों में से हैं उन्होंने इस प्रणाली को अपने भौतिक दर्शन के सिद्धांतों के विकसित कर इसे साहित्यिक रूप प्रदान किया है। किंतु इनकी साहित्यिकता सौन्दर्य नहीं, शिव है। मार्क्स ने सौन्दर्य चेतना को मानवीय संवेदना का स्तर माना है और यह सामाजिक सौन्दर्य कहलाता है। मार्क्सवादी आलोचक भी सौन्दर्य चेतना को समाज के परिप्रेक्ष्य में रखकर साहित्यिक कृति का अध्ययन करता है। कॉडवेल के अतिरिक्त इंग्लैंड में हबर्ट रीड, सी.डे.लीविस, स्टीफन स्पेडर और अमेरिका में बी.एफ.कालवर्टन, ग्रैन्विल हिक्स, माइकेल गोल्ड, जोसेफ फ्रीमैन, बर्नार्ड स्मिथ आदि विद्वान इस आलोचना पद्धति के विद्वान रहे हैं।

15.3.6 हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना

मार्क्सवादी आन्दोलन ने प्रगतिवादी साहित्य को जन्म दिया है। इटली के विद्वान आलोचक मारनेति सर्वप्रथम प्रगतिवादी साहित्यकार माने जाते हैं। 1930 के बाद अंग्रेजी साहित्य पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव पड़ा। गाल्सवगी, बर्नार्डशा, आडेन आदि की रचनाओं में श्रामिक वर्ग को नवजागृति की प्रेरणा देने वाले विद्रोही भाव व्यक्त हुए हैं। 1934 में रूप के महान साहित्यकार मैक्सिम गोर्की की अध्यक्षता में सोवियत लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन संपन्न हुआ। इसमें सोवियत संघ के क्रांतिकारी लेखकों के अतिरिक्त 40 अन्य देशों के लेखकों ने भी भाग लिया। इसके बाद प्रगतिशील लेखक संघ के नाम से एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना हुई। इसका प्रथम अधिवेशन पेरिस में 1935 में हुआ। जिसका सभापतित्व अंग्रेजी के सुविख्यात उपन्यासकार इ.एस.फास्टर ने किया। इसी वर्ष भारत के डॉ. मूलकराज आनंद, सज्जद जहीर आदि ने लंदन में भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। भारत में इसका प्रथम अधिवेशन 1936 में मुंशी प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में हुआ। इस अधिवेशन में हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार सुमित्रानंदन पंत, यशपाल आदि ने भी सक्रिय

रूप से भाग लिया। 1937 में श्री शिवदान सिंह चौहान ने "हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता" के नाम से एक लेख लिखा। इस लेख में चौहान ने वर्तमान साहित्य को पूँजीवादी प्रवृत्ति का परिणाम कहकर हिन्दी साहित्य पर मार्क्सवादी सिद्धांतों का आरोपण किया। इसी प्रक्रिया में अन्य विद्वानों ने मार्क्सवादी आलोचना को आगे बढ़ाया।

वास्तव में हिन्दी में सन् 1935 के आस-पास यह स्वर सुनाई पड़ने लगा था। वैसे तो छायावादी कवि निराला की अनेक कविताओं में काफी पहले दीन-दलितों के प्रतिकरुणा, जर्जर रूढ़ियों और शोषक मान्यताओं के प्रति आक्रोश का भाव व्यक्त हो चुका था। भारतेन्दु कालीन कवियों ने भी अपने समाज की कुकृतियों, गुलामी, अकाल आदि पर अपनी रचनाएँ लिखकर यथार्थवादी साहित्य का सृजन प्रारंभ कर दिया था किन्तु एक सुनिश्चित आन्दोलन के रूप में इस प्रकार का साहित्य सन् 1935 के आस-पास देखा जा सकता है। छायावादी कवि भी अपनी कविताओं के कुंठावादी स्वर से ऊब गए थे और वे एक नए आन्दोलन की खोज में थे। प्रगतिवादी आन्दोलन ने उन्हें इस ओर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया। वस्तुतः प्रगतिवाद रचना और आलोचना के क्षेत्र में नई जीवन दृष्टि, नया सौन्दर्य बोध नया शिल्प-विधान और नई-संवेदना लेकर आया। इसने मूल्यांकन का आधार ही बदल दिया। यही कारण है कि प्रगतिवादी साहित्य में वर्ग-संघर्ष की भावना, सामाजिक विषमताओं के चित्रण, राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता के वर्णन, ईश्वर, धर्म एवं परंपरा के प्रति आलोचना दृष्टि, परिवर्तन की कामना आदि के दर्शन होते हैं। इसी दृष्टि से ही साहित्यिक आलोचना के सिद्धांत निर्धारित किए गए। इस आलोचना पद्धति में साहित्य और समाज का संबंध समाजवादी यथार्थ, साहित्य की उपयोगिता, कला, भाव आदि पर विचार किया गया। लेकिन एक बात अवश्य है कि मार्क्सवादी आलोचना का संबंध सामाजिक जीवन से होने के कारण इसमें कला-विवेचन की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। यदि कुछ ध्यान दिया भी गया है तो उसमें मार्क्स के सौन्दर्यशास्त्र, कला, साहित्य संबंधी मान्यताओं का क्रमबद्ध विवेचन नहीं मिलता। मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन के सिद्धांतों का विवेचन भी यत्र-तत्र हुआ मिलता है। यही कारण है कि मार्क्सवादी आलोचना एक बड़ी आशा लेकर उभरी, लेकिन जल्दी ही बैठ गया। इसके अतिरिक्त इसके कई अन्य कारण भी थे जो इस प्रकार हैं:-

1. साहित्य पर मार्क्सवादी विचारधारा का आवरण चढ़ा देने से सच्चे साहित्य के स्वतंत्र विकास में बाधा आई। वास्तव में साहित्यकार का अपना एक चेतन व्यक्तित्व है। उसको समाजवाद के फार्मूलों से समझाया नहीं जा सकता। साहित्यकार को बंधी हुई परंपरा पर चलने के लिए बाध्य करने पर अथवा सामाजिक या राजनैतिक नियंत्रण में बनाए रखने पर सच्चे साहित्य की रचना नहीं हो सकती इसी एकांगी दृष्टि के होने के कारण वह प्रचारवादी साहित्य हो जाएगा।
2. मार्क्सवादी आलोचना में न तो इस बात पर ध्यान दिया गया कि मार्क्सवाद का जीवन भारत भूमि की प्रकृति के अनुकूल है या नहीं और न ही यह देखा गया कि इसमें भारतीय मानव के विकास की कितनी क्षमता है। वास्तव में इस विचारधारा को भारत के जीवन पर थोपने का प्रयास किया गया और यहाँ की समस्याओं के अनुरूप समाधान ढूँढने के यत्न नहीं हुए।
3. इन्द्रात्मक भौतिकवाद अभी जड़, चेतना, मन, आत्मा आदि महत्वपूर्ण प्रश्नों को नहीं सुलझा सका। इसमें नीति का आधार जड़ भौतिकवाद है। इसलिए यह व्यक्ति को अत्यधिक स्थूल स्वार्थों की ओर मोड़ लेता है। इसमें मानव के शाश्वत कल्याण की चेतना नहीं मिलती। यह अर्थनीति और उद्योग विकास पद्धति तक ही सीमित रहता है जो साहित्य को साहित्य बनने नहीं देता।
4. प्रत्येक साहित्यिक धारा के पीछे किसी न किसी साहित्य दर्शन और जीवन दर्शन की प्रेरणा निहित रहती है। इसके न होने से साहित्य की धारा फैशनमात्र रह जाती है और उसका जीवनकाल भी बहुत छोटा रहता है। यही कारण है कि मार्क्सवादी आलोचना अल्पकालीन रही।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी आलोचना का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसने स्वयं में पूर्ण न होकर भी हिन्दी आलोचना को पूर्ण बनाने की प्रक्रिया में उल्लेखनीय कार्य किया है।

15.3.7 मार्क्सवादी आलोचक

हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना के मुख्य विद्वान श्री शिवदान सिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. प्रकाशचंद्र गुप्त और डॉ. नामवर सिंह हैं। इनका विवरण इस प्रकार है:-

श्री शिवदान सिंह चौहान ने "हंस" पत्रिका के संपादक के रूप में तथा प्रगतिवाद (1946), साहित्य की परख (1948), आलोचना के मान (1958), साहित्य की समस्याएँ (1959) आदि अपने ग्रंथों में मार्क्सवादी आलोचना के सैद्धांतिक पक्ष को स्पष्ट करने के साथ ही हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन उसी के आधार पर करने का प्रयास किया है। उनकी विचारधारा मूलतः मार्क्सवादी है किन्तु उनमें कम्युनिस्ट पार्टी की कट्टरता नहीं है। "हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष" में उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास को नई दृष्टि से देखा है। चौहान साहित्य के केवल समाजशास्त्रीय अध्ययन के पक्षधर नहीं हैं बल्कि रचनाकार के व्यक्तित्व तथा उसकी सौन्दर्य चेतना को भी अपेक्षाकृत महत्व देते हैं। उनके मतानुसार मार्क्सवादी आलोचना साहित्य को न केवल सामंती पूँजीवादी व्यवस्था का अंग मानकर अध्ययन करता है वरन् उसीकी सामाजिक सौन्दर्य शक्ति का भी मूल्यांकन करता है। चौहान आलोचना के लिए वैज्ञानिक दृष्टि की अपेक्षा करते हैं और यह दृष्टि मार्क्सवादी भौतिकवाद से मिलती है किन्तु वे यह भी स्वीकार करते हैं कि भारतीय जीवन की मौलिक विशेषताओं की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। चौहान ने साहित्य के विकास का अध्ययन सामूहिक विचारधारा की दृष्टि से किया है। उन्होंने ऐतिहासिक आलोचक की भूमिति निष्पक्ष रूप से विवेचन किया है कि विभिन्न युगों में साहित्य की कोन-सी धाराएँ रही हैं और उनका विकास किस प्रकार हुआ है। किन्तु उनकी आलोचना में मार्क्सवादी विचारधारा स्पष्ट झलकती है। इसी कारण उन्होंने हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में कबीर और ज्ञानाश्रयी कवियों को सूर और तुलसी से अधिक श्रेष्ठ माना है।

डॉ. रामविलास शर्मा: हिन्दी के पहले मार्क्सवादी आलोचक हैं जिन्होंने मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को अच्छी तरह से समझकर उसे साहित्य के क्षेत्र में लागू किया और उसीके आधार पर अपनी आलोचना लिखी। उन्होंने प्रगति और परंपरा (1948), संस्कृति और साहित्य (1953), प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ (1953), प्रेमचंद और उनका युग (1955) आदि ग्रंथों में मार्क्सवादी विचारधारा से हिन्दी आलोचना को परिपुष्ट किया है। डॉ. शर्मा विचारों के स्तर पर कहीं भी समझौतावादी दिखाई नहीं देते बल्कि अपनी बात को निर्भीकता से कहते हैं। वर्ग-भेद पर आधारित समाज की पहचान को उन्होंने साहित्यकार के लिए आवश्यक माना है। इस दृष्टि को लेकर लिखा गया उनका निबंध "मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन" महत्वपूर्ण है। उनका मत है कि हिन्दी की प्रगतिशील साहित्यिक परंपरा जितनी जातीय है उतनी ही राष्ट्रीय। उन्होंने अपनी आलोचना में भारतीय और पाश्चात्य आलोचना शैली के ग्रहण योग्य तत्वों को स्वीकार कर मार्क्सवादी आलोचना के धरातल पर अपनी आलोचना-शैली का विकास किया है। "आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना" ग्रंथ को उनकी आलोचना पद्धति का केन्द्र बिन्दु मानना चाहिए। इसमें शुक्ल जी की लोक हृदय में लीन होने की कसौटी पर उन्होंने बल देते हुए उनके अंतर्विरोधी पर भी प्रकाश डाला है।

डॉ. शर्मा ने मार्क्सवादी आलोचक के रूप में साहित्य की विभिन्न समस्याओं पर गंभीर चिंतन किया। उनके मतानुसार साहित्यकार साहित्य में समाज को चित्रित ही नहीं करता वरन् उसे अभिलक्षित रूप में गढ़ता भी है। इससे साहित्य में चित्रण और सृजन की द्वैतात्मक प्रक्रिया दिखाई देती है। मार्क्सवादी साहित्य पर प्रचारवादी साहित्य होने का जो आरोप लगाया जाता है, उसका खंडन करते हुए डॉ. शर्मा का कहना है कि "साहित्य का उथला या गहरा होना प्रचार करने या न करने पर निर्भर नहीं है। उसका मानदंड यह है कि हमने यथार्थ को उसके सश्लिष्ट रूप में कहा तक पहचाना है। साहित्य के संबंध में यह कहा जाता है कि जब मनुष्य का जीवन और उसका समाज परिवर्तनशील है तब साहित्य के स्थायित्व के लिए उसमें शाश्वत सत्य का चित्रण किया जाता है। डॉ. शर्मा ने मार्क्सवाद के परिप्रेक्ष्य में कहा है कि शाश्वत सत्य जैसी कोई वस्तु नहीं है और सत्य सदैव ऐतिहासिक परिस्थितियों से जुड़ा होता है। इसके अतिरिक्त नैतिक मूल्य भी समाज से अलग नहीं हो सकते। अतः साहित्यकार सामाजिक प्राणी होने के नाते अपने युग की ऐतिहासिक सीमाओं को लौघ नहीं सकता। इस प्रकार डॉ. शर्मा ने मार्क्सवादी आलोचना में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

प्रकाशचंद्र गुप्त का नाम भी मार्क्सवादी आलोचना के पक्षधरों में उल्लेखनीय है। "नया हिन्दी साहित्य" (1946), आधुनिक हिन्दी साहित्य "एक दृष्टि" (1950), "हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा" (1953) और साहित्य धारा (1956) गुप्त जी की प्रमुख कृतियाँ हैं। इनमें हिन्दी साहित्य की कालगत मूल प्रवृत्तियों और उनमें अंतर्निहित जनवादी परंपराओं का सूक्ष्म अध्ययन मिलता है। गुप्त जी की रचनाएँ न तो पांडित्य के बोझ से दबी हैं और न ही निष्कर्ष निरूपण से। वे अपनी बात को सीधी और सरल भाषा में कहते हैं। इसलिए कहा जाता है कि गुप्त जी ने मार्क्सवादी मानदंडों के आधार पर अपनी जो आलोचनाएँ लिखी हैं उनका परिचयात्मक मूल्य अधिक है विश्लेषणात्मक कम। वस्तुतः उन्होंने समाज की वास्तविकताओं की जटिलता में न पड़कर उनका केवल परिचय दिया है। तथापि, यह अवश्य कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी आलोचना को आगे बढ़ाने में गुप्त जी ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। अन्य मार्क्सवादी आलोचकों की अपेक्षा उनका दृष्टिकोण उदार है और दलगत राजनीति का प्रभाव उनकी आलोचना पर अधिक दिखाई नहीं देता। इसलिए उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं में व्याख्या की मार्मिकता, सौन्दर्य बोध की सूक्ष्मता और गहन चिंतन का सर्वथा अभाव नहीं है।

डॉ. नामवर सिंह ऐसे मार्क्सवादी आलोचक हैं जिन्होंने प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध निरंतर संघर्ष किया। उन्होंने "इतिहास और आलोचना" (1962), "आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ" (1964), "कविता के नए प्रतिमान" (1968) आदि ग्रंथों में मार्क्सवादी आलोचना का विकास किया। "कविता के नए प्रतिमान" ग्रंथ में उन्होंने रूपगत और वस्तुगत प्रतिमानों का विवेचन करते हुए उनके द्वैतात्मक संबंधों को पहचाना है। यही मार्क्सवाद की देन है। उन्होंने कविता के वस्तुगत रूप को महत्व देकर तथा शब्दार्थ मीमांसा को आलोचना का आधारभूत कार्य मान कर कविता को स्वतंत्र इकाई के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने छायावादी भावधारा के स्थान पर यथार्थवादी कविता के रूप में नई कविता को स्थापित करने का प्रयास किया है। अपने ग्रंथ 'प्रतिमान' में नामवर जी ने कविता को जिन नए प्रतिमानों को रेखांकित किया है, वे यथार्थवादी कविता के प्रतिमान हैं। इन प्रतिमानों के आधार पर उन्होंने प्रगतिवादी और प्रयोगवादी दोनों धाराओं के कवियों का मूल्यांकन किया। इस मूल्यांकन में उन्होंने प्रगतिवादी कवियों को प्रयोगवादी कवियों की अपेक्षा अधिक खरा पाया। उनके मतानुसार नई कविता में मुक्ति बोध की स्थिति वही है जो छायावाद में निराला की थी। निराला के समान ही मुक्तिबोध ने भी अपने युग के सामान्य काव्य-मूल्यों को प्रतिफलित करने के साथ ही उनकी सीमा को चुनौती देकर उस सर्जनात्मक विशिष्टता को चरितार्थ किया जिससे समकालीन काव्य का सही मूल्यांकन संभव हो सका।

नामवर जी का मत है कि आलोचना की सर्वाधिक आवश्यकता है परंपरा बोध या इतिहास बोध। वास्तव में परंपरा इतिहास के भीतर केवल संबंध भावना नहीं है वरन् साहित्य का निश्चित प्रतिमान है। इसलिए साहित्य अंततोगत्वा आलोचना का प्रतिमान हो जाता है। ऐतिहासिक बोध ही आलोचनात्मक बोध है जो प्रत्येक साहित्य का लगातार मूल्यांकन करता रहता है। यह ऐतिहासिक बोध केवल अतीत का नहीं है, वह समसामयिक संदर्भों को भी लेकर चलता है। इस प्रकार नामवर जी मार्क्सवादी आलोचना की खंडन-मंडन की परंपरा से अलग कृति से उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रियाओं के द्वंद्व से एक ऐसा प्रतिमान स्थापित करते हैं जो समसामयिक और व्यावहारिक है।

उपर्युक्त आलोचकों के अतिरिक्त गजानन माधव मुक्ति बोध, अमृतराय, शिवकुमार मिश्र, मैनेजर पांडेय, विश्वनाथ त्रिपाठी आदि ने भी हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

15.4 सारंश

1. मार्क्सवाद दर्शन भी है और प्रणाली भी। इसलिए इसे क्रियात्मक दर्शन भी कहा जाता है। यह एक समाजवादी विचारधारा है जिसमें समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने से पहले उन सभी वैज्ञानिक नियमों की जानकारी प्राप्त करना है जिनके आधार पर सामाजिक परिवर्तन होता है। मार्क्सवाद की मूल चेतना का आधार द्वैतात्मक भौतिकवाद है। मार्क्स ने "द्वैतात्मक पद्धति" की यह अवधारणा दार्शनिक

हीगेल से ली थी। इस द्वैतवाद के तीन आयाम हैं- पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय। मार्क्स ने इस त्रिक स्वरूप को ग्रहण करते हुए द्वैत सिद्धांत के परमतत्त्व को अस्वीकार किया। उन्होंने भूत को चरम सत्य माना तथा चेतना, बुद्धि, विचार और आत्मा को उसीका विकसित रूप कहा। मार्क्स परिवर्तन को निरर्थक चक्र नहीं मानते बल्कि उसे विकास का सिद्धांत मानते हैं। द्वैतात्मक भौतिकवाद प्रत्येक परिवर्तन को द्वैतात्मक दृष्टि से देखता है। इसके अनुसार सृष्टि का मूल्य सत्य परिवर्तन है जो सदैव दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष से संपन्न होता है। इसी द्वैतात्मक भौतिकवाद को जब मानव समाज के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है तो वह ऐतिहासिक भौतिकवाद कहलाता है। इस प्रकार द्वैतात्मक भौतिकवाद का सामाजिक रूप ही ऐतिहासिक भौतिकवाद है। ऐतिहासिक भौतिकवाद जीवन की भौतिक परिस्थितियों पर बल देता है। आर्थिक व्यवस्था के अनुकूल ही सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा धार्मिक व्यवस्था का निर्माण होता है। इसलिए किसी भी व्यवस्था का मूल्यांकन उसके संदर्भों तथा प्रवृत्तियों से अलग होकर नहीं किया जा सकता। समाज के परिवर्तनशील होने के कारण मार्क्सवाद शाश्वत मूल्यों की संभावनाओं को स्वीकार नहीं करता। देश और काल के अनुसार नैतिक धारणाएँ और मूल्य बदलते रहते हैं, इसलिए भौतिक जीवन पर देश-काल की परिस्थितियों का पर्याप्त मात्रा में प्रभाव पड़ता है। किंतु जीविकोपार्जन के प्रकारों तथा उत्पादन की पद्धतियों का सबसे अधिक नियंत्रण रहता है। जब उत्पादन संबंधों में परिवर्तन होगा तो मनुष्य के सामाजिक संबंधों में भी बदलाव आएगा। इसी संदर्भ में मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष की भी अवधारणा रखी। इन वर्गों में एक शोषक है क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था शोषण पर आधारित है। शोषित वर्ग शारीरिक रूप से उत्पादन करता है और उसका लाभ मिलता है पूँजीपतियों को।

2. मार्क्सवाद के अनुसार आर्थिक संबंधों के अनुरूप समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों में भी परिवर्तन होता जाएगा। इसी के साथ-साथ आचार-विचार, चिंतन धारा, साहित्य आदि में भी परिवर्तन आता जाएगा। साहित्यकार भी अपने समाज से प्रभावित होता है, इसलिए उसके व्यक्तित्व का निर्माण उसकी अपनी मौलिक स्थितियों तथा अपने वर्ग की मान्यताओं से होता है। इन मान्यताओं में बंधकर साहित्यकार साहित्य का सृजन करता है। मार्क्सवाद साहित्य का उद्देश्य मानव को भौतिक विकास की प्रेरणा देना मानता है, इसलिए वह आनंद को साहित्य का लक्ष्य स्वीकार न कर साधन मानता है। साहित्य का प्रयोजन साम्यवाद का प्रचार और पूँजीवाद का विरोध करना है। इसका मापदंड साहित्य में आत्माभिव्यक्ति नहीं है बल्कि सामाजिक यथार्थ की अभिव्यंजना है। इसी संदर्भ में मार्क्सवादी आलोचना साहित्य को सामाजिक क्रिया मानते हुए कहती है कि इसमें साहित्य जीवन का फोटो नहीं है वरन् उसमें जीवन के वास्तविक तथ्यों के साथ उसकी प्रेरक शक्तियों का उद्घाटन भी है। इस कारण मार्क्सवादी आलोचना साहित्य का अध्ययन उपयोगितावादी दृष्टि से तथा ऐतिहासिक प्रणाली से करता है।

3. इसी मार्क्सवादी-दर्शन सिद्धांत और व्यावहारिक रूपों का विकास हिन्दी आलोचना में हुआ। इस मार्क्सवादी दर्शन के समर्थक आलोचकों में शिवदान सिंह, प्रकाशचंद्र गुप्त, राम विलास शर्मा, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र ने उल्लेखनीय कार्य किया है। वास्तव में हिन्दी में मार्क्सवादी विचारधारा का स्वर सन् 1935 के आस-पास सुनाई पड़ने लगा था। यह स्वर प्रगतिवादी साहित्य के रूप में प्रस्फुटित हुआ। इस साहित्य में वर्ग-संघर्ष की भावना, सामाजिक विषमताओं के चित्रण, ईश्वर, धर्म और परंपरा के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि, परिवर्तन की कामना आदि का विवेचन हुआ। इसी दृष्टि से ही आलोचना के सिद्धांतों का निर्धारण हुआ। इस आलोचना पद्धति में साहित्य और समाज का संबंध, समाजवादी यथार्थ साहित्य की उपयोगिता, कला, भाव आदि पर विचार किया गया। इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचना ने जीवन मूल्यों और साहित्यिक मूल्यों को समानांतर रूप में लाने का प्रयास किया।

15.6 अभ्यास

15.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न

निम्न लिखित प्रश्नों के उत्तर 250 शब्दों में लिखिए।

1. मार्क्सवादी चिंतन प्रणाली को स्पष्ट करते हुए उसके साहित्य से संबंध स्थापित कीजिए।
2. मार्क्सवादी आलोचना के केन्द्र बिंदु के रूप में द्वातात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
3. मार्क्सवादी आलोचना पद्धति पर एक निबंध लिखिए।

15.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

निम्न लिखित प्रश्नों के उत्तर 125 शब्दों में लिखिए।

1. मार्क्सवादी आलोचना एकांगी है। यह सामाजिक जीवन से संबंध रखती है किंतु कला विवेचन से नहीं। इस संबंध में अपने विचार दीजिए।
2. हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना के उद्भव और विकास पर चर्चा कीजिए।

15.7 नमूने के उत्तर

15.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न: मार्क्सवाद और साहित्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर: मार्क्सवाद समाजवादी विचारधारा है। यही विचारधारा मानव के स्वप्नों और भावनाओं की कोमल भूमि पर आधारित नहीं है बल्कि उसका धरातल सत्य और परिस्थिति है। इस सत्य और परिस्थिति के धरातल पर जो व्यवस्था स्थापित होती है वह सामाजिक परिवर्तन के अनुसार बदलती रहती है। यह व्यवस्था आर्थिक ढाँच पर टिकी होती है जिसके अनुरूप सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक व्यवस्था का निर्माण होता है। इसलिए किसी भी व्यवस्था का मूल्यांकन उसके संदर्भों और प्रवृत्तियों से अलग हो कर नहीं किया जा सकता। अतः समाज की समूची चिंतनधारा और साहित्य पर उसी के अनुरूप प्रभाव पड़ता है। साहित्यकार भी समाज का एक प्राणी है और वह भी अपने समाज से प्रभावित होता है। उसके व्यक्तित्व का निर्माण उसकी अपनी भौतिक स्थितियों तथा अपने वर्ग की मान्यताओं से होता है। इन्हीं "मान्यताओं" में बंध कर साहित्यकार साहित्य का सृजन करता है। मार्क्सवाद का मत है कि वर्गहीन समाज में ही वर्गहीन साहित्य की रचना हो सकती है। मार्क्सवाद साहित्यकार को युग का उपभोक्ता और निर्माता दोनों ही मानता है। इसलिए वह कवि या कलाकार की न तो निरपेक्ष स्वतंत्रता का समर्थन करता है और न ही उसे युग की श्रृंखला में जकड़ने देता है। अतः साहित्यकार को सामाजिक व्यवस्था की अपेक्षा उसकी पृष्ठ भूमि में रहनेवाले मनुष्य का चित्रण करता है। लेकिन मार्क्सवाद व्यक्ति-वैचित्र्य की अधिकता का भी विरोध करता है। वह साहित्य में मानव के सामूहिक भावों को स्थान देने के पक्ष में है। वास्तव में मार्क्सवाद साहित्य को सामाजिक क्रिया मानता है। इसके लिए उसे जनसाधारण के जीवन से घनिष्ठ संबंध स्थापित करना होता है। वह जीवन का मात्र चित्र नहीं है वरन् उसमें जीवन के वास्तविक तथ्यों का उद्घाटन होता है और समाज का मार्गदर्शन करता है। जिस साहित्य की विषय-वस्तु सामाजिक और सामूहिक होती है वही साहित्य शाश्वत और चिरस्थायी होता है। मार्क्सवाद की दृष्टि में साहित्य का उद्देश्य मानव को भौतिक विकास की प्रेरणा देना है। इसलिए वह आनंद को साहित्य का लक्ष्य न मानकर साधन के रूप में मानता है। अतः वही साहित्य श्रेष्ठ है जो साम्यवाद का प्रचार करते हुए पूँजीवाद का विरोध करता है।

इकाई-16: भारत की प्राचीन टीका पद्धति

- 16.0 विषय प्रवेश
- 16.1 उद्देश्य
- 16.2 पाठ परिचय
- 16.3 मूल पाठ
- 16.4 सारांश
- 16.5 पारिभाषिक शब्दावली
- 16.6 अभ्यास
 - 16.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)
 - 16.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)
- 16.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 16.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 16.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 16.8 पठनीय पुस्तकें

16.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में भारत की प्राचीन टीका पद्धति पर विचार किया गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- भारत की प्राचीन टीका पद्धति के स्वरूप पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- आलोचना पद्धति में प्राचीन टीका पद्धति के स्थान तथा उसकी उपादेयता को समझ सकेंगे।
- संस्कृत से हिन्दी तक की प्राचीन टीका पद्धति की विकास यात्रा पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- प्राचीन टीका पद्धति से आलोचना व समीक्षा के विकास को समझ सकेंगे।

16.2 पाठ परिचय

मनुष्य जब किसी साहित्यिक रचना को पढ़ता है, तब उसके मन में कुछ प्रतिक्रियाएँ जगती हैं। एक सामान्य पाठक "वाह! वाह!" या "बहुत अच्छा या बहुत बुरा" कहकर अपनी निजी प्रतिक्रिया को प्रकट करता है। आलोचक अनुभूति और अभिव्यक्ति की व्यवस्थित रूप से व्याख्या, विश्लेषण, विवेचन, गुण-दोष निदर्शन आदि के द्वारा टीका करता है, आलोचना करता है एवं अपना निर्णय भी देता है। इसे आलोचना कहते हैं, जिसके अन्तर्गत प्राचीन टीका पद्धति का सन्निवेश है।

16.3 मूल पाठ

टीका आलोचना का ही प्रारंभिक स्वरूप है। आलोचक का महत्व भी सर्जक के समान ही माना जाता है। कलाकार शब्द सौन्दर्य एवं भाव माधुर्य के माध्यम से रागात्मक अनुभूतियों की मनोहर अभिव्यक्ति करता है, तो आलोचक व्याख्या एवं विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन के माध्यम से इस सौन्दर्य एवं माधुर्य को तृप्त कर देने वाला रसस्वादन कराता है। इसीलिए आलोचना को भी अन्य सभी सर्जनात्मक साहित्यिक विधाओं की तरह, ललित साहित्य के अन्तर्गत ही माना जाता है। फिर भी आलोचक की अपेक्षा निश्चित ही कलाकार की सर्जना-शक्ति अधिक मौलिक, एवं सशक्त तथा भाव-युक्त एवं प्रभावपूर्ण होती है।

वस्तुतः यदि साहित्य जीवन की व्याख्या है तो आलोचना उस व्याख्या-की-व्याख्या है। कलाकार यदि जीवन का पुनः सृजन करता है तो आलोचक उस पुनःसृजन का और एक बार पुनः सृजन करता है। कला सर्जना में भावना एवं कल्पना का प्राधान्य होता है। बुद्धि प्रायः संश्लेषण-विश्लेषण में ही सहायक होती है और इसीलिए आलोचना में बुद्धि को, बुद्धि के नीर-क्षीर विवेक की प्रधानता होती है। कला-सर्जन में ऐन्द्रिक तथा मानसिक बिम्बों की प्रधानता होती है, जबकि आलोचना में मानसिक-प्रज्ञात्मक बिम्बों की प्रमुखता एवं विशेषता होती है।

इस प्रकार आलोचना तत्त्वतः ललित साहित्य का ही अंग है। सृजनात्मक साहित्य के समान ही इसमें भी सर्जक के निजी व्यक्तित्व का पुट होता है, संस्पर्श होता है। आलोचना को कला माना जाय या विज्ञान- यह बहुत ही पुराना एवं विवादास्पद प्रश्न है। हम कह सकते हैं कि आलोचना की आत्मा निश्चित है। कलामय इसीलिए है क्योंकि आलोचना मूलतः आत्माभिव्यक्ति है। आलोचना का उद्देश्य रसास्वादन कराना होता है। इसीलिए उसमें रसात्मकता होती है और उसकी परिणति भी रसानुभूति या आनन्द में होती है। इसी प्रकार आलोचना का कलेवर वैज्ञानिक कहा जा सकता है क्योंकि इसमें वैज्ञानिक नियमों का पालन आवश्यक, अनिवार्य तथा उपादेय भी होता है। निश्चित नियमों एवं अवधारणाओं, मान्यताओं, मूल्यों अथवा मानदण्डों के आधार पर समीक्षा की जाती है। समीक्षा-पद्धति के अन्तर्गत भी वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन, अनुशीलन, विश्लेषण, वर्गीकरण, विवेचन तथा मूल्यांकन किया जाता है। अतः एवं आलोचना को कला एवं विज्ञान दोनों का ही सम्मिलित-सम्मिश्रित रूप मानना अधिक समुचित होगा।

16.3.1 आलोचना और समीक्षा

"आलोचना" शब्द का अर्थ है "सम्यक निरीक्षण"। आ+लोच्+अन्+आ = आलोचना। लोच् या लोच का अर्थ है- देखना। किसी कृति अथवा रचना को सम्यक रूप से देखना, उसका रसास्वादन करते हुए उसका मूल्यांकन करना ही आलोचना है (आलोचना का समकक्ष, समानार्थी शब्द "समीक्षा" भी हिन्दी में प्रचलित है, जिसका अर्थ किसी विषय के संबंध में सम्यक ज्ञान प्राप्त करना है- (सम्यक-ईशा)।

16.3.2 आलोचना का उद्देश्य

मूलतः आलोचना का उद्देश्य है कलाकृति की व्यवस्थित व्याख्या कर, उसे सहज ग्राह्य बनाना तथा उसका महत्व निर्धारित करना। समीक्षा का अर्थ न तो प्रशंसा करना है, न निंदा करना। अपितु निश्चित रूप से, निष्पक्ष भाव से कलाकृति की व्याख्या-विश्लेषण करना है। आलोचना का उद्देश्य होता है।

डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार- "आलोचक का कार्य कवि और उसकी कृति का यथार्थ मूल्य प्रकट करना है। इसके लिए कृति में व्याप्त गुणों का उद्घाटन और दोषों का विवेचन तो उसका कार्य ही है। साथ ही उसका समाज में और अन्तःकलाकृतियों के बीच क्या स्थान और क्या महत्व है, यह स्पष्ट करना भी आलोचक का कार्य है। कलात्मक उत्कृष्टता का पूर्ण प्रकाशन आलोचना का श्रेष्ठ कार्य है।

16.3.3 आलोचना की पद्धतियाँ

आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियों को मूलतः दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है- सैद्धान्तिक आलोचना और व्यावहारिक आलोचना। सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत काव्य शास्त्रीय मूल्यों के निर्धारण के अतिरिक्त साहित्य को विविध विधाओं के स्वरूप का विवेचन भी प्रस्तुत किया जाता है। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि विविध साहित्य-रूपों के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण और विवेचन इसके अन्तर्गत आता है। समीक्षा के प्राचीन भारतीय मानदंड यथा, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति, अलंकार आदि इसीके अन्तर्गत आते हैं।

16.3.4 व्यावहारिक आलोचना

आलोचना की इस प्रणाली के अन्तर्गत सैद्धान्तिक आलोचना द्वारा निश्चित किए गए सिद्धान्तों की कसौटी पर कृति-विशेष अथवा साहित्य की प्रवृत्ति-विशेष का विश्लेषण और मूल्यांकन किया जाता है।

प्राचीन काल में न तो आलोचना इतनी व्यवस्थित थी और न ही उसके विषय में इतने वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक ढंग से सोचा ही जाता था। संस्कृत साहित्य में किसी पुस्तक पर जो प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की जाती थीं उनकी अलग-अलग पद्धतियाँ प्रचलित थीं। ये पद्धतियाँ थी— रूप, कारिका, वृत्ति, टिप्पणी, भाष्य, वचनिका, व्याख्या, टीका आदि। इन सभी पद्धतियों में से टीका पद्धति काफी लोकप्रिय हुई। प्रायः सभी प्रमुख संस्कृत ग्रन्थों की कई टीकाएँ लिखी गईं। कालान्तर में हिन्दी में भी यह टीका पद्धति अपनाई गई। टीका पद्धति के अन्तर्गत कवि की कविता के अलावा उसके उद्देश्य, विशेषताओं आदि पर भी प्रकाश डाला जाता है।

अन्य भारतीय भाषाओं की तरह ही हिन्दी आलोचना शास्त्र ने भी संस्कृत की सुदीर्घ समृद्ध आलोचना-परम्परा से बहुत कुछ ग्रहण किया। भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों के सिद्धान्तों को मध्ययुग में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में साहित्यिक मानदण्ड के रूप में ग्रहण किया गया। रस, ध्वनि, अलंकार, नायक— इन विषयों पर अनेक ग्रंथ भी लिखे गए। पर इन रीतिग्रंथों में मौलिकता कम दिखाई देती है। संस्कृत आलोचना से हटकर यदि भक्ति एवं रीतिकालीन कवियों ने काव्य के स्वरूप, उद्देश्यों आदि पर प्रकाश डाला भी है तो केवल संकेत के रूप में ही। काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में स्वतन्त्र चिंतन या मौलिकता कम ही दिखाई पड़ती है।

इस प्रकार हिन्दी आलोचना अपने प्रारंभिक काल में संस्कृत से ही प्रेरित एवं विकसित हुई।

किसी भी पुस्तक को पढ़ने या नाटक को देखने पर, अर्थात् दृश्य काव्य को देखने पर तथा श्रव्य काव्य को पढ़ने पर मन में जो कुछ प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें व्यवस्थित तटस्थ भाव से लिखित रूप देना ही आलोचना का मूल आधार है। रचना को पढ़ते-पढ़ते या नाटक को देखते-देखते हमारे मस्तिष्क भी प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ विचार उत्पन्न होते हैं। विचारों और भावों की यह प्रतिक्रिया ही रसास्वादन कहलाती है।

साहित्य-मर्मज्ञ के मन में पुस्तक के पढ़ने के बाद सहज ही प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। ऐसे मर्मज्ञ को सहृदय कहा जाता है। सहृदय के लिए संस्कृत साहित्य-शास्त्र में "भावक" शब्द का प्रयोग हुआ है। भावक इस विचारान्दोलन को शब्दों में व्यक्त करता है और बताता है कि कोई कृति कैसी है, उसमें क्या-गुण-दोष हैं, क्या-क्या विशेषताएँ हैं— आदि। किसी साहित्यिक कृति के विषय में भावक या सहृदय द्वारा जब विचारों का प्रकाशन होता है, वहीं आलोचना का जन्म होता है। जैसे आस्वादन मनुष्य का स्वाभाविक गुण है, वैसे ही आलोचना भी मनुष्य के लिए सहज-स्वाभाविक है।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में दो प्रकार की प्रतिभा मानी गई— कारयित्री प्रतिभा तथा भावयित्री प्रतिभा। कारयित्री प्रतिभा लेखक या कवि में होती है तथा इसी के माध्यम से वह कृति की सर्जना या निर्माण करता है। भावयित्री प्रतिभा या "भावन" की प्रतिक्रिया सहृदय में होती है, जो कृति का आस्वादन तथा गुण-दोष-विवेचन करता है।

प्राचीन काल में साहित्य-समीक्षा करनेवाले सहृदय विद्वानों को आचार्य की संज्ञा दी जाती थी। भारतीय साहित्य में सूत्र, कारिका, वृत्ति, टिप्पणी, भाष्य, वर्तिका, वचनिका, टीका, व्याख्यान आदि प्रचलित थे। आलोचना के भी विभिन्न स्वरूप थे। आलोचना की इन पद्धतियों के साथ-साथ सैद्धान्तिक आलोचना के स्वतन्त्र ग्रंथों की रचना भी आचार्यों ने की। उनमें काव्य और उसके भेदों-उपभेदों तथा रस-अलंकार आदि का विस्तृत विवेचन किया गया। इसी पद्धति ने शास्त्रीय आलोचना को जन्म दिया।

16.3.5 काव्य शास्त्र और समालोचना

काव्य के लक्षण, उसके नियम, सिद्धान्त आदि का स्पष्टीकरण काव्य के भेदोपभेदों की व्याख्या और वर्गीकरण तथा मानदण्ड स्थिर करना काव्यशास्त्र का उद्देश्य है। समालोचना में कभी कभी सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण भी होता है, पर वास्तव में किसी अन्य मान्य सिद्धान्त या काव्यशास्त्र के आधार पर किसी कृति की समीक्षा करना— अर्थात् व्याख्या, विश्लेषण एवं मूल्यांकन करना समालोचना है। काव्यशास्त्र साहित्य के मानदण्डों का निर्माण करता है। समालोचना उसका अनुगमन करती है। समालोचना सिद्धान्तों की खोज नहीं करती प्रत्युत बने-बनाए सिद्धान्तों को व्यवहार में लाती है। सिद्धान्त-निर्माण का कार्य काव्यशास्त्र का है।

प्राचीन हिन्दी आलोचना हेतु जिन पद्धतियों को अपनाया गया उनमें टीका-पद्धति बड़ी महत्वपूर्ण है। टीका शब्द का सामान्य अर्थ है — किसी ग्रन्थ की व्याख्या या विवृति/विशेष अर्थ के अनुसार टीका का अर्थ है विषय और दुरुह पदों की व्याख्या करना। टीका संक्षिप्त एवं स्पष्ट होती है तथा विषय से सीधे सम्बद्ध होती है। एक दूसरे के मत के अनुसार टीका केवल विषय पदों की व्याख्या ही नहीं प्रत्युत मूल के सुगम और दुर्गम समस्त पदों की निरन्तर व्याख्या है। "टीका निरन्तर व्याख्या" तथा "सुगमना विषमाणा च निरन्तर व्याख्या।"

संस्कृत साहित्य में टीका पद्धति बहुत प्रचलित थी। इस पद्धति में मूल ग्रन्थ के प्रायः आवश्यक पदों की व्याख्या मिलती है। अतः पदों की चाहे वे दुर्गम हो या सुगम, सुस्पष्ट, सरल एवं संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करना ही "टीका" है।

संस्कृत का टीका साहित्य मौलिक साहित्य के परिणाम ने कहीं अधिक विशाल है। इसका कारण संस्कृत में मौलिक साहित्यकारों या चिंतकों का अभाव नहीं है, अपितु संस्कृत साहित्य की गंभीरता और गहनता ही इस का कारण है। अनेक बार टीकाओं पर पुनः टीकाएँ लिखी गई तथा कथ्य पक्षों की पुनः पुनः नये दूसरी व्याख्या की गई। इस प्रकार टीका साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। अनेक टीकाओं में पुरानी व्याख्याओं पर नये विचार, नयी दिशाओं में उनका विकास, नये अर्थों तथा आयामों की खोज तथा नये ढंग से मूल्यांकन आदि बातें मिलती हैं।

कुमार संभव, रघुवंश, मेघदूत, शिशुपाल वध, नैषध चरित आदि पर मल्लिनाथ की टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। मम्मट के काव्य प्रकाश पर चालीस से अधिक टीकाएँ लिखी गयीं। नाटकों पर राघव भट्ट की टीकाएँ सर्व-विदित हैं।

हिन्दी में संस्कृत के टीका शब्द को उसी अर्थ में लिया गया, उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया, मध्यकालीन भक्ति और रीतिकाल पर ब्रजभाषा में अनेक टीकाएँ मिलती हैं, जैसे, "चौरासी वैष्णवन की वार्ता", "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" पर गुसाई हरि राय की भाव प्रकाश टीका, 'साहित्य-लहरी' पर सरकार कवि कृत टीका, 'भक्त माल' पर (प्रयादास की टीका आदि) 'बिहारी सहरह' और 'रामचरित मानस' पर बहुत सारी टीकाएँ लिखी गईं। ब्रजभाषा में गद्यलेखन का प्रादुर्भाव ही टीका लेखन के रूप में हुआ। इस संबंध में हरिचरण दास कृत "बिहारी सतसई टीका" (1777) और 'कवि प्रभा टीका', जानकी दास कृत "रामचन्द्रिका टीका" (1915) लल्लू लाल कृत "लाल चन्द्रिका" (1919), सरदार कवि कृत "रसिक (प्रया टीका)" (1946), "कवि (प्रभा टीका) (1954), आदि प्रसिद्ध हैं। ब्रज भाषा गद्य का एक और रूप कवियों द्वारा अपनी ही काव्य-रचनाओं की टीका के रूप में मिलाता है, जैसे-केशव दास कृत 'कवि (प्रभा टीका)' तथा बिहारी की 'सतसई टीका'।

आलोचना में जो सूक्ष्म दृष्टि, कवि के भीतर बैठ कर कवि के व्यक्ति की वाख्या, काव्य का विश्लेषण विवेचन, कृति का मूल्यांकन आदि बातें होती हैं, वे टीका में नहीं होती। टीका वस्तुतः काव्य शास्त्र से भी भिन्न है। काव्य के लक्षण, नियम, सिद्धान्त आदि का स्पष्टीकरण, काव्य के भेद-प्रभेदों की व्याख्या और वर्गीकरण तथा अन्ततः मानदण्ड स्थिर करना काव्य शास्त्र का उद्देश्य है। पर टीका

में कुछ सिद्धांतों का सहारा मात्र मिल जाता है। विस्तार से उन पर विचार करने का इस में अवसर नहीं होता। अतः आज के युग में जहाँ समालोचना अत्यंत विशद, विस्तृत एवं गहन हो गई है, वहीं टीका पद्धति अप्रचलित सी हो गई है। अपनी अपूर्णता के कारण आज इस पद्धति का उपयोग लगभग नहीं होता।

संस्कृत साहित्य में टीका पद्धति के अलावा अनेक प्रकार की पद्धतियाँ प्रचलित हुई, जैसे- सूत्र, कारिका, कृति, टिप्पणी आदि। इनके विषय में संक्षिप्त जानकारी निम्न प्रकार है: सूत्र: सूत्र का साधारण अर्थ है- सूत, धागा, यज्ञोपवीत या डोरी। पर इसका विशिष्ट अर्थ है "सरलता से स्मरण रखने के लिए रचे गये अत्यंत छोटे वाक्य जिनमें अत्यधिक सार या गंभीर अर्थ अनुबद्ध कर दिया गया हो"।

सूत्र प्रायः गद्यात्मक होकर भी पद्यात्मक भी होते हैं। संस्कृत में योग सूत्र, ब्रह्म सूत्र, पूर्व सूत्र मांसा सूत्र, गौतम सूत्र आदि प्रसिद्ध हैं।

कारिका: इस शब्द का सामान्य अर्थ है- क्रिया, कार्य, वाणिज्य, व्यापार आदि। विशेष अर्थ है- "दर्शन, व्याकरण, साहित्य आदिशास्त्रों पर लिखे गये एवं थोड़े शब्दों में बहुत-सा शास्त्रार्थ व्यक्त करने वाले श्लोक विशेष।" छन्दोबद्ध होने के कारण इन्हें याद रखना सरल ज्ञान पड़ता है।

कारिका में शब्द की भौति स्मरण रखने तथा सूत्र की भौति अधिक बातों को थोड़े शब्दों में कहने की सुविधा होती है। संस्कृत का कारिका साहित्य बहुत ही विशाल गंभीर एवं महत्वपूर्ण है। नागार्जुनाचार्य को कारिका शैली का प्रवर्तक माना जाता है। नाट्य शास्त्र पर भरत मुनि की कारिकाएँ बंजो 'भरत सूत्र' के नाम से जानी जाती हैं, बहुत प्रसिद्ध हैं। साहित्य शास्त्र पर मम्मट की 143 कारिकाएँ प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में कारिकाओं का प्रचलन नहीं है।

वृत्ति: इस शब्द का साधारण अर्थ है- सत्ता, भाव, स्वभाव, व्यावहार या आचरण। विशेष अर्थ है- 'किसी मौलिक ग्रंथ, विशेषतः सूत्रग्रंथ की सूक्ष्म-संक्षिप्त विकृति या टीका, जैसे- 'अष्टाध्यायी' पर ज्यादिव्य और वामन द्वारा रचित 'कारिका-वृत्ति सामान्यतः भाष्य की अपेक्षा संक्षिप्त होती है।

आगे चलकर इस शब्द का विस्तार हुआ और किसी ग्रंथ के वाक्य या टीका को भी कृति कहा जाने लगा। वृत्ति की एक और पारिभाषा है- एक रस अर्थ के भीतर दूसरे नये अर्थ को प्रकट करने वाली गूढ़ शब्द रचना।"

16.3.6 टिप्पणी

इस शब्द का अर्थ है- संसक्षिप्त टीका, विषम स्थलों की व्याख्या या टीका की टीका आदि। हिन्दी में 'टिप्पणी' शब्द प्रयुक्त अंग्रेजी 'नोट' (Note) शब्द का अर्थ देता है। टीका शब्द का एक अर्थ है आलोचना, दोष दर्शन, छिद्रान्वेषण या नुक्ता चीनी भी है। इसके पर्याय टीका, विवृति, व्याख्या आदि शब्द हैं। व्याख्या विस्तृत होती है, टीका भी अपेक्षाकृत विस्तृत ही होती है, पर टिप्पणी तो टीका की टीका होने के कारण उसका अपेक्षाकृत कम विस्तार होता है। टीका में आये दुरुह और अस्पष्ट स्थलों को इसके माध्यम से स्पष्ट किया जाता है। आजकल शोध-संदर्भ ग्रंथ में किसी विशेष बात को स्पष्ट करने के लिए ऊपर संकेत देकर नीचे फुट-नोट (Footnote) में टिप्पणी देने की प्रथा बहुत प्रचलित है।

दुरुह और अस्पष्ट शब्दों के अलावा व्याख्या, पुष्टि, समर्थन आदि हेतु दूसरे विद्वानों के वाक्यों, पारिभाषिकों आदि को भी टिप्पणी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

16.3.7 भाष्य

साधारण अर्थ है- वचन, उक्ति आदि। विशेष अर्थ है- सूत्र ग्रंथों के विशिष्ट शैली में लिखे गये भाष्य, जैसे- शंकराचार्य के ब्रह्म-सूत्र भाष्य, पतंजलिकृत महा भाष्य आदि।

इस शैली की व्याख्या में पहले सूत्र पदों की संक्षिप्त सूत्रात्मक वाक्यों में अर्थ देकर फिर उन वाक्यों के पदों की भी विशेष व्याख्या की जाती है और इस प्रकार समस्त सूत्र स्पष्ट हो जाता है। भाष्य के माध्यम से प्राचीन काल में क्लिष्ट सूत्रों को सरल शैली में समझाने का प्रयत्न किया जाता था। हिन्दी में भाष्य प्रचलित नहीं है।

16.3.8 वार्तिका

"वृत्ति रूपेण कृतो ग्रन्थो वर्तिमान्।" अर्थात् कल्पित, अकल्पित या अस्पष्ट कल्पित अर्थ को स्पष्ट करने वाले नियमों के अन्तर्गत व्याख्या करना। वर्तिकाता नियम संक्षिप्त और गद्यात्मक होते हैं। अधिकांश रूप से 'वर्तिका' व्याख्या का टीका के रूप में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में वार्तिका की परिपाटी नहीं है।

16.3.9 व्याख्यान

किसी ग्रंथ के पदों की क्रमशः शब्दार्थ तथा तात्पर्य के साथ पूरी व्याख्या करना व्याख्यान कहलाता है। इस प्रकार की प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपरोक्त प्रकार की विविध व्याख्या विवेचना की पद्धतियाँ प्रचलित थीं, जिनमें से अनेक का प्रयोग हिन्दी में नहीं होता। प्राचीन टीका पद्धति का ही आगे चलकर आलोचना, समीक्षा आदि में विकास हुआ। आलोचना के विकास को समझने में तथा उसके इतिहास को प्रस्तुत करने में प्राचीन टीका पद्धति आदि का अपना बिजी विशिष्ट महत्व है, इसमें कोई शंका नहीं।

16.4 सारांश

प्राचीन काल में किसी पुस्तक या रचना को पढ़ने के बाद उस पर प्रतिक्रिया (आलोचना) व्यक्त करने की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं। इन पद्धतियों में सूत्र, कारिका, वृत्ति, टिप्पणी, भाष्य, वर्तिका, व्याख्यान, टीका आदि प्रसिद्ध हैं। अनेक पद्धतियों में से टीका पद्धति अधिक लोक प्रिय हुई। संस्कृत एवं हिन्दी के अनेकानेक ग्रंथों पर कई टीकाएँ लिखी गईं।

टीका-पद्धति के अन्तर्गत मूलग्रंथ के प्रायः आवश्यक सभी पदों की व्याख्या मिलती है। अतः सुगम या दुर्गम-समस्त पदों की सुस्पष्ट, सरल एवं संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करना ही टीका है।

हिन्दी के मध्यकालीन साहित्यमें लगभग सभी प्रमुख ग्रंथों की अनेक टीकाएँ लिखी गईं। आजकल टीका पद्धति का प्रयोग सुप्त प्रायः सा हो गया है। टीका पद्धति का ही विकास आलोचना एवं समीक्षा में हुआ। प्राचीन टीका पद्धति का अब केवल ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है जिसका आलोचना के इतिहास को प्रस्तुत करने में उल्लेख-मात्र किया जाता है।

16.5 पारिभाषिक शब्दावली

रसास्वादन	:	रस की अनुभूति
साहित्य मर्मज्ञ	:	साहित्य को समझने वाले भावक, सहृदय या आलोचक
प्रतिभा	:	विशिष्ट बौद्धिक क्षमता
कारिणी प्रतिभा	:	निर्माणकारी प्रतिभा या रचनात्मक क्षमता; जैसे कवि में होती है।

भावयित्री प्रतिभा : भावन या अनुभूति करने की क्षमता, जैसी सहृदय, आलोचक या मर्मज्ञ में होती है।

सूत्र : सरलता से स्मरण रखने योग्य सारगर्भित वाक्य।
टिप्पणी : संक्षिप्त टीका या नोट
संप्रेषण : किसी विचार या भाव को दूसरे तक पहुँचाना
भाष्य : व्याख्या

16.6 अभ्यास

16.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. टीका पद्धति क्या है? विस्तार से समझाइए।
2. संस्कृत और हिन्दी के टीका साहित्य पर प्रकाश डालिए।
3. टीका पद्धति से आलोचना तक के विकास क्रम को समझाइए।

16.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)

1. प्राचीनकाल में समीक्षा की कौन-कौन सी पद्धतियाँ प्रचलित थीं?
2. आलोचना क्या है? और उसमें टीका का क्या स्थान है?
3. आलोचना और टीका की तुलना कीजिए।

16.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

16.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: टीका पद्धति क्या है? विस्तार से समझाइये।

उत्तर: प्राचीनकाल में जो समीक्षा की विविध पद्धतियाँ प्रचलित थीं, उनमें टीका पद्धति बड़ी महत्वपूर्ण है। संस्कृत के कई प्रसिद्ध ग्रंथों की अनेकानेक टीकाएँ लिखी गईं। उसी प्रकार हिन्दी में भी बिहारी-सतसई रामचन्द्रिका, राम चरित मानस आदि पर कई टीकाएँ लिखी गईं।

टीका पद्धति का सामान्य अर्थ है- किसी रचना की व्याख्या या विवृति। विशेष अर्थ के अनुसार टीका का अर्थ है- विषय, दुरूह या कठिन पदों या अंशों की व्याख्या कर उन्हें स्पष्ट रूप से समझाना। ध्वनि, रस, अलंकार, कवि के उद्देश्य तथा पद सौन्दर्य को भी साथ-साथ स्पष्ट करना टीका का उद्देश्य होता है। इस प्रकार कवि की कृति के क्लिष्ट अनजाने स्थलों की टीकाकार व्याख्य करता है तथा काव्यगत सौन्दर्य का उद्घाटन करता है।

टीका संक्षिप्त एवं सटीक होती है। कम से कम शब्दों का उपयोग कर इस पद्धति में अधिष्ट बात स्पष्ट रूप से समझा दी जाती है। टीका विषय से सीधे सम्बन्ध होती है, अतः इस में टीकाकार को इधर-उधर भटकने का अवकाश नहीं होता। एक अन्य मत के अनुसार टीका का अर्थ केवल विषयों की व्याख्या करना नहीं है, प्रत्युत मूलग्रंथ के सुगम, सरल या क्लिष्ट-दुर्गम आदि स्पष्ट पदों की पूर्ण एवं निरंतर व्याख्या करना है।

संस्कृत साहित्य में टीका-पद्धति काफी प्रचलित है। इस पद्धति में मूल ग्रंथ के प्रायः सभी आवश्यक पदों की व्याख्या मिलती है। अतः सारे पदों की सुस्पष्ट, सरल एवं संक्षिप्त व्याख्या करना ही टीका है। संस्कृत का टीका साहित्य मौलिक साहित्य की अपेक्षा परिमाण में कहीं अधिक है। हिन्दी में भी मध्य युगीन साहित्य-ग्रंथों की अनेक टीकाएँ मिलती हैं। किंतु अब आधुनिक साहित्य में टीका पद्धति प्रायः लुप्त हो गई है और 'आउट ऑफ डेट' समझी जाती है।

16.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: प्राचीन काल में समीक्षा की कौन-कौन सी पद्धतियाँ प्रचलित थीं?

उत्तर: प्राचीन संस्कृत साहित्य में किसी भी पुस्तक की समीक्षा करने हेतु निम्न लिखित पद्धतियाँ प्रचलित थीं- सूत्र, कारिका, वृत्ति, टिप्पणी, भाष्य, वर्तिका, वचनिका, टीका, व्याख्यान आदि। इन सभी पद्धतियों के अलग-2 उद्देश्य थे। कुछ का उद्देश्य का क्लिष्ट स्थलों को समझाना और स्पष्ट करना तो कुछ का केवल मात्र व्याख्या करना या सूत्र रूप में याद रखने योग्य वाक्य कह देना। इनमें से सबसे अधिक प्रचलित हुई टीका पद्धति क्योंकि वही रचयिता और पाठक के बीच में कड़ी का काम दे सकने की क्षमता रखती थी। इस पद्धति के अनुसार संस्कृत साहित्य में तथा मध्य युगीन हिन्दी साहित्य में लगभग सभी प्रसिद्ध ग्रंथों पर टीकाएँ लिखी गई। टीकाओं का भी अपना एक विशिष्ट साहित्यिक महत्व समझा जाता था।

16.8 पठनीय पुस्तकें

- | | |
|-----------------------------------|-------------------------------|
| 1. हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ | : स. डॉ. रामेश्वर लाल खडेलवाल |
| 2. भारतीय काव्य शास्त्र | : डॉ. भगीरथ मिश्र |
| 3. हिन्दी आलोचना: बीसवीं शताब्दी | : डॉ. निर्मला जैन |
| 4. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका | : डॉ. नगेन्द्र |
| 5. साहित्यालोचन | : श्याम सुंदर दास |

इकाई-17: काव्य शास्त्रीय निर्णयात्मक आलोचना

- 17.0 विषय प्रवेश
- 17.1 पाठ का उद्देश्य
- 17.2 पाठ-परिचय
- 17.3 मूल पाठ
- 17.4 सारांश
- 17.5 पारिभाषिक शब्दावली
- 17.6 अभ्यास
 - 17.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)
 - 17.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)
- 17.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 17.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 17.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 17.8 पठनीय पुस्तकें

17.1 पाठ का उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में 'काव्य शास्त्रीय निर्णयात्मक आलोचना' पर विचार किया गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- निर्णयात्मक आलोचना के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- व्याख्यात्मक आलोचना और निर्णयात्मक आलोचना के भेद पर प्रकाश जाल सकेंगे।
- आलोचक के गुणों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- निर्णयात्मक आलोचना के इतिहास पर प्रकाश डाल सकेंगे।

17.2 पाठ परिचय

आलोचना का अर्थ है सम्यक परीक्षण करना या देखना। यह शब्द आ+लोच्+अन+आ से बना है। लोच् या लुच् का अर्थ है- देखना। इस प्रकार किसी वस्तु या कृति की सम्यक व्याख्या, उसका यथार्थ मूल्यांकन आदि करना ही आलोचना है। आलोचक किसी कवि या लेखक की कृति को देखता या परखता है। आलोचना लेखक और पाठक के बीच की रसमय, सार्थक एवं वैज्ञानिक श्रृंखला है। यदि साहित्य को जीवन की व्याख्या माना जाय, तो आलोचना साहित्य की व्याख्या है, बल्कि वह उस व्याख्या की व्याख्या है। अपनी सर्वांगीण व्याख्या द्वारा आलोचक किसी कलाकृति के अनजाने- अनचाहे पक्षों का उद्घाटन करता है तथा उस कलाकृति के रसास्वादन का आनन्द और बढ़ा देता है।

आलोचक पाठक का अच्छा मित्र एवं पथ प्रदर्शक होता है। वह कलाकृति की सम्यक व्याख्या द्वारा नवीन पक्षों का उद्घाटन करता है। अतः यह अपेक्षित है कि आलोचक रसिक, विद्वान, मर्मज्ञ, सहृदय, निष्पक्ष एवं गुण ग्राही हो। अंग्रेजी में आलोचक को 'क्रिटिक' (Critic) कहते हैं और क्रिटिक शब्द का अर्थ वास्तव में 'अलग करना' (to separate) होता है। आलोचक का लक्ष्य होता है, कृति के गुण-दोष को अलग करके, उसके अन्तस्तत्त्वों का सम्यक उद्घाटन करना और तत्पश्चात् उसका निर्णयात्मक मूल्यांकन करना। पाश्चात्य देशों में साहित्यगत उत्तमोत्तम बातों को जानना और उसका पाठकों को पूरा-पूरा ज्ञान कराना ही आलोचना का उद्देश्य माना गया है।

17.3 मूल पाठ

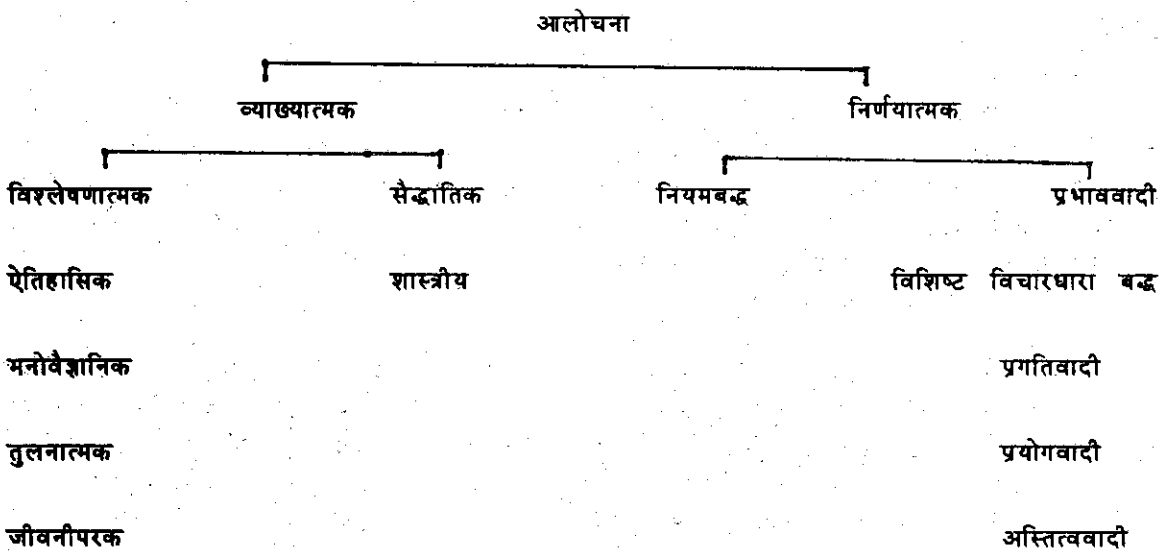
आलोचना शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से आ+लोच्+अन्+आ से बना है। लोच् शब्द का अर्थ है- देखना। किसी कृति के गुण-दोषों का सूक्ष्मता से देखना ही आलोचना है। जहाँ साहित्य जीवन की व्याख्या है, वहाँ आलोचना उस व्याख्या की भी व्याख्या है। राजशेखर ने कवि कर्म को प्रकाश में लाना ही 'भावयित्री' प्रतिभा? अथवा 'आलोचक की प्रतिभा' कहा है। जहाँ कारयित्री प्रतिभा के द्वारा कवि अपनी काव्य कृति का सृजन करता है।

आलोचना के दो पक्ष होते हैं- सैद्धांतिक और व्यवहारिक। ये दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। प्राचीन भारतीय आलोचना में सिद्धांत पक्ष की महिमा विशेष थी, किंतु आज के साहित्यलोचन में व्यवहारिक पक्ष ही प्रबल एवं महत्वपूर्ण है। हिन्दी में व्यवहारिक आलोचना का व्यापक प्रचार पाश्चात्य समीक्षा के प्रभाव से ही हुआ। आलोचना के कई प्रकार होते हैं, किंतु मूलतः सब का उद्देश्य एक ही है, अर्थात् लेखक की कृति का विश्लेषण, मूल्यांकन आदि करना तथा पाठकों की रुचि का परिष्कार एवं परिमार्जन करना। आलोचक किसी कृति के अन्तर्बाह्य का उद्घाटन ही नहीं करता, वरन् कवि का मार्ग दर्शन भी करता है। इसी कारण अंग्रेजी आलोचक मैथ्यू अर्नाल्ड जैसे विद्वानों ने आलोचक को युग से भी बड़ा माना।

किसी कृति की आलोचना करते समय आलोचक को केवल कवि तथा कृति पर ही विचार नहीं करना पड़ता अपितु कवि की समकालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों पर भी विचार करना पड़ता है। कवि की जीवनी तथा उसके मनोवैज्ञानिक पक्षों पर विचार करते हुये उसके प्रकाश में ही कृति को देखना परखना पड़ता है।

आलोचना के ध्येय के संबंध में जब हम विचार करते हैं, तब समय-समय पर पाई जाने वाली भिन्न-भिन्न विचार धाराएँ सामने आती हैं। प्राचीन भारत वर्ष में रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि पर आधारित आलोचना पद्धतियाँ प्रचलित थीं। पश्चिम में नैतिकता, सौन्दर्य, सौष्ठव (organic unity) शास्त्रीयता आदि से संबंधित विचारधाराएँ प्रचलित थीं। अनेक पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार आलोचना का सर्वोत्तम ध्येय, सर्वोत्कृष्ट साहित्य एवं सांस्कृतिक परंपराओं का निर्वाह करना ही है। मानव जीवन की आधारभूत एकता तथा कलात्मक मूल्यों के माध्यम से मानव मूल्यों की रक्षा करना ही आलोचना का एकमात्र उद्देश्य है।

आलोचना के प्रकार:



प्रमुख रूप से आलोचना के दो प्रकार हैं:

1. व्याख्यात्मक
2. निर्णयात्मक

निर्णयात्मक आलोचना को अंग्रेजी में जूडिशियल क्रिटिसिज़्म (Judicial Criticism) कहते हैं। निर्णयात्मक आलोचना का अर्थ है- आलोचक द्वारा कलाकृति के विश्लेषण के माध्यम से उन मूल्यों की खोज करना, जिनके आधार पर कृति या कृतिकार के स्थान एवं महत्व का निर्णय किया जा सके। आलोचक ऐसा निर्णय तभी ले सकता है जब वह स्वयं गंभीर, विद्वान, अध्येता, निष्पक्ष निर्णय लेने वाला तब। विवेक दृष्टि से सृष्टि को देखने वाला हो। यदि आलोचक में संकीर्णता या पक्षधरता होगी तो उसका निर्णय गलत पक्षपात पूर्ण एवं हानिकारक होगा। इस आलोचना पद्धति में आलोचक का स्थान लेखक से ऊँचा होता है। उसका निर्णय भी ऐतिहासिक महत्व की वस्तु हो जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत सामान्यतः अन्य सारी आलोचना पद्धतियों का समावेश हो जाता है। वस्तुतः आलोचक अन्य सभी पद्धतियों के आधार पर लेखक की कृति की साहित्यिक गुणवत्ता का विश्लेषण-विवेचन करने के बाद उसके संबंध में अपना संतुलित निर्णय देता है। आलोचक अपनी सूक्ष्म दृष्टि से कलाकृति की गहराई की छाह पाता हुआ उसमें अन्य मूल्यों की खोज करता है, जिनके माध्यम से लेखक की सृजनशक्ति का उद्घाटन हुआ हो। वह कृति के रूप-स्वरूप रचना-विधान तथा वस्तु का पूरा पूरा परीक्षण करता है। निर्णयात्मक आलोचना की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि किसी भी कला कृति के अन्तर्बाह्य के पूर्ण परीक्षण के बाद उसके महत्व, मूल्य एवं इतिहास में उसके स्थान के विषय में आलोचक को निर्णय देना है, उसे निर्णयात्मक आलोचना कहा जाता है।

निर्णयात्मक आलोचना का इतिहास:

प्रचीन भारत में कवि की किसी भी कृति का सम्यक् मूल्यांकन विद्वान लोग किया करते थे। वे लोग किसी पद्धति-विशेष द्वारा कवि की कृति का परीक्षण करने के बाद निर्णय दिया करते थे। अतः भारतीय काव्य शास्त्र का सारा ध्यान कृति के मूल्यांकन द्वारा उसके प्रति निर्णय देने में ही था। भामह, दण्डी, वामन, कुंतक, राजशेखर, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ पंडित आदि प्रसिद्ध आचार्यों ने विविध पद्धतियों को अपनाकर कृति के मूल्यांकन तथा निर्णय की बात कही।

यूरोप में भी यह प्रणाली काफी पुरानी है। वस्तुतः यह नैतिक आलोचना का ही एक प्रकार है। इस आलोचना प्रणाली के अनुसार उन मूल्यों की खोज की जाती है, जिनके प्रभाव के परिणाम स्वरूप कलाकार ने सर्जना की है। साथ ही उसके द्वारा रूप-स्वरूप और रचना-प्रक्रिया का भी मूल्यांकन हो जाता है। यूनान (greece) में आलोचना प्रणाली का सूत्रपात होकर से माना जाता है। होकर के बाद यूनानी आलोचक सो फिस्टस (तार्किकों) का स्थान है। वे भाषण कला और व्याकरण में निपुण होते थे और वे अपने वक्तव्यों को अधिक से अधिक गूढ़ और चमत्कार पूर्ण बनाने की चेष्टा करते थे।

प्लेटो ने कला का आधार नैतिक और दार्शनिक सत्य माना तथा उसे उपदेश से जोड़ दिया। अतः प्लेटो ने समाज सापेक्ष कलाओं को ही कहत्व दिया। दूसरी ओर अरस्तू ने कल्पनात्मक आनुकरण द्वारा सौन्दर्य को अधिक महत्व दिया। अतः कला के सौन्दर्य पक्ष पर बल देकर उसे समाज निरपेक्ष बताया। लौजायनस ने कला में उच्च विचार, तीव्र मनोवेग तथा गरिमायुक्त विशिष्ट भाषा-शैली को महत्वपूर्ण माना। यूरोपीय मध्य युग में आलोचकों का ध्यान अर्थ की अपेक्षा शब्द-योजना, रूप सौन्दर्य और बाहरी कलेवर की ओर अधिक गया।

नवशास्त्रवादी समीक्षकों ने शास्त्रीय नियम बद्धता को आवश्यक ठहराया। रोमांटिक काल के कवियों ने तथा आलोचकों ने सूक्ष्मता, उन्मुक्तता, सौन्दर्य और भावोद्देक को विशिष्ट महत्व प्रदान किया। यूरोप में मनोविज्ञान के साथ-साथ मनो वैज्ञानिक पद्धति का जन्म हुआ। इसी प्रकार व्याख्यात्मक, विश्लेषणात्मक, तुलनात्मक, ऐतिहासिक, निर्णयात्मक आदि अनेक आलोचना पद्धतियों का विकास हुआ। निर्णयात्मक (Judicial) आलोचना का विकास यूरोप में मध्य युग में हुआ। डॉ. जानसन ने इसी समीक्षा पद्धति को अपनाकर

निर्णयात्मक आलोचना:

निर्णयात्मक समीक्षा का आधार और लक्ष्य व्याख्यात्मक समीक्षा के आधार और लक्ष्य से भिन्न होता है। इसका आधार है- साहित्य और कला क्षेत्र में मान्य प्रचलित नियम। इस पद्धति के अन्तर्गत अपरिवर्तनशील मानों को आधार बनाकर साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है। स्थायी सिद्धान्तों पर अधिक बल देने के कारण साहित्य के निर्माणकारी तत्वों की इस पद्धति में अक्सर उपेक्षा की जाती है। सर्जक के व्यक्तित्व, उसके गुण तथा वातावरण से प्राप्त जिन सूक्ष्म तत्वों का कला कृति के निर्माण में योगदान मिलता है, उन पर अक्सर निर्णयात्मक समीक्षक ध्यान नहीं देता।

इस समीक्षा पद्धति में आलोचक निर्णायक के समान होता है। वह कृति की महत्ता या लघुता का निर्णय देता है तथा उसकी गुणवत्ता का निश्चय करता है। कृति के गुणदोष का विश्लेषण कर, वह उस कृति का स्थान और महत्त्व निर्धारित करता है। वह कवियों और कृतियों की कोटियाँ बनाता है। निर्णयात्मक आलोचना जिन सिद्धान्तों पर आधारित होती है, वे सिद्धांत विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, वे शुद्ध साहित्यिक मान वाले भी हो सकते हैं और साहित्येतर मान वाले भी। पर ये रुढ़ होते हैं। अतः समीक्षक को स्वतंत्रता प्रदान नहीं करते।

भारतीय 'रस-सिद्धांत' साहित्य की आत्मा से संबंधित सिद्धांत है, पर अपने रुढ़ रूप में यह सिद्धांत आज के साहित्य का मानदण्ड नहीं बन सकता। इसी प्रकार नैतिकता, मर्यादा, सामाजिक महत्ता, उपादेयता आदि साहित्येतर बातें भी उपयोगी नहीं होतीं। अतः निर्णयात्मक आलोचना के पक्षपात पूर्ण बन जाने की संभावना सदैव बनी रहती है। फिर भी निर्णयात्मक समीक्षा का महत्त्व कम नहीं है। व्याख्यात्मक समीक्षा से संयुक्त हो जाने पर इस पद्धति का मूल्य बढ़ जाता है। पर व्याख्या एवं विश्लेषण के बिना निर्णयात्मक आलोचना मात्र प्रशंसात्मक या निन्द्यत्मक हो सकती है।

आलोचक वस्तुतः मूल्यों का निर्णायक है। आलोचक का यह कर्तव्य है कि वह उन मूल्यों की खोज करें, जिनके प्रभाव से कलाकार में रचनात्मक क्रियाशीलतापूर्ण प्रतिभा जगती और विकसित होती है। जीवन और कला की दृष्टि से उन मूल्यों का महत्त्व बतलाना ही उसका कार्य है।

हिन्दी आलोचना का द्विवेदी काल निर्णयात्मक समीक्षा का स्वरूप प्रस्तुत करता है। उस काल में निर्णयात्मक समीक्षा की दो धाराएँ, दो प्रकार के सिद्धांतों पर आधारित दिखाई पड़ती हैं। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा अन्य लेखक साहित्य में नैतिकता, उपयोगिता, सादगी आदि गुणों को अनिवार्य मानते थे। दूसरी ओर लाला भगवान दीन, पं. पद्म सिंह शर्मा आदि रीति वादी सिद्धांतों को मूल्यांकन की कसौटी मानते थे। इस युग की निर्णयात्मक समीक्षा गुण-दोष विवेचन तथा तुलनात्मक पर आधारित थी।

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल की समीक्षाओं में व्याख्यात्मक एवं निर्णयात्मक समीक्षा का बड़ा ही संतुलित स्वरूप दिखाई पड़ता है। शुक्ल जी ने कृति की व्याख्या की, कलात्मक विश्लेषण किया, पर साथ ही कृति की महत्ता या लघुता का निर्णय देना वे नहीं भूले। आचार्य शुक्लजी की इस निर्णयात्मक समीक्षा पद्धति अनुसरण उनके अनुयायियों ने भी अपने ढंग से किया। इनमें पं. विश्व नाथ प्रसाद मिश्र प्रमुख हैं। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी भी व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक समीक्षा का संतुलन बनाए रखना आलोचक के लिए अनिवार्य मानते हैं।

बाबू श्याम सुन्दर दाश के अनुसार निर्णयात्मक आलोचना में आलोचक न्यायाधीश के रूप में आता है। फैसला देना उसका काम है। उसकी जिज्ञासा 'इस काव्य में क्या है?' न होकर 'यह काव्य कैसा होना चाहिए था?' इस रूप में होती है। वह देखता है कि काव्य एक निश्चित आदर्श के अनुरूप है या नहीं। अपनी निश्चित साहित्याभिरुचि के मानदंड से वह उस कृति को देखता है और नवीनता पर नियंत्रण रखता है। वह साहित्यिक कृतियों को अपनी विचार पद्धति के मेल में देखने का प्रयत्न करता है। ऐसी आलोचना भले-बुरे का फैसला देने के कारण साहित्य की प्रगति को अवरुद्ध करने वाली होती है। आलोचक कला के सम्पूर्ण स्वरूप-उत्पादन, माध्यम आदि का मूल्य निर्धारित करना चाहता है, जो कि असंगत है, क्योंकि कला का एक ही अंग मूल्य निर्धारण का विषय बन सकता है, सभी

नहीं। सही फैसला देने के लिए किसी प्रामाणिक मापदण्ड की आवश्यकता है, जिसके अधर पर परख कर कोई फैसला दिया जा सकता है। अतः साहित्य के क्षेत्र में प्रमाण क्या हो सकते हैं, यह देखना चाहिए।

निर्णयात्मक आलोचना के मानदण्ड दो प्रकार के हो सकते हैं:

1. संस्थागत
2. अन्तः करण प्रेरित

जब किसी आलोचना संस्था की सम्मति को प्रामाणिक माना जाता है, तब उसे संस्थागत निर्णयात्मक आलोचना की संज्ञा दी जाती है। जैसे फ्रांस की 'एकेडमी'। मैथ्यू अर्नाल्ड ऐसी संस्था का समर्थन करते हैं। इसके विपरीत जब आलोचक कलाकार की आत्मा और स्वयं अपनी आत्मा, इन दोनों को विचार में रखकर साहित्याभिरुचि का ऐसा प्रामाणिक रूप बना लेता है, जो निर्णय करने में सहायक होता है, तब उसे अन्तः करण प्रेरित निर्णयात्मक आलोचना की संज्ञा दी जाती है।

निर्णयात्मक आलोचकों के प्रकार:

अन्ततः निर्णयात्मक आलोचना आलोचक के व्यक्तित्व तथा अभिरुचियों पर निर्भर करती है। निर्णय देने वाले आलोचक तीन प्रकार के होते हैं:

1. वे आलोचक जो अपनी रुचि और भावानुभूति के अनुसार निर्णय देते हैं- वे नियम नहीं जानते और न ही वे शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं।

2. दूसरे वे जो केवल नियमों के आधार पर अपनी सम्मति स्थिर करते हैं।

3. तीसरे वे समीक्षक जो नियमों के विशेषज्ञ होते हैं, शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं, पर नियमों से बंधे नहीं होते।

वे निर्णयात्मक समीक्षक ही श्रेष्ठ होते हैं, जो शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं, पर शास्त्रों से बद्ध नहीं होते और जो रूढ़ नियमों को त्याग कर सत्य की तथा सौन्दर्य की खोज करते हैं। वे व्याख्या तथा विश्लेषण द्वारा किसी कृति के अन्तर्बाह्य का उद्घाटन कर, तभी निर्णय प्रदान करते हैं।

व्याख्यात्मक आलोचना:

जब नियमों के बंधन से मुक्त रहकर और स्वतंत्र रूप से किसी कृति की व्याख्या की जाती है, तब उसे व्याख्यात्मक आलोचना की संज्ञा दी जाती है। किसी भी कलाकृति में प्रतिपाद्य विषय-प्रतिपादन और अनुभव जन्य अभिव्यक्ति- ये तीन बातें ही मुख्य होती हैं। इस दृष्टि से व्याख्याता का उद्देश्य कृति को उसके वास्तविक रूप में देखकर, उसके प्रति निरपेक्ष रुचि उत्पन्न करना होता है। रुचि, आलोचक के पूर्वाग्रह, भावुकता, सैद्धांतिक असक्ति आदि बातों से ऐसी व्याख्या में बाध पहुँचती है। दूसरी ओर प्राचीन नियमों से बंधे होने के कारण निर्णयात्मक आलोचना साहित्य की प्रगति में बाधक हो सकती है।

व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक आलोचना में प्रायः तीन भेद माने जाते हैं।

1. निर्णयात्मक आलोचना उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट-इन श्रेणियों का भेद स्वीकार करती है तथा इसी दृष्टि से कलाकृतियों का परीक्षण करती है एवं उनकी कोटि निर्धारित करती है। व्याख्यात्मक आलोचना इस प्रकार का भेद नहीं मानती। वह कृति के अन्तर्बाह्य के उद्घाटन तथा व्याख्या में ही विश्वास रखती है।

2. निर्णयात्मक आलोचना नियमों का, राजकीय नियमों की तरह अनिवार्य रूप से पालन करती है जबकि व्याख्यात्मक आलोचना बाहरी नियमों की अपेक्षा अन्तः प्रकृति की व्याख्या को स्वीकार करती है।

3. निर्णयात्मक आलोचना स्थिर, दृढ़ एवं रुढ़ नियमों में विश्वास रखती है, जबकि व्याख्यात्मक आलोचना नियमों को प्रगतिशील और परिवर्तनशील मानती है।

वास्तव में उपरोक्त दोनों प्रकार की आलोचना पद्धतियाँ एक-दूसरे पर आश्रित होती हैं। बिना व्याख्या के निर्णय में यथार्थता या सार्थकता नहीं आती और बिना निर्णय के व्याख्या अधूरी रह जाती है। निर्णयात्मक आलोचना अपनी एकात्मिकता के कारण कवि या लेखक का पूरा मूल्यांकन करने में असफल रह सकती है। एक समय ऐसा था जब आलोचकों ने बिहारी और देव को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि निर्णीत किया, किंतु बाद में कृतियों के गहन अध्ययन के पश्चात् उनकी ये मान्यताएँ बदल गईं।

शेक्सपीयर और मिल्टन जैसे महाकवियों पर फैसला देने वाले समीक्षकों—राइमर, एडिसन, जानसन, वाल्टर आदि ने भिन्न-भिन्न ही नहीं, विपरीत निर्णय भी दिये। इन निर्णयों को देखने से समीक्षकों की विचारधारा का ही पता चलता है, शेक्सपीयर या मिल्टन की कला का नहीं। मैथ्यू आर्नाल्ड ने 'टच स्टोन मेथड' (Touch Stone Method) नामक एक पद्धति का विकास किया। इस पद्धति के अन्तर्गत उन्होंने महा कवियों की पक्तियों को मान के रूप में रखाकर, अन्य कवियों का इन मान के आधार पर मूल्यांकन करना चाहा। पर यह पद्धति भी असफल हो गई।

हिन्दी में आचार्य शुक्ल जी ने कबीर, सूर, तुलसी तथा रहस्यवाद के संबंध में जो निर्णय दिये, वे कालान्तर में बदल गये। अतः निर्णय देना बड़ा कठिन ही नहीं, जोखिम भरा काम भी है। निर्णयात्मक आलोचना के दो-एक अति प्रसिद्ध एवं प्रचलित उदाहरण देखें:

1. अपना कालिदासस्य भारवेरर्थं गौरवम्।
भवभूति रस गम्भीर माये सन्ति त्रयोगुणाः॥

2. सूर सूर तुलसी सदी उडुगण केसव दास।
अबके कवि जगोत सम जेही तहीं करत प्रकास॥

उपर्युक्त उदाहरण वास्तव में अनुभूति-प्रधान निर्णयात्मक आलोचना के हैं। जहाँ पर आलोचक काव्य में रस, अलंकार तथा अन्य गुणों की श्रेणी बद्ध समीक्षा करता है, शास्त्रीय आलोचना कहलाती है।

आजकल निर्णयात्मक आलोचना अप्रचलित सी होती जा रही है। इसके स्थान पर विश्लेषण-विवेचन को अधिक महत्व दिया जा रहा है। कवि और कृतियों को अंक देना, उनकी कोटि या श्रेणी निर्धारित करना, उनका स्थान निश्चित करना, किसी को किसी से श्रेष्ठ घोषित करना आदि पद्धति आज लगभग महत्वहीन हो चुकी है। अन्ततः कहा जा सकता है कि विवेकहीन निर्णयात्मक आलोचना साहित्य निर्माण में साधक के बदले बाधक अधिक हो सकती है। अप्रगतिशील नियमों के आधार पर अधिष्ठित होने के कारण वास्तविक साहित्य की अभिवृद्धि में आलोचना का यह प्रकार घातक ही सिद्ध होता है। इसकी तुलना में व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक केवल मात्र व्याख्याता न रहकर, सृष्टा बन जाता है और अपनी सहृदयता का पूर्ण परिचय देता है। ऐसी आलोचना साहित्य का सरस, सार्थक एवं अभिन्न अंग बनकर साहित्य की अभिवृद्धि में साधक व सहायक सिद्ध होती है।

सच्चे आलोचक में एक पारचात्य विद्वान ने भिन्न गुणों को आवश्यक माना है:-

- | | | | | |
|--------------------|----------------|----------|------------------|-----------|
| 1. सुनिश्चितता | 2. स्वातंत्र्य | 3. सूझ | 4. श्रेष्ठ विचार | 5. उत्साह |
| 6. हार्दिक अनुभूति | 7. गंभीरता | 8. ज्ञान | 9. अधिक परिश्रम | |

आलोचक की रचनाकार तथा उसकी रचना के प्रति श्रद्धा, सहानुभूति तथा आदर भावना होनी चाहिए। किसी वैज्ञानिक की भाँति न तो उसे निर्णय ही होना चाहिए और न हृदयहीन हो, क्योंकि उसका काम चीर-फाड़ नहीं। विद्वता, निष्पक्षता, स्वाभाविक प्रतिभा, गुण ग्राहकता, सहृदयता आदि गुणों

के साथ-साथ उसमें परिष्कृत, परिमार्जित साहित्यिक रुचि होनी चाहिए। चाहे आलोचक का साहित्य-जगत आदर न करे, तथापि वह पथ प्रदर्शन और सत्-असत् के विवेचन के कारण साहित्य में विशेष महत्वपूर्ण पद का अधिकारी है। 'सत्' और 'असत्' साहित्य के विवेचन तथा वर्गीकरण के साथ वह साहित्य में असुन्दर तथा सुन्दर की खोज भी करता है और साहित्य के आनन्द के मूल में कार्य करने वाली विभिन्न प्रवृत्तियों का अन्वेषण भी करता है। अपने पक्षपात हीन निर्णय देने के लिए उसमें साहस भी अवश्य होनी चाहिए।

17.4 सारांश

किसी भी कलाकृति का सम्यक् विश्लेषण-विवेचन एवं परीक्षण करना ही आलोचना है। आलोचना के कई प्रकार हैं; जिन्हें मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है:

1. व्याख्यात्मक
2. निर्णयात्मक

पुनः व्याख्यात्मक समीक्षा के दो प्रकार हैं:

1. विश्लेषणात्मक
2. सैद्धान्तिक

विश्लेषणात्मक आलोचना पद्धति के अन्तर्गत ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक, जीवनीपरक आदि पद्धतियों का समावेश होता है।

पुनः सैद्धान्तिक समीक्षा के दो प्रकार होते हैं-

1. शास्त्रीय
2. विशिष्ट विचार धारा से संबद्ध।

निर्णयात्मक आलोचना के अन्तर्गत आलोचक किसी भी कृति के मूल्य एवं महत्व पर निर्णय देते हुए, इतिहास में उसका स्थान निर्धारित करता है। निर्णयात्मक समीक्षा पद्धति अपनाने वाले आलोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह निष्पक्षतापूर्ण व्यवहार करें। उसका विवेकशील, गंभीर, अध्येता, मर्मज्ञ, गुण ग्राहक तथा सहृदय होना भी आवश्यक है।

निर्णयात्मक आलोचना वस्तुतः नैतिक आलोचना का ही एक प्रकार है। निर्णयात्मक आलोचना की परंपरा भारत में तथा प्राचीन यूरोप में (ग्रीस-रोम में) प्रचलित रही है। निर्णयात्मक आलोचना वस्तुतः साहित्यिक या साहित्येतर सिद्धान्तों पर आधारित होती है। अक्सर ये सिद्धांत रूढ़ होते हैं तथा आलोचक एवं लेखक को स्वतंत्रता प्रदान नहीं करते।

व्याख्यात्मक तथा विवेचनात्मक समीक्षा पद्धतियों से मिलकर निर्णयात्मक आलोचना सशक्त हो जाती है। इसके सच्चे स्वरूप का विकास इसी स्थिति में होता है। व्याख्या या विवेचन के अभाव में निर्णयात्मक आलोचना मात्र स्तुतियों निन्दा परक हो जाती है।

आजकल निर्णयात्मक आलोचना अपना महत्व खो चुकी है, क्योंकि अग्रगतिशील नियमों के आधार पर अधिष्ठित होने के कारण वास्तविक साहित्य की अभिवृद्धि में आलोचना का यह प्रकार बाधक या घातक भी सिद्ध होता है।

17.5 पारिभाषिक शब्दावली

मान	: मापने के आधार (- स्टेडर्ड)
सौष्ठव	: पूर्णांग सुन्दरता एवं सुघड़ता
संस्थागत निर्णय	: किसी संस्था विशेष द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार निर्णय देना

अन्तः प्रेरणा	: आत्मा द्वारा प्रेरणा
साहित्येतर सिद्धांत	: साहित्य से बाहर की बातें; जैसे- नैतिकता, उपादेयता, मूल्यवत्त, मनोरंजन आदि।
विवेक	: भले-बुरे का निर्णय करने की क्षमता
प्रतिपाद्य	: विषय वस्तु
प्रतिपादन	: प्रस्तुतीकरण
गुणग्राहकता	: गुणों को ग्रहण करने की क्षमता

17.6 अभ्यास

17.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. निर्णयात्मक आलोचना को विस्तार से समझाइये।
2. आलोचना से क्या तात्पर्य है? उसकी आवश्यकता और उपयोगिता को समझाइये। आलोचक का साहित्य जगत में क्या स्थान है?
3. आलोचना के कितने प्रकार हैं? आलोचना की प्रचलित पद्धतियों पर प्रकाश डालिए तथा उनकी उपयोगिता समझाइये।
4. निर्णयात्मक आलोचना के इतिहास पर प्रकाश डालिए।

17.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)

1. व्याख्यात्मक आलोचना क्या है?
2. आलोचक में क्या गुण होने चाहिए?
3. निर्णयात्मक तथा व्याख्यात्मक आलोचना में क्या भेद है?
4. हिन्दी आलोचना का संक्षिप्त इतिहास दीजिए।

17.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

17.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: निर्णयात्मक आलोचना को विस्तार से समझाइये।

उत्तर: आलोचना की प्रचलित विविध पद्धतियों में से एक है- निर्णयात्मक आलोचना (Judicial Criticism)। इस आलोचना पद्धति में आलोचक कृति का विश्लेषण विवेचन करने के पश्चात् कृति की श्रेष्ठता या निम्नता तथा उसके स्थान के विषय में अपना निर्णय देता है। इस पद्धति में अपेक्षाकृत आलोचक की भूमिका लेखक की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। अतः उसके भूल कर बैठने पर, पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने पर तथा गलत निर्णय लेने पर खतरा भी अधिक है।

इस प्रकार की समीक्षा पद्धति का आधार है- साहित्य और कला के क्षेत्र में मान्य प्रचलित नियम। इसके अन्तर्गत अपरिवर्तन शील मानो (Unchangable standard) को आधार बनाकर साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है। ये मान अधिकतर शब्दबद्ध, परम्परागत एवं रूढ़ होते हैं। अतः आलोचक की स्वतंत्रता का इसमें हनन होता है। साथ ही नियमों में बाधकर किसी भी साहित्यिक कृति की परीक्षा किए जाने पर समीक्षा के निर्जीव तथा यात्रिक बन जाने की संभावना भी अधिक रहती है।

निर्णयात्मक समीक्षा में से ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, मनोवैज्ञानिक कारण, अनुभूति की गहनता, अभिव्यक्ति की नवीनता, शिल्पगत विशेषताओं आदि पर ध्यान नहीं दिया जा सकता। लेखक एवं कृति के उन सूक्ष्म विचार तत्वों के छूट जाने की संभावना होती है, जो नियमों के घेरे में नहीं आ पाते। इस

समीक्षा पद्धति में आलोचक कृति का परीक्षक व निर्णायक बन जाता है। वह कृति की महत्ता या लघुत्ता का निर्णय देता है। ऐसा करने के पश्चात् वह उस कृति का स्थान भी निर्धारित करता है। आलोचक इस प्रकार कवियों एवं कृतियों की कोटियाँ बनाता है।

निर्णयात्मक समीक्षा अक्सर रूढ़िबद्ध सिद्धान्तों पर आधारित होती है। ये सिद्धान्त विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। ये शुद्ध साहित्यिक मान वाले भी हो सकते हैं और साहित्येतर मान के भी, जैसे- नैतिकता, उपयोगिता आदि। ये सिद्धान्त आलोचक को एक संकुचित घेरे में बँध जाने को बाध्य करते हैं। अतः कृति की समीक्षा में उसका निष्पक्ष रह पाना कठिन होता है।

शेक्सपीयर तथा मिल्टन जैसे अंग्रेजी के महाकवियों के विषय में विविध आलोचकों ने विविध निर्णय दिये, जो एक दूसरे से भिन्न ही नहीं, अपितु विरोधी भी रहे। इन निर्णयों के बावजूद उक्त महान् साहित्यकारों के साहित्य की महत्ता कुछ भी कम नहीं हुई। इसी तरह हिन्दी में भी बिहारी एवं देव जैसे कवियों के संबंध में ऐसा ही प्रयत्न किया गया। आलोचक की अपनी मान्यताएँ, पूर्वाग्रह आदि जब भी समीक्षा पर हावी हो जाती हैं, तभी उनके निर्णय गलत हो जाते हैं। इसी लिए सदा साहित्यिक कृति के मूल्यांकन हेतु कुछ ठोस मानदण्डों की जरूरत रहती है, जो विवेकपूर्ण होने चाहिए।

निर्णयात्मक आलोचना के दो प्रकार होते हैं।

1. संस्थागत
2. अन्तःकरण प्रेरित

किसी संस्था की सम्मति को प्रामाणिक मानकर जो निर्णय दिये जाते हैं, उन्हें संस्थागत आलोचना कहते हैं। जब आलोचक अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से प्रेरित होकर, किसी कृति की समीक्षा करता है तथा अपना निर्णय देता है, तब उसकी आलोचना अन्तःप्रेरित होती है।

निर्णयात्मक आलोचना के निम्न लिखित प्रकार हैं:

1. अपनी रुचि एवं मान्यताओं के अनुरूप निर्णय।
2. केवल नियमों के आधार पर निर्णय।
3. नियमों को जानते हुए भी उनसे बद्ध न रहने वाले निर्णय।

निर्णयात्मक आलोचना जब व्याख्यात्मक आलोचना से युक्त होती है तब अधिक विश्वसनीय तथा उपयोगी होती है। हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने व्याख्यात्मक-निर्णयात्मक समीक्षा पद्धति को अपनाया।

आजकल निर्णयात्मक आलोचना अप्रचलित सी होने लगी है। उसके स्थान पर कृति के विश्लेषण-विवेचन एवं व्याख्या को ही अधिक महत्व दिया जा रहा है।

17.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: आलोचक में क्या गुण होने चाहिए?

उत्तर: आलोचक में एक पारश्चात्य विद्वान ने निम्न लिखित गुणों को आवश्यक माना है:

1. सुनिश्चितता
2. स्वातंत्र्य
3. सूझ
4. श्रेष्ठ-विचार
5. उत्साह
6. हार्दिक अनुभूति
7. गंभीरता
8. ज्ञान
9. अथक परिश्रम

आलोचक के मन में लेखक और उसकी रचना के प्रति श्रद्धा, सहानुभूति तथा आदर की भावना होनी चाहिए। किसी वैज्ञानिक के समान न तो उसे कठोर ही होना-चाहिए और न हृदयहीन ही, क्योंकि उसका काम चीर फाड़ का नहीं है। विद्वता, निष्पक्षता, स्वाभाविक प्रतिभा, गुण ग्राहकता, सहृदयता

आदि गुणों के साथ उसमें परिष्कृत, परिमार्जित साहित्यिक रुचि भी होनी चाहिए। अपना निष्पक्ष निर्णय देने के लिए उसमें साहस भी होना चाहिए। 'सत्' और 'असत्' साहित्य के विवेचन तथा वर्गीकरण के साथ उसमें उस साहित्य के सुन्दर-असुन्दर तत्वों की खोज करते की क्षमता होनी चाहिए तथा साहित्य के आनन्द के मूल में कार्य करने वाली विभिन्न प्रवृत्तियों का अन्वेषण करने की गंभीरता एवं गहराई भी होनी चाहिए। उसे शास्त्र तथा नियमों का ज्ञान होना चाहिए, किन्तु उनमें अपने को बाँधना नहीं चाहिए। सत्य और सौन्दर्य की खोज ही उसका एक मात्र लक्ष्य होना चाहिए। उसे पूर्वाग्रहों तथा प्रचलित मान्यताओं से मुक्त रहना चाहिए। उसकी आलोचना संस्थागत न होकर, अन्तःकरण प्रेरित होनी चाहिए।

वस्तुतः आलोचनक पाठक का अच्छा मित्र व पथ प्रदर्शक होता है। वह लेखक की कृति को देखता-परखता है तथा जीवन की व्याख्या करता है। अपनी सर्वांगीण व्याख्या द्वारा आलोचक किसी कलाकृति के चाहे-अनचाहे पक्षों का उद्घाटन करता है तथा उस कलाकृति के रसास्वादन का आनन्द और भी बढ़ा देता है। साहित्यकार और पाठक के बीच में आलोचक एक महत्वपूर्ण कड़ी है। अंग्रेजी में आलोचक को Critic कहते हैं, जिसका अर्थ होता है अलग करने वाला। आलोचक का लक्ष्य और प्रयत्न यही होता है कि वह कृति के गुण-दोष साहित्य-जगत् को अपनी आलोचना से आलोकमय बनाकर साहित्यकारों तथा साहित्यप्रेमी पाठकों का पथ प्रदर्शन करना उसका उद्देश्य होता है।

17.8 पठनीय पुस्तकें

1. समीक्षा शास्त्र : डॉ. दशरथ ओझा
2. समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ : डॉ. प्रताप नारायण टण्डन
3. आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास : डॉ. वेकट शर्मा
4. हिन्दी आलोचना: उद्भव और विकास : डॉ. भगवत स्वरूप मिश्र
5. समीक्षा शास्त्र : डॉ. राम सागर त्रिपाठी

इकाई-18: रसवादी आलोचना

- 18.0 विषय प्रवेश
- 18.1 पाठ का उद्देश्य
- 18.2 पाठ-परिचय
- 18.3 मूलपाठ
- 18.4 पाठ का सारांश
- 18.5 शब्दार्थ
- 18.6 अभ्यास
 - 18.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 18.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 18.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 18.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 18.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

18.1 उद्देश्य

भारतीय चिंतन परंपरा में रस सिद्धांत के स्वरूप पर चर्चा करते हुए हिन्दी में प्रचलित रसवाद, उसके आधार बिंदु, साधारणीकरण, हिन्दी आलोचना के संदर्भ में रसवाद और उसके विभिन्न प्रकारों का विवेचन करना इस पाठ का उद्देश्य है।

18.2 पाठ परिचय

1. भारतीय चिंतन परंपरा में रस सिद्धांत,
2. हिन्दी में रसवादी चिंतन और उसके आधार बिंदु,
3. साधारणीकरण
4. दाक्षिणात्य संदर्भ में रसवाद
5. हिन्दी आलोचना में रसवाद
6. रसवादी आलोचना के प्रकार
7. रसवादी आलोचकों का परिचय इस पाठ में दिया जाएगा।

18.3 मूल पाठ

'रस्यते (आस्वाद्यते) इति रसः' अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाए, उसे रस कहते हैं। भारती चिंतन की दीर्घकालिक परंपरा में विभिन्न आचार्यों ने रस सिद्धांत का गंभीर विवेचन किया है। 'रस' शब्द का प्रयोग भारतीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सर्वोत्कृष्ट तत्व के रूप में हुआ है। आध्यात्म के क्षेत्र में भी स्वयं परमात्मा को ही रस अथवा रस को ही परमात्मा के रूप में माना गया है 'रसो वै रसः' अर्थात् रस ही परमात्मा है। इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी नाटक और काव्य के आस्वादन से प्राप्त आनन्दानुभूति को रस की संज्ञा दी गई। वस्तुतः काव्यानंद ही रस है।

रस सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं। इन्होंने रस को नाटक अथवा काव्य की आत्मा बताया था। यहाँ तक कि रस शब्द का प्रयोग साहित्यिक समीक्षा क्षेत्र में सर्वप्रथम उन्हीं के द्वारा हुआ। इसके पूर्व यह शब्द दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में ब्रह्म तथा चिकित्साशास्त्र में विभिन्न औषधियों

के रस के अर्थ में प्रयुक्त होता था। भरतमुनि ने रस की निष्पत्ति या भावोद्देलन के लिए आवश्यक तत्वों का विवेचन करते हुए भावनाओं से संबंधित मुख्यतः तीन अवयवों-विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (अथवा संचारी भाव) की चर्चा की है- 'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद् रस निष्पत्तिः'।

विभाव क्या है? जो सामाजिक या सहृदय या दर्शक के रत्याति भावों को आस्वाद-योग्य बनाने में समर्थ होते हैं, वे विभाव कहलाते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं- आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव। मानव हृदय में भावनाओं का प्रस्फुटन कल्पना द्वारा ही होता है। जैसे नायक नायिका को देखकर प्रसन्न हो जाता है या सिंह को देख कर हमारे हृदय में भय उत्पन्न होता है। यह 'नायिका' या 'सिंह' आलम्बन हैं। जिनके माध्यम से भाव उद्दीप्त हो उठें वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। जैसे वाद्य, प्रकृति, वातावरण, शीतल वायु। तात्पर्य यह है कि आलम्बन यदि आग लगाने वाला अंगारा है तो उद्दीपन अनुकूल हवा की भाँति उसे बढ़ाने में योग देता है। जिस व्यक्ति के हृदय में आलम्बन और उद्दीपन के प्रभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, उसे 'आश्रय' कहते हैं।

हृदयगत भावों के उद्देलन से आश्रय की शारीरिक और मानसिक अवस्था में थोड़ा-बहुत परिवर्तन आ जाता है। जैसे भय में कांपना, क्रोध में नेत्रों का लाल हो जाना। इस परिवर्तन के द्योतक चिह्नों को 'अनुभाव' कहा गया है।

भावनाओं का रूप अत्यंत सूक्ष्म होता है जिनका वर्णन काव्य में नहीं किया जा सकता, अतः अनुभावों के चित्रण के द्वारा ही भावों की व्यंजना की जाती है। जहाँ आश्रय की क्रियाएँ अनुभाव कहलाती हैं, वहाँ आलम्बन की क्रिया-प्रक्रियाएँ 'हाव-भाव' के नाम से जानी जाती हैं।

एक ही स्थायी भाव के बीच-बीच में परिस्थितिवश अनेक भावों का भी संचार होता रहता है। वे मन में उठ-उठकर उन्मग्न तथा निमग्न होते रहते हैं। वे संचारी अथवा व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। ये 33 माने गए हैं जिनमें आवेग, मद, मोह, स्वप्न, उन्माद, शंका, स्मृति, लज्जा, हर्ष, विषाद, चपलता, ग्लानि, चिन्ता आदि मुख्य हैं।

अब प्रश्न उठता है कि स्थायी भाव क्या है? मानव-मन में समय-समय पर अनुभव से एकत्रित तथा संस्कार रूप में स्थित वे भाव हैं जो किसी कुशल अभिनय अथवा किसी घटना-विशेष से अवचेतन मन से चेतन मन में आकर इस रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। ये हैं- रति, शोक, भय, क्रोध, विस्मय, जुगुप्सा, हास, उत्साह, क्षम और वत्सल भाव। इन स्थायी भावों के नाम रस रूप में क्रमशः इस प्रकार हैं- शृंगार, करुणा, भयानक, रौद्र, अद्भुत, बीभत्स, हास्य, वीर, शांति और वात्सल्य।

18.3.1 हिन्दी में रसवादी चिन्तन और उसके आधार बिंदु

भारतीय चिन्तन की यह परंपरा हिन्दी साहित्यशास्त्र में स्वतंत्र रूप में विकसित हुई। इस परंपरा के अनुसरण में रीतिकाल के देव, मतिराम, कुलपति मिश्र आदि रस के महत्व को स्वीकार किया। आचार्य-कवि देव ने रस शब्दार्थ के सार-स्वरूप को काव्य का भी सार-तत्व कहा है- 'काव्य सार शब्दार्थ-को, रस तेहि काव्य संसार'। इसके आगे वे काव्य में रस, अलंकार और छंद की महत्ता का वर्णन करते हुए रस को उसका प्राण मानते हैं- 'अलंकार काव्य के आभूषण है। रस उसका प्राण है और छंद उसका शरीर है। भूषणों के बिना शरीर जीवित रह सकता है किन्तु जीवन अथवा प्राण तत्व के अभाव में वह निर्जीव है'। आधुनिक आचार्यों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी रस को कविता का प्राण मानते हुए कहते हैं कि 'रस ही कविता का प्राण है और जो यथार्थ कवि है उसकी कविता में रस अवश्य होता है। नीरस कविता कविता नहीं'। हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने काव्य में रस की महत्ता की पुष्टि की है। उनके मतानुसार 'जिस प्रकार आत्म की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। --- अनुठी से अनुठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जब उसका संबंध कुछ दूर का ही सही, हृदय के किसी भाव या वृत्ति के साथ होगा।' अतः आचार्य शुक्ल का कहना है कि हृदयस्पर्श के अभाव में सर्वाधिक चमत्कार

पूर्ण उक्ति भी काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकती। बाबू गुलाब राय ने भी रस को काव्य का अभिन्न तत्व मानते हुए कहा है कि 'रस में कर्ता (कवि), कृति (काव्य) और भोक्ता (पाठक) तीनों को ही समान महत्व मिलता है। इसमें प्रभाव है, गति है और जीवन की तरलता है। वह कवि के हिमगिरि से विशाल, रत्नाकर से विस्तृत और गंभीर हृदय-स्त्रोत से निष्सृत होकर कृति के रूप में प्रवाहित होता हुआ पाठक के हृदय को आप्लावित करता है। इस प्रकार प्राचीन रस सिद्धांत का आधारभूत तत्व हिन्दी में सुरक्षित होते हुए आया है। इसी संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र हिन्दी साहित्य और आलोचना में रस सिद्धांत के संश्लिष्ट रूप के विकास की चर्चा करते हुए कहते हैं कि 'जीवन की भूमिका में जब तक मानवता से महत्तर सत्य का आविर्भाव नहीं होता और साहित्य की भूमिका में जब तक मानव-संवेदना से अधिक रमणीय सत्य की उद्भावना नहीं होती तब तक रस सिद्धांत से अधिक प्रामाणिक सिद्धांत की प्रकल्पना भी नहीं की जा सकती।

'रस' की इस चिंतन-पद्धति और व्याख्यात्मक प्रणाली में कई आधार बिंदु स्पष्ट हो कर आए। इस चिंतन में मानवीय व्यापारों के सार में मानवीय कर्म के सामाजिक बंधनों से जुड़कर विचार किया गया है। इसी कारण आधार बिंदुओं को जानने के लिए दृष्टि, संकल्प, विकल्प, अनुभव, अनुभूति, संवेदना आदि की भूमिका और उनके परिणामजन्य रूपों पर ध्यान देना आवश्यक है।

साहित्य के आस्वाद में उत्पन्न होने वाले विविध भेदों (शब्द, वाक्य, दृष्टि, जाति-रूप, व्यक्ति-रूप, स्त्रोत-रूप) का सामाजिक व्यवहार में प्रयोजनशीलता का लक्ष्य निहित रहता है।

सर्जनात्मक प्रक्रिया के अंतर्गत शब्द-विचार, ध्वनि-संयोजन, मानवीय व्यापार का रूप ग्रहण, भाव-योजना का स्वरूप और संश्लिष्ट व्यापार की रूढ़ियों में समाज पक्ष व मूल्य पक्ष के योगदान पर भी विचार होता रहा है। इस प्रकार इन आधार बिंदुओं में व्यावहारिक आलोचना का संदर्भ रहा है।

वास्तव में हिन्दी में विद्वानों ने रस सिद्धांत के विभिन्न पक्षों का तार्किक दृष्टि से चिंतन किया। उन्होंने एक ओर उसके सैद्धांतिक पक्षों का विश्लेषण किया तो दूसरी ओर उसकी व्यावहारिक क्षमता का भी विवेचन किया। इसकी व्यावहारिकता के पक्षों को वैज्ञानिकता, लौकिकता और आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में उजागर किया गया। यद्यपि कुछ विद्वानों ने आधुनिक साहित्य में रस की उपयोगिता पर प्रश्न चिह्न लगाए किंतु इसके आधार-बिंदुओं के आधार पर रस सिद्धांत को काव्यवाद का रूप दिया गया। इसे जीवन सापेक्ष और जीवन निरपेक्ष बनाने का प्रयास किया गया। इस प्रयास में अलोचकों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं।

18.3.2 साधारणीकरण

भरतमुनि के रस सिद्धांत का विवेचन करते हुए आचार्य भट्टनायक ने सर्वप्रथम 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग किया और उसका स्वरूप समझाने का सफल प्रयास किया। भट्टनायक के मतानुसार दर्शक को पहले अभिधा शक्ति द्वारा नाट्य भाषा के वाच्यार्थ का बोध होता है और फिर भावकत्व शक्ति द्वारा हृदय के भीतर भावों का जागरण एक ओर होता है और पात्रों, घटनाओं तथा वस्तुओं का साधारणीकरण दूसरी ओर। इस प्रक्रिया में दर्शक (या पाठक) अपने विशिष्ट स्वरूप का विसर्जन कर के सामान्य लोक हृदय में लीन हो जाता है। वस्तुतः जैसे सामाजिक अपने मोह संकट से मुक्त होता है वैसे ही रसानुभूति के समय मंच पर प्रदर्शित पात्रादि भी अपने विशिष्ट रूप को विसर्जित कर सामान्य रूप में दिखाई देने लगते हैं। यही साधारणीकरण मूलतः रसास्वादन का सिद्धांत है। इसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि साधारणीकरण द्वारा कवि-निर्मित पात्र व्यक्ति-विशेष न रह कर सामान्य प्राणी मात्र बन जाता है। वह देश-काल की सीमा में न बंध कर सार्वदेशिक और सार्वकालिक बन जाता है। उदाहरण के लिए, 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' पढ़ते समय दुष्यंत का शकुन्तला के प्रति जो रति भाव है, वह सहृदय पाठक के लिए शुद्ध सात्विक रति भाव बन जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने आचार्य अभिनवगुप्त के मत का समर्थन करते हुए कहा है कि साधारणीकरण व्यापार के प्रभाव से समस्त घटना चक्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से रहित हो जाता है और रामादि पात्र तथा सहृदय के बीच भेद

समाप्त हो जाता है अर्थात् उन दोनों में अभेद स्थापित हो जाता है। दोनों के रति आदि भाव एक समान हो जाते हैं और सहृदय पात्र के अनुरूप मानसिक रूप में आचरण करने लगते हैं। इस प्रकार सामाजिक या सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाता है।

इस प्रकार अभिनव गुप्त के परवर्ती आचार्यों ने रस सिद्धांत का निरूपण करते हुए साधारणीकरण को उसी अर्थ में ग्रहण किया जिस अर्थ में भट्टनायक ने। हिन्दी के अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी साधारणीकरण का स्पष्टीकरण किया। डॉ. श्यामसुंदर दास ने भावक या पाठक का साधारणीकरण माना है। उनके मतानुसार साधारणीकरण की अवस्था योग की उस 'मधुमती-भूमिका' के समान है जिसमें हमारा मस्तिष्क तर्क-वितर्क से शून्य हो कर आनंदानुभूति में लीन हो जाता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साधारणीकरण पर चर्चा करते हुए नए तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उनकी दृष्टि अतीत पर न हो कर वर्तमान पर ही स्थिर है और उन्होंने इस प्राचीन सिद्धांत की व्याख्या 'लोक धर्म सिद्धांत' के आधार पर की है। उनके मतानुसार साधारणीकरण सब का नहीं हो सकता, केवल आलंबन का ही हो सकता है। कारण यह है कि काव्य-रचनाओं और रसास्वादन, दोनों की प्रक्रिया में वही मूल्य है। आलंबन का अर्थ है भाव का विषय। उसका साधारणीकरण इस प्रकार होता है कि पहले वह कवि के भाव का विषय बनता है और फिर समस्त सहृदय समाज के भाव का विषय बन जाता है। इस दृष्टि से साधारणीकरण केवल रसास्वादन का ही सिद्धांत नहीं है बल्कि काव्य-निर्माण का भी सिद्धांत है। उनका यह स्पष्ट मत है कि 'जिस कवि में लोक-हृदय की जितनी गहरी पहचान होगी, वह उतना ही महान् कवि होगा'।

साधारणीकरण का विवेचन करते हुए शुक्लजी ने इसे 'आश्रय के साथ दर्शकों का तादात्म्य' के साथ भी जोड़ा है क्योंकि हर समय आलंबन का साधारणीकरण नहीं हो पाता। यहाँ 'आश्रय' का अर्थ 'आश्रयत्व धर्म' से है अर्थात् राम से तात्पर्य 'राम' नहीं अपितु 'रामत्व' नायक भाव या प्रेमी भाव से है। उदाहरण के लिए, राम-रावण युद्ध में जब रावण राम की पराजय पर हर्ष प्रकट करता है तब हमारा आश्रय रावण न हो कर राम ही होगा। एक अन्य उदाहरण में आश्रय के साथ भी साधारणीकरण नहीं हो पाता। यदि कोई निर्दयी व्यक्ति किसी निरीह बालक को पीट रहा है। इस दृष्टि से बालक आलंबन है और पीटने वाला व्यक्ति आश्रय। यहाँ न तो पीटने वाले व्यक्ति से साधारणीकरण होगा और न ही बालक से। इस स्थिति में तादात्म्य कवि के अव्यक्त भाव से होता है। इस प्रकार आश्रय के साथ सदैव तादात्म्य नहीं होता और न ही आलंबन का सर्वत्र साधारणीकरण संभव है। ऐसी स्थिति में कवि की उस अनुभूति का साधारणीकरण होता है जिसके अनुसार वह पात्रादि का संगठन करता है। इसलिए डॉ. नगेन्द्र आलंबन को कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप मानते हैं। अतः यहाँ साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण। इस प्रकार साधारणीकरण का व्यापक आलंबन से प्रारंभ तथा प्रेरित होता है और अंत तक उसी के द्वारा संचालित होता है किंतु रचना में आश्रय, कवि तथा सामाजिक तीनों का सहयोग आवश्यक है।

18.3.3 दाक्षिणात्य संदर्भ में रसवाद

भारतीय अलंकरण सिद्धांत में वस्तुवाद का जो प्रतिपादन हुआ उसे दाक्षिणात्य काव्यशास्त्र में सम्मान प्राप्त हुआ। पोरुल के तमिल सिद्धांत में 'अहं' नामक तत्व और 'पुरं' नामक तत्व के आधार पर वास्तविकता का परीक्षण होता है। हिन्दी में 'अहं' का शब्दार्थ अभिमानसूचक या गर्वोत्पादक होकर आत्मप्रत्ययी होता है किंतु तमिल में 'अहं' का वाच्य 'अक' है जो 'पुरं' के विरोधार्थी शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है यह आध्यांतर व अंतःकरण से संबद्ध है अर्थात् बाह्य के विरोध में। अंतःकरण में आत्मगोचर अनुभव रूप में अहं पोरुल व पुरंपोरुल अथवा अहपरक वास्तविकता व समाजपरक वास्तविकता उद्घाटित होती है। इस सिद्धांत ने दंडी और भोजराज के सिद्धांतों पर प्रभाव डाला। दंडी तमिल राज्य के पल्लव राजाओं के दरबार में थे। उत्कर्ष की दृष्टि से वस्तु का या विषय की वास्तविकता का या भावना का 'पाडु' व 'विकार' (मेचप्पाडु-मेय-शरीर+पाडु = विकार) का प्रकट होना ही पोलूर है अर्थात् वास्तविकता है। वैयक्तिक जीवन के मनोभाव के रूप में और उसके परिणाम स्वरूप होने

वाले मानव व्यापार जैसे युद्ध, जय-पराजय, दान-पुण्य आदि के मनोभाव क्रोध, भय, निर्वेद आदि आते हैं। इनका संबंध समाज की वास्तविकता से है। इन व्यक्तिगत और सामाजिक वास्तविकताओं के साथ भौगोलिक तथा काल-विशेष का घनिष्ठ संबंध रहता है। इन वस्तु सत्तों के द्वारा ही राग तत्त्व की सीमा का विस्तार होता है उसकी स्थिति भाव रूप में प्रकट होती है और वही रस का प्राण बनता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भाव की स्थिति और गति है अर्थात् वस्तु का वास्तविकता का ज्ञान ही रस का आधार है।

18.3.4 हिन्दी आलोचना में रसवाद

भारतीय साहित्य सिद्धांत में आचार्य भारतमुनि से लेकर आज तक सभी साहित्याचार्यों ने रस को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में काव्य का प्राणतत्त्व स्वीकार किया है। इसके अभाव में कविता कविता ही नहीं रहती। इसीलिए दसवीं शताब्दी के उपरांत रस सिद्धांत साहित्य की व्यापक कसौटी के रूप में स्वीकार किया गया और इसे काव्य की आत्मा घोषित किया गया। 'साहित्य दर्पण' के प्रणेता आचार्य विश्वनाथ ने तो यहाँ तक कह दिया कि रसात्मक वाक्य ही काव्य होता है— 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।

संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रयोगात्मक या व्यावहारिक आलोचना की पद्धति नहीं थी। इसीलिए काव्यशास्त्र के सिद्धांतों का प्रयोग कुछ बिखरी हुई उक्तियों में देखा जाता है किन्तु आधुनिक काल में 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में पहुँच कर जब प्रयोगात्मक आलोचना प्रारंभ हुई तब अलंकार सिद्धांत की प्रबलता थी। रीतिकाल का चमत्कारवाद आलोचकों तथा पाठकों को समान रूप से आकर्षित किए हुए थे। इस चमत्कार के आधार पर सब से अच्छी आलोचना पं. पद्मसिंह शर्मा ने लिकी। उनका विवेचन अलंकार को कसौटी मान कर चला। वास्तव में सन् 1920 तक रस सिद्धांत आलोचना के क्षेत्र में उपेक्षित रहा। थोड़े-बहुत प्रयास भी हुए किन्तु उसके साथ विरोध भी हुआ। छायावादी और प्रगतिवादी कवियों ने पहले इसका विरोध किया, बाद में उन्होंने काव्य की आत्मा रस को ही स्वीकार किया। प्रयोगवादी और नए कवियों ने पुनः बौद्धिक जागरूकता, जीवन की जटिलता आदि के इस युग में रस सिद्धांत की महत्ता और उपयोगिता पर शंका उठाई। वस्तुतः रस सिद्धांत का बुद्धि, तत्त्व के साथ कोई विरोध नहीं है और यथार्थ जीवन में भी रस की सत्ता विद्यमान रहती है। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में 'उसमें करुणा, हास्य, अमर्ष आदि भावों की सत्ता निश्चित रूप से रहती है, जो मूलतः मानवीय संवेदना पर आश्रित है'। इस प्रकार रसवाद पर आधारित आलोचना ने अपना स्थान बना लिया।

हिन्दी के रसवादी आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने नए संदर्भ में रस-सिद्धांत को पुनर्जीवन दिया। उन्होंने रस-सिद्धांत की कसौटी पर सूर, तुलसी और जायसी पर आलोचना लिख कर रस को प्रयोगात्मक आलोचना में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। उन्होंने अपनी सूक्ष्म चिंतन-शक्ति और प्रतिभाशाली समीक्षा-पद्धति से इस सिद्धांत के प्राचीन कलेवर में कुछ संशोधन भी किया। कहीं-कहीं यह संशोधन मूल से इतना अलग हो गया है कि कुछ लोग उनके मत को संप्रदाय-विरुद्ध मान बैठते हैं। जिन दिनों शुक्ल जी ने इस सिद्धांत का प्रयोग किया था, उन्हीं दिनों नए आलोचकों ने यह कह कर रस का विरोध किया था कि यह सिद्धांत प्राचीन होने के कारण अर्वाचीन रचनाओं पर लागू नहीं हो सकता। इसके आधार पर सूर, तुलसी और जायसी की समीक्षा हो सकती है किन्तु छायावाद की मीमांसा संभव नहीं है। बाद में यह स्वीकार कर लिया गया कि छायावाद और प्रगतिवाद दोनों के काव्य का मूल्यांकन रस के आधार पर हो सकता है। इस दिशा में डॉ. नगेन्द्र ने सराहनीय कार्य किया है। रस सिद्धांत का प्रयोग न केवल काव्य और नाटक तक सीमित है अपितु गद्य शैलियों में या कथा साहित्य और निबंध की आलोचना में भी इसका उपयोग हो सकता है।

इस प्रकार रसवादी आलोचना नाटक और काव्य के अतिरिक्त साहित्य की अन्य विधाओं के लिए काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह सिद्धांत नैतिक मूल्यों के मानदंड और आलोचना की ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, तुलनात्मक, समाज शास्त्रीय आदि विभिन्न शैलियों और विभिन्न साहित्य-रूपों के रचना-विधान से संबंधित तत्वों को अपने में समाहित करने में समर्थ है। हाँ, इस बात की ओर सावधान तथा सतर्क अवश्य रहना होगा कि आलोचना के मान-प्रतिमान बदलते रहते हैं। अतः कम

से कम विभावन व्यापार का विवेचन करते हुए देश, काल और परंपरा पर गहन और सजग दृष्टि रखनी होगी। यही रसवादी आलोचना की उपादेयता सिद्ध होती है।

18.3.5 रसवादी आलोचना के प्रकार्य

रसवादी आलोचना के विभिन्न प्रकार्य हैं जिन पर विचार करने की आवश्यकता है। साहित्य में निहित संश्लिष्ट व्यक्तित्व की भाव-प्रक्रिया, उसकी भाषा स्थिति, उसकी तत्वपरक प्रतीति, उसकी अभिव्यक्ति पद्धति, उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक उद्भावनाएँ साहित्य के आस्वादन में सहायक होती हैं। रसवादी आलोचना के प्रकार्य के रूप में मूल्यांकन करना इनका उद्देश्य है। वास्तव में जीवन का संश्लिष्ट व्यक्तित्व और मानव चरित्र के संबंधपरक अनुभवों से संचालित होकर अर्थ-प्रयोजन, चरित्र-चित्रण, आदि रसवाद की व्याख्यात्मक आलोचना का प्रकार्य है। इसमें सामाजिक दृष्टि से औचित्यपूर्ण व्यवहार की अपेक्षा रहती है जो रसवादी आलोचना की व्यापक भूमिका को सक्षम बनाने में समर्थ है।

18.3.6 रसवादी आलोचक

रसवादी आलोचना के क्षेत्र में हरिऔध कृत 'रस कलश', आचार्य शुक्लजी कृत 'रस मीमांसा', डॉ. नगेन्द्र कृत 'रस सिद्धांत', डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित कृत 'रस सिद्धांत स्वराप और विश्लेषण' आदि कार्य अपना विशेष स्थान रखते हैं। इनके अतिरिक्त आचार्य श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाब राय, आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि का भी रसवादी आलोचना में उल्लेखनीय काम है। इन सभी आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से रस सिद्धांत का पोषण किया है। रस आन्दोलन के कारण रस को वाद के रूप में माना गया है किंतु व्यावहारिक आलोचना के लिए रस की उपयुक्तता और उसकी सत्ता पर विचार करने वालों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और डॉ. नगेन्द्र मुख्य हैं। इन दोनों का यहाँ परिचय देना उचित होगा।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल: रस सिद्धांत आचार्य शुक्ल के साहित्य सिद्धांत का केन्द्रीय सिद्धांत है। उन्होंने 'रस' की परिभाषा अथवा उसके शाब्दिक अर्थ की केवल व्याख्या न कर उसकी विस्तृत विवेचन किया है। उनकी 'रस मीमांसा' पुस्तक इसका सर्वोत्तम प्रमाण है। आचार्य शुक्ल के रस सिद्धांत की आधार भूमि बाह्य जगत और अंतर्जगत का संबंध है। यही उसकी नींव और प्रारंभ बिंदु है। उनका स्पष्ट मत है कि हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, करुणा, क्रोध आदि भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलंबन बाहर ही के हैं- इसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत के ही हैं। इस प्रकार अनंत रूपात्मक जगत के विविध रूप-व्यापार मानव के अंतःकरण में प्रतिबिंबित होकर रति आदि नाना भावों को उद्बुद्ध करते हैं। मानव-मन जगत के नाना रूपों का प्रत्यक्ष बोध करता है। इस बोध के समय उसके हृदय की दो स्थितियाँ हो सकती हैं। पहली स्थिति में उसे अपनी पृथक् सत्ता का ज्ञान बना रहता है और दूसरी स्थिति में वह अपने-आप को भूल जाता है। पहली स्थिति में आचार्य शुक्ल ने हृदय की बद्धावस्था कहते हैं और दूसरी स्थिति को मुक्तावस्था। हृदय की यही मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। दूसरे संदर्भ में आचार्य शुक्ल ने 'लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा' कहा है। वास्तव में हृदय की मुक्तावस्था और लोक-हृदय में व्यक्ति-हृदय का लीन होना दोनों संदर्भों में रस दशा एक है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने 'रसमीमांसा' में 'हृदय की मुक्तावस्था, रसदशा, रसात्मक बोध, रसात्मक अनुभूति, रसानुभूति आदि शब्द समानार्थक के रूप में प्रयुक्त किए हैं।

आचार्य शुक्ल ने 'रस' को 'आस्वाद' रूप माना है न 'कि 'आस्वाद्य' रूप, जबकि आचार्य भरत ने रस को आस्वाद नहीं आस्वाद्य कहा था अर्थात् रस अनुभूति नहीं है, अनुभूति का विषय है। इस दृष्टि से आचार्य भरत का रस संबंधी विवेचन वस्तुपरक अर्थात् विषयगत है और आचार्य शुक्ल की दृष्टि अपेक्षाकृत आत्मपरक है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल की दृष्टि में रस के आस्वाद रूप होने से रस सामाजिकगत ही कहा जाएगा। रस को आस्वाद मानने की आचार्य शुक्ल की दृष्टि आचार्य अभिनवगुप्त के समान है किंतु आस्वाद के स्वरूप के संबंध में दोनों में मतभेद है। आचार्य अभिनवगुप्त रस को आनंदमयी चेतना कहते हैं। शृंगार, वीर, हास्य, अद्भुत और शांत का आस्वाद तो आनंदमय होता

ही है किंतु करुण, भयानक, बीभत्स आदि का आस्वाद भी आनंदमय होता है। शुक्लजी अभिनवगुप्त के इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि काव्य से प्राप्त अनुभव को प्रत्येक दशा में आनंद स्वरूप कहना काव्य के उद्देश्य को मनोरंजन मात्र तक सीमित कर देना है। उनके मतानुसार रस को लोकोत्तर अनिर्वचनीय आदि विशेषणों से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार होता है न प्रयोग का प्रायश्चित। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनंद का रूप धारण कर के ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते। क्या दुःख के भेद सुख के भेद से प्रतीत होने लगते हैं? क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चंद्र का कफ़न माँगना देख-सुन कर औसू नहीं आजाते? क्या उसे हम आनंद कहेंगे? उस प्रकार शुक्ल जी रस को सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों मानते हैं किंतु इसके लिए आवश्यक है कि हृदय मुक्तावस्था में हो। इस अवस्था में दुःख भी रसात्मक होता है।

आचार्य शुक्ल ने 'रस मीमांसा' और 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' निबंध में साधारणीकरण का विवेचन कर नए आयामों को उद्घाटित किया। उनकी दृष्टि में काव्य में भाव के विषय का इस रूप में लाया जाना कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलंबन हो सके, साधारणीकरण कहलाता है। यहाँ 'सब के उसी भाव का आलंबन' हो सकने का शुक्ल जी का अभिप्राय था कि रस निष्पत्ति अनुकार्य और अनुकर्ता तक ही सीमित नहीं है वरन् सामाजिक को भी रस निष्पत्ति होती है। इसके साथ ही शुक्ल जी का यह भी कहना है कि साधारणीकृत होने के लिए 'आलंबन' में लोक धर्म की प्रतिष्ठा अनिवार्य है। शुक्ल जी साधारणीकरण को कवि-कौशल सापेक्ष मानते हैं। जब आलंबन पाठक के भी उसी भाव का आलंबन बन जाता है और पाठक तथा आश्रय के हृदयों में समान भावानुभूति अनिवार्य हो जाती है। इसी समान भावानुभूति या सहानुभूति या हृदयगत एकतानता को 'तादात्म्य' कहा जाता है। यह तादात्म्य साधारणीकरण की क्रिया का अनिवार्य परिणाम है।

इस प्रकार शुक्लजी ने पूर्व विवेचित रस सिद्धांत का आधुनिक मनोविज्ञान और लोकवादी समाज दर्शन के परिप्रेक्ष्य में विवेचन किया। शुक्लजी के लिए रस कोई व्यवहार निरपेक्ष वस्तु नहीं है। उन्होंने रस को बदलते हुए जीवन के साथ सामंजस्य स्थापित करने का माध्यम कहा है। इसी सिद्धांत के आधार पर उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी के काव्य का तथा हिन्दी साहित्य के संपूर्ण इतिहास का मूल्यांकन किया। इसी संदर्भ में सैद्धांतिक आलोचना के साथ-साथ व्यावहारिक आलोचना का भी विकास किया। वास्तव में शुक्लजी ने रस सिद्धांत की भूमि पर आलोचना को एक नई दिशा प्रदान की।

डॉ. नगेन्द्र: रसवादी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल के बाद डॉ. नगेन्द्र का महत्वपूर्ण स्थान है। डॉ. नगेन्द्र ने अपने 'रस सिद्धांत' नामक ग्रंथ में 'रस' का परंपरागत अध्ययन करते हुए उसे 'आनंद' का पर्याय माना है। किन्तु नगेन्द्र जी ने आनंद और कल्याण में कोई भेद नहीं माना है। 'आनंद से बड़ा कल्याण और क्या हो सकता है? यह वही सिद्धांत है जो 'सुन्दर' को अनिवार्यतः 'शिव' मानता है। नगेन्द्र जी ने रस को आनंद का पर्याय बनाते हुए कहा है कि 'रस प्लेज़र', 'लज्जित' या विनोद का पर्याय कभी नहीं हो सकता। यह आनंद का वह पर्याय है जो व्यष्टि और समष्टि के कल्याण की अंतिम परिणति है।" आनंद कोई सार्वजनीन वस्तु नहीं है। एक व्यक्ति और वर्ग का आनंद दूसरे व्यक्ति और वर्ग के लिए सर्वथा विषाद हो सकता है। यही बात 'कल्याण' के साथ भी है। मार्क्सवादी विचारक इस सत्य से परिचित होते हैं कि कल्याण का अर्थ वर्गगत ही होता है। ऐसी स्थिति में आनंद और कल्याण के बीच समन्वय स्थापित करने की चेष्टा निरर्थक है। आनंद और कल्याण में से नगेन्द्र आनंद को ही अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।

डॉ. नगेन्द्र ने शुक्लजी के 'हृदय की मुक्तावस्था' को ही आनंद स्वरूप सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होंने 'हृदय की मुक्तावस्था' वाली स्थापना को उरस्तू के विरोचन सिद्धांत से प्रभावित और आई.ए. रिचर्ड्स के 'अंतः वृत्तियों की समाहित' सिद्धांत के अनुरूप बताते हुए कहा कि 'इन दोनों आचार्यों आचार्य शुक्ल और डॉ. रिचर्ड्स) द्वारा निर्दिष्ट मनः स्थितियाँ- 'हृदय की मुक्तावस्था' और 'अंतः वृत्तियों की समाहित' निरानंद नहीं मानी जा सकती: प्रत्यक्ष अनुभव इसका प्रमाण है'।

साधारणीकरण किसका होता है, यह विवादास्पद विषय है। आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण आलंबन या आलंबनत्व धर्म का माना है किंतु डॉ. नगेन्द्र का मत है कि 'साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है'। वे आगे कहते हैं कि 'काव्य प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है'।

नगेन्द्र जी ने रस सिद्धांत का विशद विवेचन किया है किंतु उन्होंने किसी कृति की आलोचना का आधार रस सिद्धांत को नहीं बनाया। उन्होंने छिट-पुट विवेचन अवश्य किया है। यही उनका भाववादी दर्शन के प्रति झुकाव मिलता है। डॉ. नगेन्द्र ने आधुनिक साहित्य के संदर्भ में रस सिद्धांत की उपयोगिता सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है जो रसवादी आलोचना के लिए महत्वपूर्ण है।

18.4 सारांश

आधुनिक व्यावहारिक आलोचना के रूप में रसवाद की विशेष भूमिका रही है। वस्तुतः रस सिद्धांत का आविष्कार नाटक के प्रकरण में हुआ था। आचार्य भरतमुनि ने केवल नाट्य रस की चर्चा की थी। बाद के आचार्यों ने भी इस सिद्धांत के उपयोग नाटक के संदर्भ में ही किया किंतु आचार्य अभिनवगुप्त ने इसकी उपयोगिता काव्य में भी सिद्ध कर दी। दसवीं शताब्दी के उपरांत रस सिद्धांतसे साहित्य की व्यापक कसौटी के रूप में स्वीकार किया गया और इसे काव्य की आत्मा घोषित किया गया।

आधुनिक काल में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के आविर्भाव से रस सिद्धांत का विकास नए परिप्रेक्ष्य में हुआ। इसे व्यावहारिक आलोचना में उपयुक्त माना गया जिसमें साहित्य को रस के साथ जोड़ने का प्रयास किया गया। उन्होंने भक्तिकालीन सूर, तुलसी और जायसी की रचनाओं का मूल्यांकन रसवादी आलोचना के आधार पर किया। छायावादी और प्रगतिवादी कवियों ने पहले इसका विरोध किया किंतु बाद में इसकी उपयोगिता को स्वीकार किया। प्रयोगवाद और नई कविता के साहित्यकारों ने रस-परिपाक या रसानंद को अनिवार्य तत्व नहीं माना। उनका मत है कि रस का आधार अहं या समाहित है जबकि नई कविता अहं और असामंजस्य की कविता है। वास्तव में रस अपने व्यापक अर्थ में मानसिक अनुभूति है। यदि नई कविता अनुभूति को आधार मान कर चलती है तो रस से उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। छंद, अलंकार, गेयता, तुकबंदी आदि रस को पुष्ट बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं किंतु ये रस के उपकारक मात्र हैं। निराला जी के अतुकांत और छंदमुक्त काव्य में भी रस की प्राप्ति होती है। इस प्रकार रसवादी आलोचना छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता के साहित्य का मूल्यांकन करने में समर्थ सिद्ध हुई है। इस दिशा में डॉ. नगेन्द्र ने सराहनीय कार्य किया है।

18.6 अभ्यास

18.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. भारतीय चिंतन परंपरा में रस सिद्धांत की विशिष्टता का विवेचन कीजिए।
2. हिन्दी आलोचना में रसवाद की उपयोगिता के बारे में बताइए।

18.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)

1. हिन्दी में रसवादी चिंतन और उसके आधार बिंदुओं का समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।
2. साधारणीकरण से क्या तात्पर्य है? इसे प्राचीन विचारधारा से लेकर आधुनिक विचारधारा तक विवेचन करते हुए स्पष्ट कीजिए।
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल के रससिद्धांत संबंधी स्थापनाओं का तर्क सहित विवेचन कीजिए।

18.7 नमूने के उत्तर

18.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: साधारणीकरण से क्या तात्पर्य है? इसे प्राचीन विचारधारा से लेकर आधुनिक विचारधारा तक विवेचन करते हुए स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: काव्य सुसंस्कृत मानव की आत्माभिव्यक्ति और आत्मास्वाद का सर्वोत्तम माध्यम रहा है। ज्यों ही चिंतनशील मनुष्य ने जीवन और जगत के अनेक तथ्यों के साथ-साथ काव्य के आस्वाद के विषय में विचार आरंभ किया होगा, पहला प्रश्न यही उठा होगा कि राम और दुष्यंत आदि पात्रों से हमारा संबंध क्या है? जब देश और काल का विराट व्यवधान हमारे और उनके बीच है, तब उनके भाव हमारे आस्वाद्य किस प्रकार बन जाते हैं? इस प्रश्न का सब से प्रामाणिक समाधान 'साधारणीकरण' सिद्धांत से मिलता है जिसके बीज भरत के नाट्यशास्त्र में मिल जाते हैं। भरतमुनि के 'विभावानुभाव्यभिचगारि संयोगादस निष्पत्ति' सूत्र की व्याख्या आचार्य भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने की। इसी संदर्भ में भट्टनायक ने 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग किया। भट्टनायक का कहना है कि नाटक देखते समय दर्शक अपने विशिष्ट रूप का विसर्जन करके सामान्य लोक हृदय में लीन हो जाता है और मंच पर प्रदर्शित पात्रादि भी सामान्य रूप में भासित होने लगते हैं। अभिनवगुप्त ने कहा कि साधारणीकरण द्वारा कवि-निर्मित पात्र व्यक्ति-विशेष न रह कर सामान्य प्राणी मात्र बन जाता है और देश-काल की सीमा में बद्ध न रह कर सार्वदेशिक और सार्वकालिक बन जाता है। अभिनवगुप्त के बाद धनंजय, विश्वनाथ, पंडित जगन्नाथ आदि ने भी इस पर गंभीर विचार किया। आधुनिक युग में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और डॉ. नगेन्द्र ने इस सिद्धांत के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित किया। आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण आलंबन का माना। आलंबन का अर्थ है भाव का विषय। इस दृष्टि से साधारणीकरण पहले कवि के भाव का विषय बनता है और फिर समस्त सहृदय समाज के भाव का विषय बन जाता है। इसके साथ ही शुक्लजी ने आश्रय के साथ दर्शकों के 'तादात्म्य' पर भी विचार किया। यहाँ 'आश्रय' का अर्थ 'आश्रयत्व धर्म' से है अर्थात् राम से तात्पर्य राम नहीं अपितु रामत्व, नायकभाव या प्रेमी भाव से है। आचार्य शुक्ल के मतों पर विचार करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने कहा कि आश्रय के साथ तादात्म्य सब जगह नहीं होता और इसीलिए आलंबन का सर्वत्र साधारणीकरण नहीं होता। ऐसी स्थिति में कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होता है। इस प्रकार साधारणीकरण रस सिद्धांत की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।

18.8 पठनीय पुस्तकें

- | | |
|--|----------------------------|
| 1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साहित्य सिद्धांत | : डॉ. रामकृपाल पांडेय |
| 2. काव्यशास्त्र मार्ग दर्शन | : डॉ. कृष्ण कुमार गोस्वामी |
| 3. हिन्दी आलोचना का विकास | : डॉ. नंद किशोर नवल |
| 4. रसशास्त्र और साहित्य समीक्षा | : डॉ. कृष्णदेव झारी |

इकाई-19: मानवतावादी आलोचना

- 19.0 विषय प्रवेश
- 19.1 पाठ का उद्देश्य
- 19.2 पाठ परिचय
- 19.3 मूलपाठ
- 19.4 पाठ का सारांश
- 19.5 शब्दार्थ
- 19.6 अभ्यास
 - 19.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 19.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 19.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 19.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 19.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 19.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

19.1 उद्देश्य

मानवतावाद एक सार्वभौमिक विचारधारा है। मानवीय चिंतन के सभी क्षेत्रों में मानवतावाद की विचारधारा निहित रहती है किंतु साहित्य इससे अछूता कैसे रह सकता है। वास्तव में साहित्य सामाजिक चेतना के आकलन का सांस्कृतिक प्रयास है। इसमें युग-जीवन की विचार-संपदा और भाव-राशि का अंतर्निहित होना स्वाभाविक है। यह मानव के द्वारा, मानव के लिए और मानव को आधार बना कर लिखा जाता है। मानव मूल्यों की व्याख्या, मानव जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा, मानव-जीवन के अंतर्बाह्य संघर्षों की अभिव्यक्ति, मानव-मन की आकांक्षाओं का चित्रण आदि साहित्य में मानववादी विचारधारा के प्रतीक हैं। इस मानवतावादी विचारधारा और साहित्य से उसके अंतः संबंधों का विवेचन करना इस पाठ का उद्देश्य है।

19.2 पाठ परिचय

1. इस पाठ में मानवतावाद के अर्थ और स्वरूप;
2. मानवतावाद प्रकृतिवाद, भौतिकतावाद, विज्ञान और नैतिकता का समन्वय;
3. मानवतावाद और समाजवाद, मानवतावाद और गांधीवाद, मानवतावाद और अस्तित्ववाद;
4. मानवतावाद के प्रकार;
5. मानवतावाद और साहित्य;
6. मानवतावादी आलोचना; और
7. हिन्दी के मुख्य मानवतावादी आलोचकों का परिचय दिया जाएगा।

19.3 मूलपाठ

सोलहवीं शताब्दी के पहले जीवन और जगत के प्रति मनुष्य की दृष्टि धार्मिकता से अनुशासित थी। पश्चिम में मानवतावादी विचारधारा का उद्गम मध्ययुगीन धार्मिक व्यवस्था की समाप्ति के बाद हुआ। इसमें चर्च की प्रभुता का अंत हुआ और सृष्टि की पुनर्व्याख्या मानवीय संदर्भ में हुई। औद्योगिक क्रांति से जो भौतिक प्रगति और ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ, उससे यूरोप का काया कल्प हो गया। पश्चिम में मानवीय बुद्धि को धर्म के बंधनों से मुक्त करने का जो कार्य हुआ उससे यह पुनर्जागरण

कालीन मानवतावाद शक्तिहीन हो गया। औद्योगिक और वैज्ञानिक विकास से मानवीय हित उपेक्षित हो गए। फ्रांसीसी क्रांति ने स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का आदर्श तो प्रस्तुत किया किंतु पश्चिमी देशों ने अन्य देशों में साम्राज्य स्थापित कर परतंत्र देशों के लोगों को यातनाएँ दीं। राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद पर्याय बन गए। पूँजीवादी और अधिनायकवादी राजसत्ताओं के अंतर्गत मनुष्य का निरंतर शोषण होता रहा। बीसवीं शताब्दी के दो महायुद्धों में मानवमूल्यों का पूर्णतया हास हो गया। मनुष्य वस्तुमात्र बन गया और मनुष्य तथा मनुष्य के बीच बेगानेपान का रिस्ता हो गया। महायुद्धों के बाद एक ऐसी स्थिति पैदा हो गई जिसमें एक नए और व्यापक मानवतावाद का प्रादुर्भाव हुआ जो विश्व मानव की अंतश्चेतना को अनुप्राणित करता है। विज्ञान में जो प्रगति हुई उसकी जीवन-दृष्टि मानवतावादी थी। मानव की सुख-सुविधाओं की सामग्री जुटाना, मनुष्य को प्रत्येक प्रकार से निरापद और निःशंक बनाना वैज्ञानिक प्रगति का मूल लक्ष्य था। विज्ञान की इस प्रगति ने मानव के चिंतन-क्रम में, जीवन की व्यवहार प्रणाली में चेतना के गतिशील स्तरों में, समाजों की व्यवस्था में, राष्ट्रों की संचालित शक्ति में और समूचे विश्व के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में परिवर्तन ला दिया।

इस प्रकार मानवतावादी विचारों के पीछे मानवीय हितों को महत्व देने वाले अतीत के विशाल चिंतन का बल है। मानवतावादी विचारधारा का उद्भव सहसा नहीं हुआ बल्कि उसके पीछे एक सुदीर्घ परंपरा रही है। यह परंपरा भारतीय चिंतन में भी मिलती है। किंतु इसकी व्यवस्थित और विकासशील परंपरा पश्चात्य चिंतन में मिलती है। यह बात अवश्य है कि भारत और पश्चिम की चिंतन-पद्धति में अंतर है। भारतीय जीवन मात्र विचार-पद्धति नहीं वरन् वह जीवन-पद्धति भी है। भारतीय जीवन की क्रिया-पद्धति अपने मूल रूप में संघर्ष का निषेध करती है क्योंकि यह सहज ज्ञान पर आधारित है। यह सहज ज्ञान काल से संबंधित है। सारी सृष्टि के मूल की आधारभूत चेतना एक ही होती है और वह काल भेदी है। जीवन काल का खंड मात्र है, मृत्यु काल है जिसका कोई द्वंद्व नहीं है। इस दृष्टि से नियति का संबंध व्यक्ति से है। मानव अपनी नियति की पहचान में अपनी स्थिति में परिवर्तन लाने का प्रयास करता है।

पश्चिमी संदर्भ में मानवतावाद का अपना अलग इतिहास है। यहाँ मानवतावाद का विकास वैज्ञानिक प्रगति से हुआ और इसीलिए विज्ञान की भाँति ही आधुनिक मानवतावाद एक सार्वभौमिक विचारधारा है। आधुनिक मानवतावाद को समझने का अर्थ-आज की उस दार्शनिक चिंतन का अध्ययन करना है जो विश्व में मानवीय अस्तित्व को श्रेष्ठ बनाने में प्रयत्नशील है। वास्तव में पारलौकिक मूल्यों के स्थान पर इहलौकिक मूल्यों को प्रमुखता देने वाले विचारधारा ही मानवतावाद है। मानवतावादी विचारधारा के केन्द्र बिंदु मानवगतिमा के प्रति आस्था है। इस प्रकार मानवतावाद का प्रतिपाद्य मनुष्य का लौकिक सुख है न कि किसी काल्पनिक ससार का मरणोत्तर आनंद। यह एक संप्रदाय नहीं है बल्कि एक दृष्टि है और कर्म को प्रेरित करने वाला दर्शन है। वास्तव में मानवतावाद का अर्थ-ही है मानव हितों का समर्थन करने वाली विचारधारा। इसमें किसी देश या जाति के प्रति न तो कोई भेदभाव है और न ही दुर्भावना है। यह बंधुत्व का पोषक है। यह एक नैतिक आदेश है क्योंकि मानव स्वभाव की स्वाभाविक विशेषता करुणा है। बुद्ध, ईसा, महावीर जैसे महापुरुषों ने करुणा और मानवमेत्री का संदेश दिया। मानवतावादी आन्दोलन मुख्यतः मानव जाति और बाद में अन्य प्राणियों के प्रति होने वाले निर्मम व्यवहार को रोखने के लिए चला है। इसमें मानव कल्याण और प्राणि जगत की रक्षा के लिए प्रयास किया गया है। वास्तव में मानवतावादी आन्दोलन नव चेतना और चिंतन क्षेत्र की जाग्रति का परिणाम है। इस प्रकार का चिंतन अतीत काल में भी होता रहा है किंतु मनुष्य की सर्वोच्चता के भाव को जितना महत्व वैज्ञानिक युग के प्रभाव से प्राप्त हुआ है, उतना पहले कभी नहीं मिला। मध्ययुगीन समाज में ईश्वरीय सत्ता और प्राकृतिक शक्तियों को इतना अधिक महत्व दिया जाता था कि मनुष्य की स्थिति तुच्छ और गौण ही मानी जाती थी। विज्ञान के प्रादुर्भाव से और वैज्ञानिक दृष्टि के विकास से मनुष्य को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ क्योंकि उसने प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन कर उसके साधनों पर अधिकार कर लिया है।

आधुनिक मानवतावाद का जन्म अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में हुआ। तत्कालीन सामाजिक आर्थिक स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में इसका उद्भव हुआ। इसमें परहितैषता से प्राप्त सुखों को ऊँचा और सनातन माना गया। अंध विश्वास नष्ट हुआ। दासप्रथा का विरोध हुआ, कारखानों के अमानवीय श्रम नियमों

का प्रतिरोध हुआ, दंड संहिताओं में संशोधन हुआ। सामाजिक संरचना को मानवीय बनाए रखने की आवश्यकता पर बल दिया गया। धर्म निरपेक्ष सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक चिंतन के लिए भूमिका तैयार की गई। जीर्णोद्धार रीतिरिवाजों और कर्मकांडों का विरोध किया गया। नई परिस्थितियों के अनुरूप धर्म की नई व्याख्या की गई। इस प्रकार मानवतावादी प्रेरणा से शांतिवाद का विकास हुआ।

मानवतावाद प्राकृतिवाद, भौतिकवाद, विज्ञान और नैतिकता का समन्वय:

प्रश्न उठता है कि मानवतावाद प्राकृतिवादी है या भौतिकवादी; वैज्ञानिक है या नैतिकवादी अथवा इन चारों का समन्वित रूप। प्राकृतिवाद के सिद्धांत के अनुसार प्रकृति ही सारभूत वास्तविकता है। अति प्राकृत का कोई अस्तित्व नहीं है। मनुष्य और उसकी पृथ्वी तथा समस्त ब्रह्मांड विराट प्रकृति के ही अंग हैं। इस विश्व के रहस्यों का उद्घाटन विज्ञान से ही हो सकता है। अतः प्राकृतिवाद की अभिव्यक्ति वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तार्किक बुद्धि से ही हो सकती है। भौतिकवाद प्राकृतिवाद का सीमित रूप है। इसमें सत्त्व का आधार भूतत्व ही माना जाता है। भौतिकवाद में प्रकृति की अपेक्षा भूत तत्व पर बल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त भौतिकवाद सदैव धर्म विरोधी रहा है लेकिन इसमें एक दोष यह है कि यह मनुष्य की विषयगतिता को स्वीकार नहीं करता जबकि यह मानवतावाद का आधार है। मानवतावाद जहाँ युगों से प्राप्त आधारभूत और व्यावहारिक नैतिक मूल्यों को साथ ले कर चलता रहा है वहीं यह विज्ञान की सहायता से इस पृथ्वी पर जीवन को अधिक से अधिक सुखमय और कल्याणकारी बनाने का भी प्रयास करता रहा है। जहाँ जीवन के मूल्य मानवीय संबंधों की उपज हैं वहीं मानव जीवन को भौतिक जगत में उन्नत बनाने की भी संभावनाएँ निहित हैं। इस प्रकार मानवतावाद प्राकृतिवाद, भौतिकवाद, विज्ञान और नैतिकता का समन्वित रूप है जिसके अंतर्गत मूल्यों के प्रवृत्तिकरण के साथ-साथ वस्तुओं के यांत्रिक संसार का मानवीकरण भी है।

19.3.1 समाजवाद और मानवतावाद

मानवतावाद वस्तुतः मानवतावादी विचारधारा का ही दूसरा रूप है। समाजवाद का भी चरम लक्ष्य मानव जाति का कल्याण और हित है। वह मनुष्य के सामाजिक जीवन के संचालन के लिए किसी अति प्राकृत अथवा धार्मिक सत्ता को मान्यता नहीं देता। वह मनुष्य को स्वयं अपने भाग्य का नियामक मानता है। वास्तव में समाजवाद की परिकल्पना मार्क्स की विचारधारा से ही उद्भूत हुई। मार्क्स ने पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के अध्ययन और श्रामिक वर्ग के संगठन के विवेचन में एक ऐसे समाज की परिकल्पना प्रस्तुत की जो नए मानवतावाद के विकास की आधार भूमि है। इस दृष्टि से समाजवाद मानवतावाद के काफी अधिक निकट जा पड़ता है।

19.3.2 गांधीवाद और मानवतावाद

गांधीजी का कर्म और चिंतन लोकतंत्र तथा समतावाद के विचारों से अनुप्राणित था। गांधीजी ने भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में अहिंसात्मक संघर्ष की प्रणाली का विकास किया तथा न्यायपूर्ण और वैद्य अधिकारों के लिए लड़ने का शांतिपूर्ण मार्ग प्रशस्त किया। अन्याय का प्रतिरोध करने के लिए उन्होंने सत्याग्रह की पद्धति को अपनाया। गांधी जी ने सत्याग्रह को आत्मत्याग का प्राचीन नियम बताया जिससे असहयोग और सविनय प्रतिरोध की विधि उद्भूत हुई। वास्तव में गांधी जी अहिंसात्मक एवं शांतिपूर्ण उपायों से समाज को बदलना चाहते थे। वे वर्ग-संघर्ष को स्वीकार नहीं करते थे और पूँजीपतियों की शोषण वृत्ति को हृदय-परिवर्तन के द्वारा समाप्त करने में विश्वास रखते थे। समाजवादी गांधीजी की इस विचारधारा से सहमत नहीं है। गांधीजी भौतिक संस्कृति को निकृष्ट मानते थे। उनके मतानुसार जीवन के लक्ष्य को प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृति के अनुकूल बनाने से ही विश्व का कल्याण हो सकता है। यह सही है कि गांधीजी का जीवन दर्शन धर्म-केन्द्रित था किंतु उनकी धर्म साधना केवल उपासना या व्यक्तिगत मोक्ष लाभ की वस्तु नहीं थी। उनका धर्म मानव-सेवा के उदात्त विचारों से अनुप्राणित था। इस दृष्टि से गांधी मानवतावाद के काफी निकट है।

19.3.3 अस्तित्ववाद और मानवतावाद

अस्तित्ववाद निकटतम भूत का चिंतन और भावना की विशेष अभिव्यक्ति है। यह एक ऐसी आधुनिक विचारधारा है जो सामूहिकीकरण और मशीनीकरण की शक्तियों के विरुद्ध मनुष्य की महिमा तथा स्वतंत्रता को पुनः स्थापित कर मानव जीवन को संभव बनाने के लिए कार्यशील है। अस्तित्ववाद के दो संप्रदाय हैं—आस्तिक और नास्तिक। नास्तिक अस्तित्ववाद ही मानव केन्द्रित विचारधारा है। यह अस्तित्ववाद मूलतः निरर्थक जीवन को मानवीय सार्थकता देना चाहता है। इस का प्रतिपादन फ्रांसीसी दार्शनिक और साहित्यकार ज्यीं पाल सार्त्र ने किया। सार्त्र के मतानुसार यह संसार में सहसा प्रकाश और भ्रमों से वंचित हो गया है और इसमें आदमी स्वयं को अजनबी पाता है। उसकी यह स्थिति अपरिहार्य है, क्योंकि उसे कोई दुनिया की कोई स्मृति नहीं होती और न ही किसी आशवासित संसार की आशा। अस्तित्ववाद की मूल स्थापना यह है कि सत्त्व के पूर्व अस्तित्व की सत्ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आधारभूत और एकमात्र वास्तविकता अस्तित्व भी है। इसलिए इस चिंतन का प्रारंभ आत्मनिष्ठता से होता है। वह ईश्वर या सृष्टिकर्ता को नहीं मानता। साथ ही वह मानव-प्रकृति को ऐसी वस्तु स्वीकार नहीं करता जो पहले से निर्धारित हो वरन् ऐसी वस्तु मानता है जो स्वयं मनुष्य द्वारा निरंतर बनाई गई हो। सार्त्र ऐसी मानवतावाद का विरोध करता है जो व्यक्ति को एक प्रकार के धार्मिक विश्वास से बांध दे। इस प्रकार की मानवता फासिज्म में बदल सकती है। सार्त्र का मत है कि अस्तित्ववाद भी मानवतावाद है क्योंकि वह मनुष्य को यह स्मरण कराता है कि उसको छोड़ कर अन्य कोई नियम-निर्माता नहीं है। इस प्रकार अस्तित्ववाद एक निरपेक्ष विश्व में मनुष्य के अर्थवत्ता सहित जीने के संकल्प का औचित्य और मानव एकता के आधार का दार्शनिक विश्लेषण है जो मानवतावाद की भी अवधारणा है।

19.3.4 मानवतावाद के प्रकार

आधुनिक युग में मानवतावाद पर विभिन्न चिंतकों और विचारकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विवेचन किया। इस आधार पर मुख्य रूप से पाँच प्रकार के दृष्टि कोण मिलते हैं— 1. नवमानवतावाद, 2. आचरणवादी मानवतावादी, 3. धार्मिक मानवतावाद, 4. उदारतावादी मानवतावाद और 5. वैयक्तिकतावादी मानवतावाद।

1. नवमानवतावाद: इस का प्रवर्तन इरविंग बेबिंजर और पॉल ई. मूड ने किया। इसका प्रमुख सिद्धांत है आंतरिक अवरोध और प्रमुख मूल्य है संयम तथा सामंजस्य। इसमें प्राचीन संस्कृति और अतिप्राकृत सत्ता को नकारते हुए धर्म के अच्छे तत्वों का संश्लेषण किया गया है। इसमें 'रोमांटिसिज्म' का विरोध करते हुए मनुष्य के प्रकृतिगत रूप को नियंत्रण में रखने और भावना के स्थान पर विचार को प्रमुखता देने का आग्रह किया गया है। नवमानवतावाद ने साहित्यिक और शैक्षिक रूप को स्वीकार किया और उसने प्राचीन क्लासिकल कृतियों की ओर प्रत्यावर्तन पर बल दिया। इसका आंतरिक अवरोध असीमता, अनंतता, सर्वसमर्थता, अविभाज्यता आदि की ओर संकेत करता है।

2. आचरणवादी मानवतावाद: यह इस लोक में मानव-कल्याण को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य स्वीकार नहीं करता। आचरण तक इसे सीमित रखना चाहता है। इसके प्रतिपादक इलियट ने मानवतावाद को उदारता, सहिष्णुता और समझदारी का प्रतिरूप माना। यह धर्मोन्माद का विरोधी है। इसका कार्य संस्कृति और रूढ़िवादी सिद्धांतों को प्रेरित करना है। इस प्रकार यह मानवतावाद यद्यपि नैतिकता को स्वीकार करता है किंतु यह केवल आचरण की शिक्षा देने वाला सिद्धांत नहीं है बल्कि जीवन को एक पद्धति है।

3. धार्मिक मानवतावाद: इस सिद्धांत का फ्रांसीसी चिंतक जॉक भारितां ने मध्यकालीन ईसाई मत के आधार पर प्रतिपादन किया है। यह धार्मिक-लौकिक समन्वय के आधार पर प्रतिस्थापित हुआ है। इसमें धार्मिक मूल्यों को केन्द्र में रखा गया है। इसमें कैथोलिक धर्म के आदर्शों के आधार पर संगठित एक सुखी समाज की पारिकल्पना रखी गई जिसमें न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बहुत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा है। इसी संदर्भ में भारतीय विद्वान डॉ. देवराज ने सृजनशीलता को मनुष्य की सब से बड़ी विशेषता

मानते हुए 'सर्जनात्मक मानवतावाद' की अवधारणा प्रस्तुत की। उनका यह सर्जनात्मक मानवतावाद धर्म-अविरोधी है। इसमें आध्यात्मिक अनुभूति को मनुष्य की सब से ऊँची अनुभूति माना गया है। डॉ. राधाकृष्णन् ने मानवतावाद का संबंध विभिन्न धर्मों के आदर्शों की छत्रछाया में गठित एवं विश्वव्यापी मानव चेतना से जोड़ने का प्रयास किया है। उनके मतानुसार कर्म मनुष्य के भौतिक और सामूहिक कल्याण की भी उतनी ही चिंता करता है जितनी आध्यात्मिक और व्यक्तिगत कल्याण की। किंतु इस सिद्धांत को मान्यता प्राप्त नहीं हुई।

4. उदारतावादी मानवतावाद: इस सिद्धांत का उद्भव विकासशील पूँजीवादी समाजों में उदीयमान मध्यवर्ग के सामाजिक-राजनैतिक चिंतन से हुआ। इसकी ऐतिहासिक प्रगति, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सहिष्णुता और विवेक-शक्ति के प्रति निष्ठा थी। इनको विश्वास था कि अन्यायपूर्ण संस्थाओं, जीर्ण मतवादों, और पाशविक प्रवृत्ति के अवशेष चिह्नों का धीरे-धीरे अंत हो जाएगा तथा एक श्रेष्ठ मानव जाति का प्रादुर्भाव होगा। उदारतावाद ने धर्म-निरपेक्ष मानवतावादी विचारों का पोषण किया। लेकिन यह सिद्धांत शीघ्र ही प्राभवहीन हो गया।

5. वैयक्तिकतावादी मानवतावाद: इसका आधार व्यक्ति-स्वातंत्र्य है जिसे लॉज, शिलर, वर्ड्सवैव आदि ने प्रतिपादित किया। वैयक्तिकतावाद दायित्व पूर्ण स्वाधीनता की बात करता है। वैयक्तिकता व्यक्ति का सहज गुण है और उसकी विकासोन्मुख सर्जनात्मक वृत्ति है। यह स्थायी और व्यापक मानव मूल्यों को उनकी समग्र संपूर्णता में पहचान कर उन्हें दायित्व के रूप में स्वीकार करती है तथा व्यवहार को प्रेरित करती है। किंतु, यह मानवतावादी विचारधारा से अलग जा पड़ता है क्योंकि इसका जन्म मार्क्सवाद के विरोध में हुआ था और यह धार्मिक तथा उदारतावादी दृष्टि से अधिक जुड़ा हुआ है।

19.3.5 मानवतावाद और साहित्य

मानवतावादी विचारधारा ने साहित्य को भी प्रभावित किया। यह बात नहीं है कि आधुनिक साहित्य के मूल में ही मानवतावादी जीवन-दृष्टि के दर्शन होते हैं। वस्तुतः विभिन्न युगों में साहित्यिक साधना के मूल में कोई-न-कोई मानवीय विश्वास रहा है। आधुनिक युग का व्यापक विश्वास मानवतावाद है। इसी संदर्भ में आचार्य हजरी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'इस युग में मनुष्य ने धर्म पर संदेह किया, परंपरा समर्थित नैतिक दृष्टि-भंगी पर संदेह किया, उसने मनुष्य की महिमा पर हड़तापूर्वक आस्था बनाए रखी। मनुष्य सब कुछ कर सकता है, प्रकृति के दुर्ग पर अपनी विजय पताका फहरा सकता है, वह सृष्टि-परंपरा की सब से उत्तम परिणति है। नवीन साहित्य के मूल में यही विश्वास कार्य कर रहा है। इस प्रकार मानवतावादी जीवन दृष्टि का प्रभाव साहित्य पर पड़ा। इसमें मानव को लक्ष्य बना कर उसका सर्वांगीण चित्रण किया गया। मानवीय संबंधों के लिए दर्शन, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, भौतिकी आदि ज्ञान का सहारा लिया और उसे अपने कलात्मक सृजन में ढाल दिया। साहित्य केवल सुन्दर, उज्ज्वल, आदर्श और शिष्ट पक्षों तक ही सीमित न रह कर तिरस्कृत, विद्रुय और गहिँत स्थितियों का भी चित्रांकन करने लगा। यथार्थवादी और तथ्यपूर्ण शैलियों का विकास हुआ। वास्तव में मानव को सभी दृष्टियों और कोणों से देख कर जीवन की संपूर्णता का निरूपण साहित्य का उद्देश्य हो गया।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रारंभ भारतेन्दु युग से माना गया है किंतु सन् 1936 के पश्चात् अर्थात् प्रगतिवादी साहित्य के साथ ही नवमानवतावादी जीवन-दृष्टि का विकास हिन्दी साहित्य में मिलता है। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य तक उस मानवतावादी दृष्टि का स्वरूप नहीं मिलता जो आधुनिक विचारधारा से अनुप्राणित हो। प्रगतिवादी साहित्य में भी मानवतावादी विचारधारा की कई सीमाएँ मिलती हैं किंतु इसमें नवीन दिशाओं और चिंतन की युगीन संभावनाओं को अपने भीतर अवश्य रखा है जिसमें मानव की दुर्बलताओं, दीन-दुखियों की आहों, शोषित और पीड़ित वर्ग पर हो रहे अत्याचारों, जीवन के आभावों तथा विडंबनाओं आदि का चित्रण मिलता है। इससे साहित्य में जनसामान्य को भी स्थान मिलने लगा। महाकाव्यों में धीरोदात्त तथा इतिहास-पुराण प्रसिद्ध नायकों का चित्रण होता था किंतु आधुनिक युग में इस परंपरा का अतिक्रमण हुआ। वर्तमान युग में रावण, मेघनाथ वध आदि राक्षस और दैत्य

कहे जानेवाले आज भी महाकाव्य के नायक बने। निषाद पुत्र एकलव्य पर रामकुमार वर्मा ने महाकाव्य लिखा। उर्मिला और कैकेयी जैसे उपेक्षित पात्रों पर भी प्रबन्ध काव्य लिखे गए। कथा साहित्य में मुंशी प्रेम चंद ने अनेक उपन्यास और कहानियाँ लिखीं जिनमें नायक जन सामान्य से जुड़े हुए हैं। प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य, नाटक, एकांकी आदि की रचना तत्कालीन सामाजिक समस्याओं और मध्यवर्गीय लोगों के जीवन को लेकर लिखी गई। प्रयोगवादी काव्य, नई कविता और नई कहानी में मानव के सभी रूपों और उसके समस्त कार्य-कलापों, आचार-व्यवहारों, अंतः संघर्षों और संवेदनाओं का चित्रण किया गया है। यह वस्तुतः मानवतावादी जीवन-दृष्टि का परिचायक है।

नए साहित्य के इस मानवतावादी दृष्टिकोण की यह आलोचना भी की जाती है कि इसमें कुंठाओं की अभिव्यक्ति, अनास्था का प्रदर्शन और विकृत रुचियों का प्रचार है। किंतु इस बात को ध्यान में नहीं रखा जा रहा कि साहित्यकार को मध्यवर्गीय समाज से प्रेरणा मिल रही है। उसकी वस्तु स्थिति में दैन्य, अस्थिरता, अनास्था, आशंकाएँ और विकृतियाँ दिखाई देती हैं। बेरोजगारी, घूसखोरी, भ्रष्टाचार, शोषण आदि समाज को जर्जर बनाए जा रहे हैं। आज के विश्व में मानव की संकटपूर्ण स्थिति, कुंठित आत्मचेतना और भयावह वातावरण के कारण मानवीय चिंतन बोध में व्यतिक्रम उत्पन्न हो गया है। भौतिकतावादी जीवन मूल्यों की पराकाष्ठा के कारण मनुष्य अधोगति की ओर जा रहा है। ऐसी स्थिति में साहित्यकार का दायित्व हो जाता है कि वह जीवन-सत्यो को यथार्थ-रूप में चित्रित करे। इस दृष्टि से नया साहित्य सार्थक और उपयोगी सिद्ध होगा।

19.3.6 मानवतावादी आलोचना के लक्षण

हिन्दी साहित्य में आलोचना के क्षेत्र में मानवतावादी चिंतन पद्धति को स्वीकार किया गया। इसमें साहित्य रचना के निरर्थक प्रयोजनों की उपेक्षा की गई। आज के आलोचना जगत में छंद, अलंकार, काव्य दोष, रसात्मक स्थलों की खोज, पात्रों के गुण-दोष आदि को ही आलोचना के विषय तक सीमित नहीं रखा गया वरन् कृति की सृजन-संवेदना, युग बोध, जीवन-मूल्य की व्यख्या, भाव-संप्रेषण आदि को भी दृष्टि में रखा गया। रूढ़ साहित्यिक परंपराओं को अस्वीकार किया गया। इसके अतिरिक्त मानवतावादी जीवन-दृष्टि के विकास से प्राचीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन हुआ है। आज की आलोचना विवेचन की अपेक्षा विश्लेषण पर अधिक बल दिया जाता है। इसके मूल में वैज्ञानिक चेतना, राजनैतिक जागृति और सांस्कृतिक नवदृष्टि का विकास है।

इस प्रकार मानवतावादी चिंतनधारा से हिन्दी के आधुनिक साहित्य-सृजन और आलोचना क्षेत्र में निर्माण की नई दिशाओं की अभिव्यक्ति हुई है। इस साहित्य में देश, काल और समाज का दिग्दर्शन होता है किंतु यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इनमें अंतर्राष्ट्रीय भाव साम्य और वैचारिक ऐक्य मिलता है। अंग्रेजी के शेक्सपियर, मिल्टन आदि के युग और हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य तथा झाड़न, पोप, जॉनसन के रोमांटिक युग तथा हिन्दी के रीतिकालीन काव्य में जो अंतर दिखाई देता है उतना अंतर आधुनिक काल में अंग्रेजी तथा हिन्दी साहित्य में दिखाई नहीं देता। अंग्रेजी में वर्जिनिया कुल्फ, प्रीस्टले, आल्डस हक्सले, गार्स वर्दी, एच.जी.वेल्स आदि कथाकारों, किलिंग, चेस्टर्टन, टी.एस. इलियट आदि कवियों और जार्ज बर्नार्ड शा भी मानवतावादी दृष्टि मिलती है, वही दृष्टि हिन्दी में प्रेमचंद, यशपाल, संघेय राघव, अज्ञेय, रेणु, मुक्तिबोध, नरेश मेहता, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मी नारायण मिश्र, विष्णु प्रभाकर, शिवदान चौहान, रामविलास शर्मा आदि अनेक कथाकारों, कवियों, नाटककारों और आलोचकों में मिलती है। इस प्रकार मानवतावादी दृष्टि सार्वभौतिक दृष्टि है जिसमें मानवीय विश्वास और आस्था का अभिव्यक्तिकरण है। इससे जीवन के प्रति नई धारणाओं का जन्म हुआ है और सामाजिक मान्यताओं में परिवर्तन आया है। इसके परिणामस्वरूप साहित्य के नए प्रतिमान स्थापित हुए जिनसे साहित्य में परंपरा, इतिहास और सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतिष्ठापन हुआ।

19.3.7 हिन्दी के मुख्य मानवतावादी आलोचक

हिन्दी आलोचना के विकास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानवतावादी आलोचकों का उल्लेखनीय योगदान है। इन तीनों आलोचकों के मानवतावादी चिंतन का यहाँ विवेचन किया जा रहा है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल: आचार्य शुक्ल एक ऐसे मानवतावादी आलोचक हैं जिस की आधार भूमि लोक मंगल है। उनकी इस मानवतावादी दृष्टि में वैष्णववादी चिंतन का संयोजन है। इसके कारण उन पर धर्मपरक नैतिकता का आरोप लगाया जाता है। किंतु धर्म का साधारणीकरण करने के मार्ग में शुक्ल गुणात्मक दृष्टि से रूप विन्यास में परिवर्तन करने का आग्रह करते हैं। अर्थ प्रकाशन में प्रयोजन को प्रमुख रूप प्रदान करते हैं। वे जीवन दृष्टि पर विश्वास रखने के साथ-साथ वस्तुपरकता पर बल देते हैं। उनकी यह दृष्टि उनके दृढ़ विभाव पक्ष का विरोध तो करती है किंतु लोक व्यवहार को मानव कल्याण के साथ जोड़ने का प्रयास करते हैं। साहित्य के इतिहास में विभिन्न प्रवृत्तियों की खोज करते हुए शुक्लजी शील-दशा की स्थिरता और स्तर की पहचान करते समय इतिहास की द्वंद्वमयता पर ध्यान देते हैं। इतिहास की इस द्वंद्वमयता का आधार लोक-हृदय और लोकानुभूति है जो सप्रेषणीयता की सशक्त विधि मानी गई है। शुक्लजी ऐसी लोक व्यवहार प्रक्रिया के अनुरूप शीलदशा की स्थिरीकरण करना चाहते हैं और उसे वे समाज-सापेक्ष बनाना चाहते हैं। लोक-व्यवहार की इस दीर्घ प्रक्रिया में शुक्लजी जीवन दृष्टि और अनुभूति के सामंजस्य में चरित्र की अवधारणा को भी संयोजित करते हैं। इस अवधारणा में रुढ़िगत धार्मिक आदर्श निहित नहीं है। विकासात्मक मानवता का आकलन करते हुए शुक्लजी लोक व्यवहार के अनुरूप परिवर्तन के विकासात्मक पक्ष का समर्थन करते हैं। इसमें लोक आस्था और तर्कशीलता दोनों का समावेश है जिसमें धर्म लौकिकता के साथ-साथ तर्क को भी समेटे हुए है। अतः शुक्ल जी के संबंध में सगुणात्मक और नैतिकता के आधारभूत धर्म के होने का जो आरोप है वह उनकी चिंतन पद्धति से निरर्थक सिद्ध हो जाता है।

शुक्ल जी मूलतः मानवतावादी हैं किंतु उसमें भारतीय समाज और संस्कृति का समावेश है। उनके मानवीय चिंतन की मूल संवेदना लोकवादी है। इस संवेदनात्मक विधान में लोकतंत्र के पक्ष और प्रतिपक्ष की भूमिका है, लोकतांत्रिक संभावनाओं का मूल्यांकन है, रुढ़ियों का विरोध और मानव मुक्ति का समर्थन है। रस मीमांसा में शुक्लजी ने व्यावहारिक रूप में समाज की चित्तवृत्ति के परिवर्तन और विकास खोज करते हुए मानव चेतना को बढ़ाने का प्रयास किया है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल जी की जीवन दृष्टि चाहे परंपरा-आर्जित है किंतु वह मानव चेतना के विकास को प्रोत्साहन देती है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी: हिन्दी की मानवतावादी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य वाजपेयी का विशेष स्थान है। उन्होंने छायावादी साहित्य में नई कल्पनाशीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानसिक वृत्तियों की सूक्ष्मतर पकड़, एक बिलक्षण अवसाद, विस्मय और कौतूहल, एक स्वतंत्र लालसा, सांस्कृतिक द्वंद्व की अनिर्दिष्ट स्थिति कर्म चेतना का सामूहिक रूप देखा है। इन स्थितियों को वाजपेयी जी मानव जीवन की पृष्ठभूमि में देखते हैं। इनका मानवतावादी चिंतन आत्मा के ससार, विद्रोह और विश्वमानवता से अनुप्राणित है। आचार्य शुक्ल के चिंतन की भाँति वाजपेयी जी कवि के उद्देग को जाती उद्देग का प्रतिनिधि मानते हैं। इस प्रकार वाजपेयी जी सृजन और समीक्षा तत्व के रूप में मानव-निष्ठा और लोक संबद्धता को प्रतिमान बनाने के पक्ष में रहे हैं जो साहित्य को मानव जीवन के निकट लाने में सहायक होता है। इस प्रकार साहित्य के द्वारा प्रसारित मानवीय संवेदना और चेतना-धार्मिता की खोज में वाजपेयी जी का विशेष योगदान है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी: आचार्य द्विवेदी शास्त्रीय परंपरा से भिन्न आलोचक के रूप में स्थापित हुए हैं। आचार्य द्विवेदी वस्तुतः नवमानवतावादी हैं। उन्होंने जीवन के स्थायी मूल्यों को नया अर्थ और नए मूल्यों को नई भाषा देने का प्रयास किया है। समाज के परिप्रेक्ष्य में द्विवेदी जी मनुष्य की भाव-परिधि का विस्तार युगबोध के उद्देश्य से किया। उनके मतानुसार मानवतावादी में लोकाश्रित कथानक रुढ़ियों में व्यक्त होने की परंपरा भी सहज रही है। मानव की चेतना प्रक्रिया जीवन मूल्यों

के साथ जुड़ी हुई है। इसमें व्यक्ति की निष्ठा, भाव, विचार और आचरण का प्रकटीकरण होता है। साहित्य के इतिहास में सांस्कृतिक निरंतरता का संदर्भ होना अपेक्षित है। इसमें मनुष्य जीवन के अखंड प्रवाह के अध्ययन की अपेक्षा है। इस दृष्टि से द्विवेदी जी ने मनुष्यता की जड़ को सींचने, मनोरोगों के सामाजिक उपयोगों को पहचानने और सामाजिक को काव्यार्थ को पूर्णतया समझने का समर्थन किया है। इस प्रकार मानव मात्र की मंगल भावना और सामाजिक चेतना द्विवेदी जी की मानव चेतना का प्रारूप है।

19.4 सारांश

आधुनिक युग में मानवतावाद का व्यापक अर्थ में प्रादुर्भाव हुआ। यद्यपि इसके मूल में मानव हित को बल देने वाले अतीत का विशाल चिंतन था किंतु विज्ञान की प्रगति से यह वैज्ञानिक दृष्टि से परिपूर्ण था। इसका प्रतिपाद्य मनुष्य का लौकिक सुख था। इसमें किसी देश या जाति के प्रति न कोई भेद भाव था और नहीं दुर्भावना। यह विश्व नागरिकता, अंतर्राष्ट्रीय मैत्री और बहुत्व पर आधारित है। इसमें भौतिकता, वैज्ञानिकता और नैतिकता का समावेश है। यह समाजवाद का प्रतिरूप है तो गांधीवाद के कई तत्वों को अपने भीतर समेटे हुए है। इसने साहित्य में अपना विशेष स्थान बना लिया। साहित्य में मानव जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा और मानव मन की आकांक्षाओं का सुन्दर चित्रण हुआ है। इसी संदर्भ में आलोचना के क्षेत्र में नए प्रतिमानों की स्थापना हुई है जो मानव कल्याण और जीवन मूल्यों से अनुप्राणित हैं।

19.6 अभ्यास

19.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. मानवतावाद का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. मानवतावाद और साहित्य में अंतः संबंधों का विवेचन कीजिए।
3. मानवतावाद का अर्थ-स्पष्ट करते हुए उसके प्रकारों के बारे में बताइए।

19.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)

1. मानवतावादी आलोचना का विवेचन हिन्दी आलोचना के संदर्भ में कीजिए।
2. मानवतावाद का संबंध समाजवाद, गांधीवाद और अस्तित्ववाद के साथ कितना है, इस बारे में विस्तार से बताइए।

19.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

19.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: मानवतावाद और गांधीवादी में अंतर बताइए।

उत्तर: मानवतावाद का केन्द्रबिन्दु मानव गरिमा और मानव के प्रति आस्था है। इस का प्रतिपाद्य मानव कल्याण है जो कर्म को प्रेरित करता है। गांधीजी भी कर्म के प्रति आस्था रखते हैं और लोकतंत्र तथा समतावाद के समर्थक हैं। किंतु उनका जीवन दर्शन धर्म केन्द्रित है। इस मानवतावाद स्वीकार नहीं करता, हालांकि गांधीजी की धर्म-साधना मानव सेवा के उदात्त विचारों से प्रेरित है। मानवतावाद की आधुनिक विचारधारा भौतिकवाद से अपने-आप को जोड़े हुए है और वर्ग-संगठन के आधार पर समाज का निर्माण करना चाहती है जबकि गांधी जी भौतिक संस्कृति के विरोधी थे और वर्ग-संघर्ष को स्वीकार नहीं करते थे। वे अहिंसा पूर्ण और शांति पूर्ण ढंग से समाज में परिवर्तन लाना चाहते थे। इसलिए गांधीवाद और मानवतावाद का प्रतिपाद्य तो एक है लेकिन उनके दृष्टिकोण में अंतर मिलता है।

19.8 पठनीय पुस्तके

मानवतावाद और साहित्य
आधुनिक समीक्षा

- नवल किशोर
- भगवतस्वरूप मिश्र

BRAOU

इकाई-20: छायावादी रोमांटिक आलोचना

- 20.0 विषय प्रवेश
- 20.1 पाठ का उद्देश्य
- 20.2 पाठ-परिचय
- 20.3 मूलपाठ
- 20.4 पाठ का सारांश
- 20.5 शब्दार्थ
- 20.6 अभ्यास
 - 20.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 20.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 20.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 20.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 20.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 20.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

20.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में छायावाद का विस्तृत परिचय दिया गया है। इस पाठ से आप:

- छायावाद, "रोमांटिसिज़्म" स्वच्छंदतावाद व "नवस्वच्छंदतावाद" के अन्तर को समझ सकेंगे।
- छायावाद के संदर्भ में विभिन्न आलोचकों के विचारों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- छायावाद की प्रवृत्तियों की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- हिन्दी साहित्य को छायावाद की दृष्टि पर विचार कर सकेंगे।

20.2 पाठ-परिचय

साहित्य के क्षेत्र में जब कोई भी साहित्यिक विधा अपनी प्रवृत्ति व लक्षणों के साथ जन्म लेती है और कुछ काल तक उसकी यह विशेषता विद्यमान रहती है तब उसे अपनी विशेषताओं के कारण एक नाम दे दिया जाता है। छायावादी युग भी, अपनी विशेष प्रवृत्तियों के कारण "छायावाद" कहलाया। छायावादी आलोचकों ने इस युग की कविताएँ कौन सी कसौटी पर कसी है और वह कहाँ तक खरी उतरी है यह जानना ही इस पाठ का प्रमुख उद्देश्य है। जिन रचनाओं को आलोचकों ने छायावादी रचनाएँ कहा है, वस्तुतः उन्हीं का विस्तृत विवेचन करना, प्रेरणा, प्रवृत्ति व युग-धर्म की अनुकूलता, परिवेशगत आह्वान आदि का इस पाठ के अन्तर्गत विवेचन किया गया है।

20.3 मूल पाठ

भारतीय-भूमि पर सन् 1920-21 के बाद द्विवेदी युगीन उपदेशात्मकता, इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध जिस तरह की प्रतिक्रिया हुई वह रोमांटिसिज़्म के प्रभाव के कारण हुई थी। अंग्रेजी में रोमांटिक काव्य धारा संबंधी आलोचना हमें उतनी नहीं मिलती है जितनी कि हिन्दी आलोचना। यह विषय आलोचना का केन्द्र इसलिए बना की छायावादी काव्य धारा से बिल्कुल अलग थी। इसलिए यह आलोचना का विषय बनी और इस पर भिन्न-भिन्न आलोचकों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं।

182 "रोमांटिक" शब्द को लेकर इसका अनुवाद स्वच्छंदतावाद या नवस्वच्छंदतावाद के नाम से किया गया किन्तु अधिकतर हिन्दी आलोचकों ने इस काव्य धारा को "छायावाद" की संज्ञा से अभिहित किया।

1920 की छायावादी कविता को "श्री शारदापत्रिका" (जबलपुर) में प्रकाशित एक लेख में छायावादी कविता को रहस्यवादी मानते हुए उसे पाश्चात्य "मिस्टिसिज़्म" जोड़ दिया। यही नहीं बल्कि छायावाद क्या है लेख के आरंभ में लेखक ने कहा है कि अंग्रेजी या किसी पाश्चात्य साहित्य अथवा बंग साहित्य की स्थिति की कुछ भी जानकारी रखनेवाले को सुनते ही समझ जायेंगे कि यह शब्द "मिस्टिसिज़्म" के लिए आया है मुकुटधर पाण्डेय के अनुसार छायावाद के कवि वस्तुओं को जिस दृष्टि से देखते हैं वह असाधारण दृष्टि आध्यात्मिकता से प्रेरित है। किन्तु हृदयगत भावों का स्पष्ट रूप यहाँ न होकर अस्पष्टता बनी रहती है और यही अस्पष्टता का गुण "छायावाद की शब्दिक सार्थकता का उद्घोषक बन गयी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "छायावाद" को रहस्यवाद के अर्थ में ही ग्रहण किया है। उनकी अवधारणा है कि ईसाई संतों का साधकों के आध्यात्मिक ज्ञान के आभास को यूरोप में "छाया" कहते हैं। इसी के अनुसरण पर बंगला में अनेकानेक आध्यात्मिक गीत लिखे गये जो "छायावाद" कहलाए।

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी भी छायावाद को मूलतः रहस्यवादी काव्य मानते हैं। "हिन्दी-साहित्य: बीसवीं शताब्दी पुस्तक में छायावाद की परिभाषा देते हुए उनका कहना है "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का ज्ञान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है" डॉ. नामवर सिंह ने इस संबंध में कहा है कि बाजपेयी की आध्यात्मिक छाया शुक्लजी का "फैटसमेटा" अथवा छायाभास ही है- केवल इस अंतर के साथ कि उसमें धार्मिक स्थूलता नहीं है।

बाजपेयी जी की अवधारणा के पीछे शान्तिप्रिय द्विवेदी, महादेवी वर्मा, डॉ. नगेन्द्र आदि की भी यह प्रचलित धारणा है कि "छायावाद" स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह है।

कुछ विद्वानों ने 18वीं शताब्दी की अंग्रेजी रोमाण्टिक कविता की प्रतिकृति के रूप में छायावादी-काव्य को स्वीकार है। यह सत्य है कि छायावादी कवि रोमाण्टिक कवियों से प्रत्यक्षतः प्रभावित हुए हैं व उनकी कविताओं में साम्य भी दिखाई पड़ता है फिर भी हिन्दी छायावादी काव्य को अंग्रेजी-कवियों के काव्य का रूपांतर नहीं मान जा सकता। छायावादी काव्य धारा एक पूर्णतया मौलिक और समृद्ध काव्य धारा है।

डॉ. नामवर सिंह ने छायावादी काव्य की आलोचना व प्रत्यालोचना को लेकर एक बात स्पष्ट की है कि जिस समय अंग्रेजी का "मिस्टिसिज़्म" शब्द आया उसके कुछ दिन बाद ही रोमैटिसिज़्म शब्द आ गया। शुक्ल जी ने इसका हिन्दी अनुवाद "स्वच्छंदतावाद" किया और श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि को स्वच्छंदतावादी कवि कहा। इस तरह से शुक्लजी ने "स्वच्छंदतावाद" और छायावादी में अंतर किया।

आचार्य शुक्लजी को साहित्य के इतिहास संबंधी एक प्रामाणिक, समर्थ व ठोस आलोचक के रूप में स्वीकार किया गया है। इसलिए उनकी "छायावाद" संबंधी अवधारणा को मान्यता प्राप्त होना भी स्वाभाविक है किन्तु वर्तमान प्रतिष्ठित आलोचक नामवर जी ने इन तीनों नामों के संबंध में अंतर बताते हुए स्पष्ट किया है कि रहस्यवाद अनन्त की जिज्ञासा है तो छायावाद चित्रण की सूक्ष्मता और स्वच्छंदतावाद प्राचीन रुढ़ियों से मुक्ति की आकांक्षा है। यह तो स्पष्ट है कि रहस्यवाद, छायावाद, स्वच्छंदतावाद अपने अर्थों कि भिन्नता के कारण नयेपन का बोध करता है। परम्परागत रुढ़ियों के विरोध में खड़े होते हैं। वस्तुतः यह तीनों ही एक ही काव्य-धारा की विविध प्रवृत्तियाँ हैं।

"रोमैटिसिज़्म" को जिस प्रकार अन्य साहित्यों में अनेक प्रवृत्तियों का युग मानकर उसे रोमैटिक काव्य माना जाने लगा, उसी प्रकार उसी तरह की अनेक प्रवृत्तियों के पुंज छायावादी काव्य को भी यदि छायावाद नाम से ही संबोधित किया जाये तो ग्राह्य व अधिक ऐतिहासिक और व्यावहारिक होने के साथ-साथ अधिक वैज्ञानिक भी होगा। उसी रूप में वह स्वीकार भी किया गया।

छायावादी काव्य ने अपनी युगीन चेतना को, चाहे वह राष्ट्रीय, मानवीय, प्राकृतिक सौन्दर्य, आत्माभिव्यक्ति, काव्यात्मक, अभिव्यक्ति आदि से संबंधित रही हो, सदैव अपने नाम (छायावाद) का अर्थ विस्तार किया है। इसलिए उसमें विविधता और व्यापकता है।

20.3.1 प्रवृत्तियाँ

लक्षण संबंधी छायावादी रोमांटिक आलोचना को हम निम्नांकित विभाजन के आधार पर सरलता से समझ सकते हैं।

छायावादी काव्य कवि की वैयक्तिकता, अपनी आत्मीयता का परिचायक है। कवि सीधे ही पाठक से तादात्म्य स्थापित करता है। कवि की इस निजता और आत्मीयता के पीछे एक ऐसा आधुनिक युवक है जो अपने लिए सामाजिक स्वाधीनता की प्रत्यक्ष मांग करता है।

आत्म-निवेदन का यह रूप मध्य-युग के भक्त-कवियों में भी दिखाई देता है। सूर-तुलसी के ऐसे भावों से युक्त पदों में पाठकों ने सदैव तन्मयता अनुभव की है किन्तु छायावादी-युग के कवि की वैयक्तिकता कुछ इस तरह से खुलकर सामने आई है कि उसने आधुनिकता को स्वीकारते हुए, धार्मिक आवरण को उतार फेंकने का प्रयत्न एक सीमा तक किया है। कवि अपनी दुर्बलताओं को एक मनुष्य की तरह प्रस्तुत करता है। वह प्रणय गीत गाता है, यही नहीं "निराला" जैसा कवि "सरोज-स्मृति" में अपने निजी जीवन की अनेक बातों का खुलासा प्रस्तुत करता है। प्रसाद "हंस" के आत्मकथा अंक के लिए नहीं-नहीं करते हुए भी अपने निजी जीवन की झलकियाँ दिखा जाते हैं। पंत आदि अनेक कवियों ने अपनी आत्माभिव्यक्ति को पर्दे में नहीं रखा। यदि यह कहा जाये कि कवि ने अपनी आत्माभिव्यक्ति की स्वाधीनता को मौन रखा तो अनुचित नहीं होगा। छायावादी कविता इसी आत्माभिव्यक्ति की व्यक्तिवादी-भावना से युक्त होकर व्यक्तिवादी कहलायी।

कवि आत्म-विस्तार चाहता है। आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा इसी आत्म-विस्तार की आकांक्षा का द्योतक है। इसके लिए छायावादी कवि को अपने रुढ़ियों के दायरे तोड़ने पड़े। जीवन के व्यापक कर्मक्षेत्र और प्रकृति के मध्य अपने रागात्मक संबंध स्थापित कर उन्होंने हृदय का विस्तार किया। जाति भेद और देश-भेद को मिटाकर विश्व-बन्धुत्व का नारा बुलन्द किया। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास तभी संभव है जब वह धार्मिक संकीर्णता को तोड़ेगा। "प्रसाद" से कहीं ज्यादा "निराला" व पंत संकीर्णता के दायरे तोड़ने में निर्मम थे। प्रसाद महाप्रलय में देवसृष्टि के ध्वंस से व्यथित होकर कहने लगते हैं "नया सभी कुछ नया" और यहाँ सहज की ही प्रसाद को उनकी ममता बाँध लेती है। एक मोह की झलक इन पंक्तियों में मुखर होती है। प्रसाद से कहीं अधिक आगे बढ़कर निराला व पंत ने आधुनिक-विज्ञान को स्वीकारा है और नारी शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई है। "मुक्त करो नारी को, चिर बन्दिनी नारी को"। यहाँ कवि नारी जागरण के माध्यम से नई शिक्षा व मुक्ति के माध्यम से आर्थिक स्वतंत्रता की बात करता है।

छायावादी कवियों में उपर्युक्त का स्वर जिस तरह से व जिस कारण से आया है, वह स्पष्ट है कि इस युग का साहित्यकार स्थूल की प्रभुता या सामन्ती प्रथा से समझौता नहीं कर सका।

छायावादी कवियों की दृष्टि केवल कल्पना या फैटैसी या युटोपिया तक सीमित नहीं रही, उसमें युग-चेतना का स्वर भी सुनाई पड़ता है। उनकी कविता में राष्ट्रीय-भावना देश-प्रेम और सांस्कृतिक-चेतना भरपूर मिलता है। भारतवासियों ने वर्तमान की हार का उत्तर अतीत की जीत से दिया। अतीत के स्वर्णिम इतिहास ने भारतवासियों को एकता के सूत्र में बाँधा। हीनता का भाव दूर हुआ। इस तरह अतीत के पुनरुत्थान ने सम्पूर्ण देश में एक जातीय अथवा राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात किया। पुनरुत्थान की भावना प्रसाद के काव्य व उनके नाटकों में सबसे अधिक है। जातीय जागरण और संस्कृति की रक्षा करते हुए कवि ने देश-प्रेम के गीत गाये हैं।

निराला ने सांस्कृतिक परम्परा की दुहाई देकर आत्म-गौरव और उदबोधन का भाव जगाया है। "तुलसीदास" में जहाँ स्वाधीनता की भावना है वहीं "राम की शक्ति पूजा" में भावनाओं का उदात्त रूप है। यही भारत के मनुष्य का सच्चा स्वरूप है। जिसकी प्रतिष्ठा छायावादी कवियों ने की। विश्व मानवतावाद की विराट-भावना ने देश-प्रेम की सीमा को विस्तार दिया। नामवर सिंह के अनुसार निराला इस क्षेत्र में सबसे आगे रहे। उन्होंने अधिक प्रगतिशील सामाजिक शक्ति को अपनाने की चेष्टा की। उन्हीं के प्रयत्न से छायावादी कविता "बहु जीवन की छवि" कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकी। सभी कवियों ने तो नहीं किन्तु अधिकतर कवियों की रचनाओं में राष्ट्रीय, सांस्कृतिक व विश्व-व्यापी चेतना का प्रसार हुआ है।

छायावादी कवियों ने भावाभिव्यक्ति के लिए विषय के अनुरूप शब्द चयन किया है। नूतन शब्द-निर्माण, शब्दों में नूतन अर्थवत्ता का संचार छायावादी कवियों की महान सफलता है। मधुर, सरस, कोमलकान्त पदावली, शब्द सौन्दर्य-नाद सौन्दर्य को अपनी चरमसीमा पर पहुँचा दिया है। अलंकारों का भरपूर प्रयोग शब्द शक्ति में अभिधा की अपेक्षा लक्षण-व्यंजना का प्रयोग छायावादी काव्य-धारा में विशेष रूप से मिलता है। छन्दों के नवीन प्रयोग (निराला द्वारा प्रयुक्त मुक्तवृत्त, प्रसाद के द्वारा प्रयुक्त 'मुक्त छन्द') के कारण भाव-प्रवाह को सहायता मिली है।

प्रकृति का मानवीकरण विशेषण विपर्यय तथा ध्वन्यर्थ व्यंजना जैसे पाश्चात्य शैली के अलंकारों का प्रयोग छायावादी काव्य-धारा में विशेष-मिलता है। छन्दों के नवीन प्रयोग (निराला द्वारा प्रयुक्त, मुक्तवृत्त, प्रसाद के द्वारा, प्रयुक्त मुक्तछन्द) के कारण भाव-प्रवाह को सहायता मिली है।

बिम्ब-विधान में ऐन्द्रिय बिम्ब का (रोमांटिक अंग्रेजी काव्य धारा के कारण) छायावादी काव्य में बहुलता से प्रयोग मिलता है। स्वतंत्र शब्द-शिल्प की प्रवृत्ति भी इस युग की देन है। प्रसाद, पंत निराला की रचनाओं में अंग्रेजी कविता में प्रयुक्त शब्दों की अर्थ-छाया का हिन्दी में रूपान्तरण किया गया है।

चित्रात्मकता, संगीतात्मकता, शब्द व वाक्य योजना देशी, शब्दों का प्रयोग व कोमलकान्त पदावली ने छायावादी काव्य को गरिमा प्रदान की है। और भावानुरूप अभिव्यक्ति में सहयोग दिया है।

20.4 सारांश

यद्यपि द्विवेदीयुग में आलोचना के मानदण्डों की स्थापना हो चुकी थी, किन्तु उसका विकास छायावादी युग व उसके बाद की साहित्य की विधाओं में होने लगा था। आलोचना के अन्तर्गत विभिन्न पद्धतियों पर दृष्टि डालते हैं तो छायावाद के संबंध में गवेषणात्मक-व्याख्यात्मक आदि पद्धति अधिक उभरकर सामने आई है, ऐसा अनुभव किया जाता रहा है। छायावाद एवं उसके पश्चात के युग में भी विभिन्न आलोचकों ने अपने ढंग से इसकी व्याख्या की है।

सर्व प्रथम तो छायावादी रोमांटिक आलोचना को लेकर ही विद्वान आलोचकों में मतैक्य नहीं है। छायावादी को लेकर ही एक धारणा यह बन गई थी कि जहाँ शब्द, अर्थ की दृष्टि से स्पष्ट नहीं है, वहीं 'छायावाद' है जहाँ कविता के भावों की छाया यदि कही अन्यत्र पड़े तो वह भी इसी वाद की संज्ञा प्राप्त करेगा। आचार्य द्विवेदी जी व आचार्य रामचंद्र शुक्ल क्रमशः इसे रहस्य व अन्योक्ति पद्धति मानकर चले हैं यही नहीं बल्कि शुक्ल जी ने "काव्य में रहस्यवाद" पुस्तक में 'अज्ञात के प्रति जिज्ञासा' की बात करते हुए, छायावादी रहस्य भावना को साम्प्रदायिक अथवा आध्यात्मिक रहस्यवाद समझ लिया। कहीं रहस्यवाद तो कहीं आध्यात्मिकता जैसी द्वैत भावना का द्वंद्व आलोचना का केन्द्र बना रहा।

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी भी छायावादी रोमांटिक काव्य में आध्यात्मिक चिन्तन को अधिक मान्यता देते रहे हैं। इसी आधार पर उन्होंने प्रसाद, पंत और निराला की बहुत सी कविताओं को छोड़ दिया,

शेष कविताओं के आधार पर उन्होंने 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' ही छायावाद में स्वीकार किया है। यह सत्य है कि छायावाद रोमांटिक कवियों ने अपनी रोमानी विचार-धारा को कहीं भी उन्मुक्त व स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है। उन्होंने बड़ी ही अस्पष्ट व धुंधली अर्थ-छाया का प्रयोग किया है। इसके लिए उन्हें प्रकृति ही सर्वाधिक उपयुक्त लगी।

श्रृंगार और प्रेम की अभिव्यक्ति, प्रकृति का मानवीकरण करते हुए या प्रतीक व बिम्ब में माध्यम को अपनाकर हुई है, इसलिए आलोचकों ने यह स्वीकार किया है कि छायावाद शब्द का चाहे कुछ भी अर्थ हो किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह प्रसाद निराला, पंत महादेवी की उन समस्त कविताओं का द्योतक है जो 1918 से सन् 1936 ई. के बीच लिखी गई। डॉ. नामवर सिंह ने इस संबंध में अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहा है कि सारे विद्वानों से परे हटकर "ऐतिहासिक और व्यावहारिक अर्थ को स्वीकार करना अधिक वैज्ञानिक है।

छायावादी युग, अपनी सामाजिक व साहित्यिक प्रतिक्रिया स्वरूप क्रांतिकारी परिवर्तन का कारण बना। युग धर्म को ध्यान में रखते हुए भी उसने समाज से व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यक्ति या आत्मनिवेदन हेतु, यह छूट पहली बार ली। अपने प्रेम को कवियों ने स्पष्ट या अस्पष्ट तरीके से विवेचित किया है। पहले जहाँ कविताओं में देवताओं के प्रेम का वर्णन किया जाता था अब उसका स्थान मनुष्य ने ले लिया। वस्तुतः यह जनतांत्रिक भावनाओं की विजय व मध्यवर्ग की सामाजिक स्वाधीनता थी। इसी को राजनीति, दर्शन और कविता में व्यक्तिवाद की संज्ञा दी गई है। "रोमैटिसिज्म का अभ्युदय प्रायः इन्हीं आकांक्षाओं के साथ हुआ।

छायावादी कवि जातिभेद और देश-भेद के विरुद्ध थे। आचार्य शुक्ल जी ने भी रीतिकालीन संकीर्णता का विरोध करते हुए आधुनिक युग की व्यापक भावना को अधिक श्रेष्ठ माना है।

पुरानी संकीर्णता में, धार्मिक संकीर्णता भी एक है जिसने व्यक्ति की प्रगति को रोक रखा है। निराला ने एक स्थान पर कहा है "हमारे ठाकुर जी तो मंदिर के अहाते से बाहर भी नहीं निकल पाये, न हमारे ज्ञान से न अपने कर्मों से। किन्तु नये विज्ञान और नयी संस्कृति ने इन दायरों को तोड़ा है। पंत ने तो स्वीकार किया है कि संकीर्णता और आधुनिक विशालता के संघर्ष ने ही मनुष्य को एक नूतन दृष्टि दी है। उसने पृथ्वी और आकाश के बीच एक सेतु का निर्माण किया है।

राष्ट्रीय जागरण का प्रेरण-स्त्रोत प्रकृति रही है। शुक्ल जी तथा नन्द दुलारे बाजपेयी जैसे आलोचकों ने इस बात का पूर्ण रूप से समर्थन किया है कि भावों की व्यापकता के लिए प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर उसके सम्पर्क में व्यक्ति का आना आवश्यक है। मनुष्य के लिए प्रकृति, एकता, सहयोग का प्रतीक तो है ही सहचरी, सखा, प्रेयसी, माँ-सब कुछ भी है। इन सबके विवेचन के साथ छायावादी कवि ने प्रकृति-सौन्दर्य की कुछ ऊँची उड़ानें ऐसी भरी हैं जिसके कारण वह पलायवादी भी कहलाता है।

द्विवेदी युग में नवीनता और प्राचीन का संघर्ष आरंभ ही हुआ था, किन्तु छायावादी युग में स्त्री-पुरुष के संबंधों को नयी नैतिकता की दृष्टि मिली। देवी, प्रिये-प्राण, माँ आदि की दृष्टि नारी को पुनः सम्मान देने लगी थी। नारी के प्रति यह नया दृष्टिकोण छायावादी कवि की बदलती विचारधारा और परिस्थितियों की माँग के अनुसार था। छायावाद रोमांटिक दृष्टि की एक विशिष्टता यह थी कि इस युग में सौन्दर्य का चित्रण आदर्शवादी हुआ, प्रेम की अभिव्यक्ति भी उतने ही आदर्शवादी धरातल पर हुई। दोनों की ही भूमिका को नहीं छू सकी। छायावादी रोमांटिक युग की नारी का स्थान पहले की अपेक्षा कहीं अधिक गौरवशाली है।

छायावादी रोमांटिक काव्य युग का कवि कल्पना-प्रिय अधिक था। उनकी कल्पना सृष्टि अपनी मर्यादा और नियंत्रण में थी। द्विवेदी युग में भी कल्पना का प्रयोग किया जाता था किन्तु वह कल्पना

बहुत अल्प व यद्यार्थ के निकट थी। उसके पूर्व मध्ययुग में बहुत ज्यादा थी जो अलंकारों के प्रयोग से काव्य दृश्य, झाँकी दिखाने में असमर्थ थे। मध्ययुग, द्विवेदी युग और छायावादी रोमाण्टिक युग में, कविता की कल्पना में यहीं, मौलिक अन्तर था। इस अन्तर को बिहारी और निराला की यमुना संबंधी में देखा जा सकता है।

"सघन कुंड छाया-सुखद, शीतल सुरभि।
मन हसै जान आजौ, वह जमुना के तीर॥" (बिहारी)

जबकि निराला, यमुना को देखकर एक ऐसी कल्पना में डूबते हैं जहाँ राधा कुष्णा गोपियाँ और क्रीड़ाओं की झड़ी सी लग जाती है।

"स्वप्नों-सी उन किन आँखों की
पल्लव-छाया में उम्लान
यौवन की माया सी आयी
मोहन का सम्मोहन ध्यान?" (निराला)

तेरे हेम-कुसुमों की सुष्मा
जौंच रहा है बारम्बार?

बिहारी ने सघनकुँज, छाया और 'शीतलसमीर' जैसी प्रत्यक्ष चीजें देखी जबकि निराला ने अप्रस्तुत दृश्य को कल्पना की सहायता से सजीव कर दिया।

छायावादी रोमाण्टिक कविता ने अपने रूप और शिल्प-विन्यास को भी नवीनता प्रदान की है। उर्दू तथा अंग्रेजी के हिन्दी अनुवादों का प्रयोग बहुत हुआ है।

गद्य-कविता या छन्द कविता की शुरुआत भी हुई जो उससे पहले प्रयोग में नहीं आई थी।

20.5 शब्दार्थ

आह्वान	= निमंत्रण, बुलाना
सर्जना	= निर्माण, रचना
प्रश्रय	= सहारा, शरण
आत्मनिष्ठ	= स्वकेन्द्रित
अन्तर्दृष्टि	= अपने भीतर झाँकने वाली दृष्टि
अनुस्यूत	= पिरोयी हुई, निहित
रागात्मक	= प्रेमपूर्ण
संकीर्ण	= संकुचित, सीमित
उन्नयन	= निरंतर उन्नत होते जाना, तरक्की, प्रगति, ऊपर उठना
नाद सौन्दर्य	= ध्वनि का आकर्षण, संगीत
तत्सम	= (संस्कृत) पूर्वरूप ही, उस जैसा
युटोपिया	= काल्पनिक, स्वप्निक संसार
अभिधा	= शब्दशक्ति में प्रथम, जिसमें शब्द के कोशगत या वाच्य शब्द को ग्रहण किया जाता है।
लक्षणा	= शब्द शक्ति में द्वितीय, जिसमें शब्द के लाक्षणिक अर्थ को ग्रहण किया जाता है।
मूर्त	= प्रत्यक्ष

व्यंजना	= शब्द-शक्ति में तृतीय, जिसमें शब्द के द्वारा व्यंजित अर्थ को ग्रहण किया जाता है जो अभिधा या लक्षणा द्वारा अभिव्यंजित नहीं होता, काव्य में इसे श्रेष्ठ माना जाता है।
अभिनव	= नयी
प्रवर्तक	= प्रारंभकर्ता
अलौकिक	= जो इस संसार से परे दूसरे लोक से संबंधित हो
अतीन्द्रिय	= इन्द्रियों से परे।

20.6 अभ्यास

20.6.1 दीर्घ श्रेणी के प्रश्न

1. "छायावादी रोमाण्टिक आलोचना" से क्या तात्पर्य है, समझाइये।
2. छायावाद के प्रमुख तत्वों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. छायावाद, द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी? आप कहाँ तक सहमत हैं।

20.6.2 मध्यम श्रेणी के प्रश्न

1. "वैयक्तिकता" से क्या तात्पर्य है। उसकी विशेषता बताइये।
2. छायावाद के प्रकृति-प्रेम पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।
3. रहस्यवाद की विशेषता बताइये।

20.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

20.7.1 दीर्घ श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: छायावाद, द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। आप कहाँ तक सहमत हैं।
उत्तर: हिन्दी साहित्य के आधुनिक-काल का प्रारंभ (सन् 1850 से) भारतेन्दु-युग से माना जाता है। हिन्दी गद्य का विकास इस युग की विशेषता थी। सन् 1900 से 1920 तक द्विवेदी युग रहा। किन्तु उसके बाद जो युग आया उसे छायावादी रोमाण्टिक-युग से अभिहित किया गया।

द्विवेदी में आदर्श और उपदेशात्मकता पर अधिकबल दिया गया। कविता, कहानी, नाटक, एकांकी, उपन्यास आदि सभी में बार-बार उपदेशों को दोहराया गया। अंग्रेजी रोमाण्टिक काव्य धारा के प्रभाव ने इस आदर्श और उपदेशात्मकता को एक नया मोड़ दिया। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता को छायावादी कवियों ने तोड़ा। कविता इतिहास की रूढ़ घटनाओं और श्रृंगार के स्थूल वर्णन में ही अटकी हुई थी। इसलिए छायावादी कवियों ने एक नवीन दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया। यह नवीन दृष्टि-वेदना की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति, मात्र उपदेश के लिए नहीं अपितु, सहानुभूति प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास से पूर्ण अभिव्यक्ति थी।

द्विवेदी युग-श्रृंगारिकता और स्थूल को जिस तरह ढो रहा था उससे हटकर छायावादी रोमाण्टिक-धारा के कवियों ने प्रेम और श्रृंगार के उदात्त रूपी व्याख्या की, यही नहीं, प्रकृति का मानवीकरण करते हुए उसके माध्यम से अपनी भावनाएँ व्यक्त की हैं।

छायावादी कवियों ने कल्पना का प्रयोग, अप्रस्तुत को प्रस्तुत करने के लिए किया, जो अधिक प्रभावपूर्ण व माधुर्य युक्त था। आध्यात्म चिन्तन और रहस्यवादी चेतना को भी प्रकृति के माध्यम से रूपायित

किया गया। वस्तुगत सौन्दर्य और रहस्यवादी उनके अन्तर्निहित रहस्य की प्रेरणाएँ ही काव्य का मूलधार हैं। इस काव्यधारा में जीवन-व्यापी मूल्यों की स्थान तो किया गया किन्तु अधिक नहीं। इसमें जीवन की वास्तविकता का अभाव था। कवि नवयुग की सामाजिक स्थिति के प्रति उदासीन रहे। यह सत्य है कि द्विवेदी युगीन स्थूलता का विद्रोह छायावादी कवियों ने किया किन्तु वे आत्मनिष्ठ बन, कल्पना अधिक करते रहे। यह कहना अधिक उचित होगा कि छायावादी रोमाण्टिक काव्यधारा युग विशेष की मौन का परिणाम थी।

20.7.2 मध्यम श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: वैयक्तिकता से क्या तात्पर्य है। उसकी विशेषता बताइये।

उत्तर: वैयक्तिकता, छायावादी रोमाण्टिक काव्यधारा की विशिष्ट प्रवृत्ति है। इसका अर्थ है निजी सुख-दुःख की भावना। द्विवेदी-युग में जो साहित्य रचा गया उसमें आदर्श, उपदेश और देवत्व गुणों की व्याख्या अधिक थी।

पश्चिमी रोमाण्टिक काव्य-धारा ने सन् 1921 के पश्चात् साहित्य जगत में तहल का मचा दिया था। छायावादी कवियों ने रोमाण्टिसिज़्म का बाह्य-स्थूल जगत में खोये हुए थे उन्होंने आत्मा की अन्तर्मुखी अभिव्यक्ति का सहारा लिया।

हृदय में उत्पन्न होने वाली प्रेम और वैराग्य, आशा-बौध्दिक अभिव्यक्त किया है। अपने निजत्व से जुड़ने के कारण ये व्यक्तिवादी या वैयक्तिकता संबंधी कहलाने लगी। इसमें व्यक्तिगत अनुभूतियाँ गंभीर मार्मिक होने के कारण हृदय स्पर्शी हैं। वेदना का प्राधान्य है। प्रेम और श्रृंगार की व्याख्या प्रकृति के माध्यम से हुई है।

इसी वैयक्तिकता को, आत्माभिव्यजना भी कहा गया है।

20.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. छायावाद - डॉ. नामवर सिंह,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
2. रोमाण्टिक युगीन अंग्रेजी कविता और छायावाद - डॉ. कृष्ण मुरारी मिश्र,
प्रगति प्रकाशन, आगरा।
3. हिन्दी-साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,
नागरी प्रचार सभा, काशी।
4. सुमित्रा नंदन पंत - डॉ. नगेन्द्र
5. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ - डॉ. नगेन्द्र
6. छायावाद का पुनर्मूल्यांकन - डॉ. रामदास मिश्र - साथी प्रकाशन, सागर।
7. छायावाद की काव्य-साधना - प्रो. क्षेत्र,
साहित्य ग्रन्थ माला कार्यालय, वारणासी।
8. छायावाद - उदयभानुसिंह - संपादक,
सामयिक प्रकाशन, दिल्ली।

इकाई-21: प्रगतिवादी आलोचना

- 21.0 विषय प्रवेश
- 21.1 उद्देश्य
- 21.2 पाठ परिचय
- 21.3 मूलपाठ
- 21.4 सारांश
- 21.5 शब्दार्थ
- 21.6 अभ्यास
 - 21.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 21.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 21.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 21.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 21.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 21.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

21.1 उद्देश्य

इस पाठ में प्रगतिवादी आलोचना पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- प्रगतिवादी साहित्यिक प्रवृत्तियों पर विचार कर सकेंगे।
- प्रगतिवादी विचारधारा पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि की विवेचना कर सकेंगे।
- प्रगतिवादी आलोचना की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।
- प्रगतिवादी आलोचना की समीक्षा कर सकेंगे।

21.2 पाठ-परिचय

प्रगति मानव की सहज मनोवृत्ति और उसके सामूहिक जीवन की मूल आवश्यकता है। जब कभी कोई काल अपनी परिस्थिति व परिवेश से प्रभावित हुआ है, रचनाकार ने युग को एक नयी दिशा दिखाने का प्रयत्न किया है।

पाश्चात्य-दर्शन, मार्क्सवाद, मनोविज्ञान, आदर्शवाद, विकासवाद आदि ने अंग्रेजी शासन व भारतीय पूँजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष की एक नयी चेतना जगायी। जीवन के ठोस यथार्थ के निकट कवि पहुँचने लगा।

मार्क्सवाद ने शोषण-वर्ग-भेद, आर्थिक वैषम्य आदि के विरुद्ध आवाज़ उठायी और मजदूर-किसानों को अर्थात् सर्वहारा की प्रभुसत्ता को मान्यता देने की चेष्टा की। औद्योगिक व वैज्ञानिक क्रांति ने ईश्वरीय सत्ता को हिला दिया। दुःखी, दलित, लघुमानव के प्रति, प्रगतिशील कवि की दृष्टि केन्द्रित होने लगी। यही से प्रगतिवादी चेतना का संघर्ष, समूचे परिवर्तन के लिए प्रारंभ हुआ।

सन् 1936 के पूर्व ही, प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। 1936 में प्रेमचन्द की अध्यक्षता में "मजदूर किसान एक हो जाओ" की घोषणा ने जन-जीवन में आशा का संचार किया।

मार्क्स का द्वातामक भौतिकवादी दृष्टिकोण जीवन में नयी गति लेकर आया। पूँजीवादी-व्यवस्था के विरुद्ध सन् 1940-42 के लगभग निराला ने "कुकुरमत्ता" में आवाज उठाई। आलोचकों ने इस रचना को प्रथम प्रगतिवादी रचना का प्रारंभिक बिन्दु माना है।

इस पाठ के प्रारंभ में प्रगतिवादी आलोचना का उद्देश्य संक्षेप में दिया गया है। उसके बाद संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि व दृष्टि-परिवर्तन करने वाले दार्शनिक-चिन्तकों के संकेत हैं।

सम्पूर्ण औद्योगिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक व दार्शनिक परिवर्तनों के मध्य विकसित होते हुए प्रगतिवाद की आलोचना दृष्टि से मूल्यांकित करने का प्रयत्न किया गया है।

21.3 मूलपाठ

कांग्रेस स्वाधीनता की बहुत बड़ी सीमाएँ थीं। इसीलिए वह अंग्रेजी सत्ता से वहीं तक टकराना चाहती थी जिस सीमा तक मजदूर किसान के वर्ग-संघर्ष पर-नियंत्रण रखने की गुंजाइश रहे। लेकिन ब्रिटिश शासकों से मुक्त होने के बाद, रामराज्य का स्वप्न दिखाने वाली कांग्रेस ने जनता के संघर्षों को कुचलना आरंभ किया। आकांक्षाओं और उपलब्धियों के इस अन्तहीन संघर्ष व अन्तर्विरोध ने जनता में व्यापक असन्तोष और मोहभंग पैदा किया। कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस की दोहरी चाल से अवगत हो चुकी थी। इसलिए उसने आज़ादी की जिस रूप-रेखा को प्रस्तुत किया, उसमें अंग्रेजी साम्राज्यवाद, पूँजीवादी, सामन्ती-शोषकों से जनता की मुक्ति निहित थी। आज़ादी के पूर्व ही अंग्रेजों ने यह जान लिया था कि भारतीय जनता बहुत तेज़ी के साथ मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित हो रही है। यही विचारधारा साम्राज्य-विरोधी संघर्ष को निर्णायक रूप दे सकती है। कम्युनिस्ट पार्टी व कांग्रेस समाजवादी-पार्टी भी यही स्वीकार करने लगी थी। उस समय प्रकाशित पत्रिकाएँ 'हंस', 'जागरण', 'विश्वमित्र', 'आज' आदि में साहित्यकार अपने-अपने तरीके से समाजवाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद आदि की महत्ता को प्रतिपादित करने में जुटे थे। राष्ट्रीय-स्वाधीनता की माँग को कुचलने का भरपूर प्रयत्न किया गया। पत्रिकाओं के प्रकाशन पर रोख लगा दी गयी। स्वरूज्य का पक्ष लेनेवाली पत्रिकाओं को "राजद्रोही" की संज्ञा दी गयी। "साम्राज्य विरोधी मोर्चे" के रूप में जिस तरह राजनीति के मंच पर कांग्रेस के इर्द-गिर्द विभिन्न विचारों और प्रवृत्तियों के लोग एक जुट हुए उसी तरह साहित्य के मंच पर प्रगतिशील लेखक संघ के इर्द-गिर्द व्यापक मोर्चा तैयार हुआ युगीन साहित्य चिन्तन को "जीवन की समीक्षा" और "जीवन का पुनः सृजन" माना गया।

सामान्य लोगों के जीवन में राजनीति का तथा राजनीति में सामान्य लोगों का ऐसा प्रवेश पहली बार हुआ था। वस्तुतः यह एक राष्ट्रव्यापी साहित्यिक पुनर्जागरण काल था इसलिए प्रगतिवादी-काव्य मूल्यों पर राजनीति का गहरा असर पड़ना स्वाभाविक था।

प्रगतिवाद वस्तुतः सामाजिक चेतना के सामानान्तर उसकी साहित्यिक प्रतिछाया बनकर सामने आया। छायावादी रोमानी, कल्पना प्रवणता, सत्य किन्तु निरर्थक काल-चेतना से शून्य काव्य-धारा ने ठोस सामाजिक मूल्यों की व वर्तमान त्रासदी की उपेक्षा की, इस कारण भी प्रगतिवादी-चेतना ने इस चुनौती को स्वीकारते हुए रचनात्मक मार्ग खोज निकाला। 1935 में यूरोप के सजग बुद्धिजीवी वर्ग ने "प्रगतिशील-लेखक-संघ" (Progressive writers Association) नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को दन्म दिया और उसी वर्ष पेरिस में उसका प्रथम अधिवेशन आयोजित किया। सभापति अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार ई.एम. फास्टर थे। इस संस्था के उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुए डॉ. मुल्कराज आनन्द, सज्जाद जहीर, भवानी भट्टाचार्य जैसे भारतीय विद्यार्थी-लेखकों ने लन्दन में रहते हुए वहीं "भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ" की नींव रखी। दूसरे ही वर्ष सन् 1936 में इस संस्था का प्रथम अधिवेशन लखनऊ में आयोजित किया गया, जिसकी अध्यक्षता मुंशी प्रेमचंद ने की थी। इसमें प्रेमचंद जी ने ऐसे साहित्य सृजन पर बल दिया। जिसके उद्देश्य ही उच्च चिन्तन, स्वाधीनता का भाव, सृजन की आत्मा, गति संघर्ष और बेचैनी का सृजनात्मक रूप तथा कर्म का संदेश था। इस संघ का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता के आशुतोष मेमोरियल

में गुरुदेव टैगोर की अध्यक्षता में सन् 1938 में हुआ। इस घोषणा पत्र में देश की तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक, साहित्यिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए टैगोर ने कहा- "प्रत्येक भारतीय लेखक का कर्तव्य है कि वह भारतीय जीवन में होने वाले परिवर्तनों की अभिव्यक्ति दे और साहित्य में वैज्ञानिक बुद्धिवाद का समावेश करके, देश में क्रांति की भावना के विकास में सहायता पहुँचाएँ ऐसी साहित्यिक प्रवृत्तियों का विरोध करना चाहिए जो साम्प्रदायिकता, जाति-द्वेष, तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की भावना को प्रतिबिम्बित करती हो।"

प्रगतिवाद के उद्भव की पृष्ठभूमि में वह सच्चाई थी जिसका युग-जीवन से सीधा सम्बन्ध था। साथ ही मार्क्सवाद व समाजवाद ने प्रगतिवादी-चेतना को गहराई तथा दीप्ति प्रदान की व उसे ठोस वैज्ञानिक तथा जनवादी भी बनाया। वास्तव में प्रगतिवाद के लिए भारतवर्ष की भूमि पूरी तरह तैयार हो चुकी थी। उस चेतना का ग्रहण भी बुद्धिजीवियों तथा सामान्य जनता ने अपनी धरती की संस्कृति के अनुरूप ही किया।

"प्रगतिवाद" व प्रगतिशील को लेकर भी गतिमय क्षेत्रों में भ्रम पलते रहे। "प्रगतिशील" का आशय उन विचारों तथा भावनाओं से पोषित माना गया जो मानवतावादी चेतना बोध और सामाजिक भावना से युक्त थे। इसके विपरित जो साहित्य प्रगतिवादी आन्दोलन की प्रेरणा से, खास किस्म के राजनीतिक विचारों से प्रेरित सामाजिकता अथवा मानवतावाद की विशिष्ट-धारणाओं से निर्मित है वह "प्रगतिवाद" कहलाया। "उस युग के अधिकांश आलोचक, लेखकों ने वाद और 'शील' शब्दों को समानार्थी समझते हुए ही अपना रास्ता तय किया जो सही रास्ता भी था।"

प्रगतिवाद के साथ यथार्थवादी काव्य धारा का समंजस हुआ। समाज के जलते हुए यथार्थ को इस काव्य-धारा ने वाणी दी। मिथ्या दर्शनिकता, निरपेक्ष आदर्शवाद और पलायन की प्रतिक्रिया यथार्थ-अभिव्यक्ति और गाँधीवाद की त्रिवेणी ने, प्रगतिवाद को प्रेरित किया। मार्क्सवादी-दर्शन भौतिक जगत को ही सत्य मानता है। हीगेल ने विचार (concept) को सत्य और भौतिक जगत को उसकी प्रतिकृति के रूप में स्वीकारा है। भौतिकवाद को द्वैतात्मक पद्धति से सिद्ध किया है। सृष्टि के दो मूलभूत तत्व परस्पर द्वंद्वशील हैं। एक तत्व धनात्मक (Positive) और दूसरा ऋणात्मक (Negative) है जो क्रमशः विकास और ह्रास को साथ लिए चलता है। इन्हीं के संघर्ष में जीवन गतिशील और गतिमय है। इस दर्शन के अनुसार सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु की सत्ता भी स्थिर नहीं है। वह भी परिवर्तनशील है प्रकृति भी एक प्रक्रिया है। परिवर्तन अवश्यभावी है। नित्य परिवर्तन भी विकास का संकेत है। विकास के उन्नयन के लिए क्रांति आवश्यक है। संघर्ष और क्रांति विकास के मूल-चक्र हैं। मार्क्सवादी-दर्शन में द्वैतात्मक भौतिकतावादी-दर्शन के आधार पर समाज के विकास और व्यक्ति के संबंधों का विश्लेषण किया जाता है। यही ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से प्रसिद्ध है। व्यक्ति और समाज दोनों के अस्तित्व की व्याख्या हुई है इसके अनुसार व्यक्ति का अस्तित्व-व्यक्ति-चेतना पर आधारित नहीं है। वह तो सामाजिक वस्तु है। समाज पर ही व्यक्ति की चेतना निर्भर है।"

प्रगतिवादी साहित्य नैरतय में विश्वास करता है। वह मानवीय मूल्यों तथा वर्तमान सामाजिक संबंधों में एक अमूल-मूल परिवर्तन लाना चाहता है।

इसके मूल में वर्तमान अवस्था के प्रति सदैव असन्तोष बना रहता है जो सदैव क्रांति के लिए प्रेरित करता है, साहित्य का कार्य है कि व्यक्तिस्तर के इस असन्तोष को सामाजिक स्तर पर अभिव्यक्ति प्रदान करना। अन्तर्विरोधी आन्दोलनों के हेतु ऐसी भावभूमि तैयार करे, जो मानवतावादी और लोकमंगल से युक्त हो। प्रगतिवाद का लक्ष्य सामाजिक यथार्थ के उग्र चित्रण से परिवर्तन की शक्तियों को बल देना है। इसका यथार्थ से गठबन्धन है। यथार्थ एक गतिशील शक्ति है।

गाँधीवादी-विचारधारा सत्य-अहिंसा की राह चलकर शान्तिप्रियता को बनाकर रखते हुए, मानवतावादी विश्व-प्रेम और रामराज्य की कल्पना करती है। उसके लिए सहनशक्ति पर बल देती है जबकि मार्क्सवादी विचार-धारा क्रांति द्वारा परिवर्तन चाहती है। दोनों का लक्ष्य मानवतावाद की चेतना को जागृत करना

है। दोनों के माध्यम व मार्ग भिन्न हैं। इसलिए प्रगतिवादी चेतना को हम दो स्तरों पर प्रवाहित होता हुआ देखते हैं।

प्रगतिवादी-काव्य-धारा के अन्तर्गत जिन भिन्न मुद्दों पर विचार किया गया है उन्हें इस प्रकार क्रमबद्ध किया जा सकता है :-

1. शोषक और शोषित वर्ग। 2. वर्गभेद, 3. आर्थिक वैषम्य, 4. वैज्ञानिक आस्था और बौद्धिक-चेतना का साहित्य पर प्रभाव, 5. ईश्वर के प्रति अनास्थावादी स्वर, 6. सर्वहारा की प्रभुसत्ता, 7. शैली व भाषा में परिवर्तन, अलंकारों के शब्दमोह से छूटकारा, लोक-जीवन से संबद्ध होना, 8. विद्रोह, क्रांति व आक्रोश की अभिव्यक्ति के लिए अनगढ़ परुष व सपाट बयानी वाली भाषा का प्रयोग, 9. अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास।

पूँजीपति-जमींदार, शोषकों के रूप में चित्रण करते हुए शोषितों के प्रति संवेदना और सहानुभूति दर्शायी गयी है। गरीबी-अमीरी की रेखाओं को मिटाने की चेष्टा की गयी। वैज्ञानिक-प्रगति ने मनुष्य की चेतना को इस सीमा तक प्रभावित किया कि उसने सही दिशा की ओर सोचना प्रारंभ किया।

साहित्य, समाज से संबद्ध होता है। इसलिए प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। मार्क्स के अनुसार साहित्य का समाज भी अर्थव्यवस्था एवं उत्पादन के माध्यमों से ही नियमित होता है। कृत्तिकार भी किसी न किसी वर्ग से संबद्ध होता है और उस वर्ग की अभिव्यक्ति अपनी रचना में करता है। मार्क्स-साहित्य, समाज-निरपेक्ष सत्ता को लेकर नहीं चलता। समाज के मध्य रहकर वह समाज की बात ही करता है। वह चाहता है कि क्रांति के द्वारा ही परिवर्तन लाये।

यदि हम 1935-36 से पूर्व और पश्चात के साहित्य को देखे तो निश्चित ही एक परिवर्तन वहाँ मिलता है। शिव कुमार मिश्र का कथन उचित ही जान पड़ता है "नयी विचार दृष्टियों तथा नये संकल्पों के साथ प्रगतिवाद ने सामाजिक चेतना व यथार्थ अभिव्यक्ति को पुनर्जीवित किया और इस प्रकार एक ओर तो पहले से ही चली आती हुई एक स्वस्थ, सामाजिक-यथार्थवादी परम्परा के अविच्छिन्न अंग के रूप में अपना परिचय दिया, दूसरी ओर अपनी कुछ नयी प्रेरणाओं तथा वैज्ञानिक-दृष्टि के कारण एक नये प्रवर्तन का श्रेय प्राप्त किया।"

युग के नये यथार्थ के सन्दर्भ में जिन कवियों को लिया जा सकता है उनमें शिवकुमार मिश्र ने पंत को ही मान्यता देते हुए कहा है कि पंत में यथार्थ का एक दृढ़ परिवर्तन-काल से ही चला आ रहा था। गुंजन, युगांत, युगवाणी तथा ग्राम्य प्राचीन संस्कारों की गहरी रेखाओं के बाद भी प्रगतिवादी विचारधारा को अत्यन्त समर्थ भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत करते हैं।

निराला पंत की अपेक्षा कुछ देर से आये जबकि बहुत से आलोचकों ने "नये पंते" व "कुकुरमुत्ता" की रचनाओं के कारण निराला को प्रगतिवादी कवि बहुत पहले ही घोषित कर दिया था। वास्तविकता तो यह है कि निराला तथा पंत के द्वारा ही सार्थक मन्त्रोच्चार प्रगति का हुआ है। इन कवियों में अपने लक्ष्य तथा जीवन-दृष्टि के प्रति अपार आस्था थी अतः ये बड़े मनोयोग से तात्कालिक समस्त प्रकार की बाधाओं से जूझते-निपटते हुए उसकी ओर अग्रसर हुए। विषमता तथा विघटन के इस युग में इनकी सबसे बड़ी-शक्ति जनता तथा इनका अपना मनोबल था।

इन्हीं कवियों के आगे की कड़ी में प्रगतिवादी आन्दोलन से प्रेरित जिन कवियों का नाम उल्लेखित है, उनमें त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रामविलास शर्मा, रांगेय-राघव, शिवमंगलसिंह 'सुमन' मुक्तिबोध आदि सशक्त कवि हैं।

त्रिलोचन ने व्यक्तिगत कुंठा, अवसाद व पीड़ा को व्यापक सामाजिक भूमिका पर ग्रहण किया है। "धरती", "गुलाब और बुलबुल" तथा "दिगन्त" आदि में अभिव्यक्ति की नयी भंगिमाओं के बीच सामाजिक

यथार्थ का चित्रण है। केदार की रचनाओं में अनुभूतिगत ईमानदारी है। कविता के संबंध में केदार का कथन है कि मैंने जीवन जोतकर किसान की तरह बोया और काटा है, यह मेरी अपनी है और मुझे प्राण से प्यारी है। नागार्जुन की सारी कविता यथार्थ की ठोस आधारभूमि लिए है। उन्होंने सामाजिक जीवन के प्रत्येक स्तर को कविता के माध्यम से व्यक्त किया है। शोषक सत्ता और जर्जर रूढ़ियों पर व्यंग्य कैसे हैं। "प्रेम का बयान" युग जीवन का दर्पण है। डॉ. रामविलास शर्मा तथा रांगेयराघव ने शोषण तथा अनाचार के विरुद्ध आवाज उठाई। क्रांति तथा जनोदबोधन के संसदीय तथा अंतर्राष्ट्रीय क्षितिजों का स्पर्श करनेवाले प्रखर स्वर भी इनमें हैं। शिव मंगलसिंह सुमन की रचनाओं में अधिकतर युग की विषमता के विरोध में उनकी प्रतिक्रिया को ही सारे तीखेपन के साथ अभिव्यक्ति मिली है। मुक्तिबोध को इस स्वर का सर्वाधिक सशक्त कवि माना गया है। "मुक्तिबोध प्रगतिवाद के उन कवियों में है जो दर्शन, चिन्तन, सर्जन, किसी भी भूमि पर प्रगतिवादी विचार धारा से असम्पृक्त नहीं रहे हैं।" किसान, मजदूरों की अपेक्षा उसमें मध्यवर्गीय जीवन तथा मध्यवर्गीय मानस की ही व्याप्ति है। बाह्य-संघर्ष और आत्मसंघर्ष का बुनियादी सत्य जनसामान्य व धरती के प्रति प्रेम, शोषित तथा पीड़ित जनता व मानवता के प्रति गहरी आस्था, निश्छल संवेदना की मनुष्यता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति अकृत्रिम गहरी निष्ठा है। "चौंद का मुँह टेढ़ा है," "भूरी भूरी खाक धूल" इन्हीं भावों के प्रामाणिक दस्तावेज हैं।

इन कवियों के अतिरिक्त भी बहुत से अन्य रचनाकार रहे हैं जिन्होंने प्रगतिवादी-वैचारिक भूमि पर ईमानदारी से संधान किया है।

प्रगतिवादी रचनाओं में रचनाकारों की भाषा संबंधी अपनी स्पष्ट धारणाएँ रही हैं। काव्य वस्तु के विभिन्न पक्ष हैं। किन्तु वस्तु और शिल्प की व्यावहारिक भूमिका पर कृतिकारों का स्पष्ट झुकाव "वस्तु" की ओर अधिक रहा है। शिल्प के संबंध में शिवकुमार मिश्र की अवधारणा रही है। "समूचे प्रगतिवादी काव्य को शिल्प की दृष्टि से अनगढ़ घोषित करना भी एक प्रकार का अतिवाद है, जिसका समर्थन नहीं किया जा सकता। कलावादियों की सी पच्चीकारी अथवा तराश, प्रगतिवादी कविताओं में अवश्य नहीं है। श्लेष व यमक का समारोह भी उनमें नहीं दीख पड़ता है। परन्तु शिल्प की वह स्थिति अवश्य दीख पड़ती है जो किसी कविता के भाव को आकर्षक तथा प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने की क्षमता अवश्य रखती है। कवि नागार्जुन ने कोरे कलावादियों के लिए कहा है :-

अपने बादों को बार बार मौजो
मौजो और मौजते जाओ
वस्तु है भूसी, रूप है चमत्कार
ध्वनि और व्यंग्य पर मरता है संसार
वाच्य या आशय पर कौन देता ध्यान
तर्ज और तरत्रुम शायरी की जान

कला की पक्षधरता रीतिकालीन कवियों की तरह चमत्कृत कर देने वाली हो सकती है। संभवतः नागार्जुन की दृष्टि उसी ओर संकेत करना चाहती है।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, वह सरल, स्पष्ट, व्यवहारिक तथा कथ्य के अनुरूप है। संस्कृत की पदावली से लेकर लोकजीवन से संबंधित भाषा का इन रचनाओं में समावेश है। व्यंग्य-कविताएँ प्रगतिवादी काव्य की भाषा के नये रूप में सामने आती हैं। ऐसी रचनाओं में शब्द अधिक, अर्थ गहरे, तीखे तथा तेजधारवाले हो गए हैं। भाषा में भी दूर तक जनरुचि दिखाई पड़ती है। लोकरुचि और यौन-प्रकृति से संबंधित चित्रणों में जनपदीय शब्दावली का माधुर्य दिखाई पड़ता है। डॉ. रामविलास शर्मा, नागरिक जीवन की कड़ुवाहट विषमता तथा श्रमजीवी की हड्डी पर टिकी उसकी समूची आभा को "लहू की बूंदों से जलते हैं, बिजली के बल्ब, सूनी सड़कों पर लाल-लाल" तथा अस्थिशेष खेतिहर मजदूरों को जो इस धरती पर श्रम करते हैं। "उनके तन की पतों पर अब सूख गया है रक्त। रेत पर गिरी हुई जी की बूंदों-सी", में अभिव्यक्त करते हैं। नागार्जुन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल

प्रगल्भ भाव, सौंदर्यबोध और यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए फैंटेसी का इस्तेमाल करते हैं। मुक्तिबोध ने फैंटेसी को अनुभव की कन्याएँ मानी हैं जो जीवन के छिलकों की तरह एक के बाद एक सामने आती रहती हैं। फैंटेसी रूपक, प्रतीक-सभी दृष्टियों से मुक्तिबोध का काव्य सम्पन्न है। अंधेरा, जलती हुई मशालों, चट्टानों, सुरंगों बावलियों और सूने रास्तों का प्रयोग बहुत हुआ है। मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष जिन संस्कारों से प्रेरित हो मुक्ति के लिए चलता है वे मध्यवर्गीय जीवन से दाय स्वरूप उन्हें मिले हैं जबकि नागार्जुन में नाटकीयता और प्रबंधात्मकता है क्योंकि वे रचना के शिल्पगत विकास में तटस्थ रहते हैं। इस युग की काव्यभाषा, वस्तु बोध, जीवन का स्पन्दन ही उनके साहित्य की शक्ति है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी रचनाएँ कला की दृष्टि से प्राणहीन होने के बावजूद भी जिन्दगी के प्रति अधिक ईमानदार हैं। जनता के सांस्कृतिक जीवन एक सम्पूर्ण विचारधारा से ये गहराई से जुड़ी हैं। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने प्रगतिवादी काव्य के संदर्भ में कहा है— "वर्तमान काव्य का भविष्य बहुत कुछ देश के राजनीतिक भविष्य पर निर्भर है। यदि देश में राजनीतिक क्रांति हो गयी तो वर्तमान काव्य का बहुत कुछ कायाकल्प हो जायेगा। हिन्दी कविता में प्रगतिवादी पक्ष का प्राबल्य होगा।"

प्रगति निरंतर होती रहती है। हर युग का काव्य भले ही किसी विशेष कालखंड से जुड़ा हो, किन्तु स्वर उनके उत्तरोत्तर विकास के होते हैं।

21.4 सारांश

यों तो कोई भी काव्य-धारा अपने विशिष्ट लक्ष्यों के कारण और प्रवृत्तियों के कारण जब किसी विशेष कालखंड से जुड़ जाती है तो उसे नाम भी दे दिया जाता है। छायावाद की अतिशय कल्पना और प्रकृति-प्रेम तथा श्रृंगार आदि के विरोध में यथार्थ चित्रण व पाश्चात्य विचारधारा के कारण जीवन के प्रति एक नया-दृष्टिकोण आ गया। समाज में व्याप्त शोषण, मजदूर-किसान व श्रमिकों की स्थिति, आर्थिक, वैषम्य, वर्गभेद आदि के पीछे औद्योगिक क्रांति तथा वैज्ञानिक प्रगति है। कल्पना का स्थान, यथार्थ ने लिया और कुपमद्वकता का स्थान प्रगति ने। सन् 1935 व 1936 में संपन्न "प्रगतिशील लेखक संघ" की बैठक क्रमशः प्रेमचंद एवं टैगोर की अध्यक्षता में हुई थी, जिसमें पढ़े गए घोषणापत्र में पराधीनता व शोषण के विरुद्ध मजदूर-किसानों से "एकत्र हो जाने के लिए" आह्वान किया गया। क्रांति द्वारा राज्य-परिवर्तन की माँग की इस परिवर्तन का लक्ष्य "प्रगति" की दृष्टि में रखकर किया गया। "प्रगति" का अर्थ आगे बढ़ना है। आगे बढ़ने के लिए निश्चित रूप से जिस प्रकार का परिवर्तन चाहिए था। वह बिना संघर्ष संभव नहीं था। इसलिए डॉ. नामवरसिंह ने कहा था कि राजनीति में सामान्य लोगों का ऐसा प्रवेश पहली बार हुआ, वह सही है। प्रगतिवाद के अंतर्गत सामाजिक चेतना ही साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त हुई। इस धारा का जीवन से सीधा संबंध रहा है।

प्रगतिवादी काव्य-धारा के अपने विशेष मुद्दे थे जिनमें निम्न लिखित प्रमुख रहे:-

शोषक व शोषित वर्ग-जिसमें अत्याचार व शोषण करनेवाले पूँजीपतियों, मिल मालिकों, जमींदारों के खिलाफ आवाज उठाई गई। मजदूरों, कृषकों श्रमिकों को उत्पादन के कारण समान अधिकार देने की बात कही गयी। गरीबी अमीरी की रेखाओं को समाप्त करने की चेष्टा की गयी। वैज्ञानिक तथा बौद्धिक उन्नयन ने भौतिक वस्तुओं को नयी दृष्टि से देखना प्रारंभ किया। साहित्य पर इन सबका गहरा प्रभाव पड़ा। विद्रोह, क्रांति, आक्रोश की खुलकर अभिव्यक्ति हुई। रूढ़िगत परंपराओं की मान्यताएँ टूटीं। नये विचारों को प्रवेश मिला। अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास हुआ। शिल्प के अधिक काव्य वस्तु पर ध्यान दिया गया। सीधी सरल किन्तु प्रभावशाली भाषा का प्रयोग हुआ। प्रतीक व नये बिम्बों का प्राचुर्य व लोक जीवन के निकट की भाषा को, कहावतों-मुहावरों को अधिक प्रश्रय दिया गया-इस प्रकार प्रगतिवादी काव्य धारा में समंजन किया गया जिसने सामाजिक यथार्थ को सशक्त वाणी दी।

प्रगतिवादी काव्य-धारा के प्रारंभिक तथा अन्य महत्वपूर्ण कवियों में पंत, निराला, त्रिलोचन, केदार अग्रवाल, नागार्जुन, रामविलास शर्मा, राघेय राघव, सुमन, मुक्तिबोध विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सभी कवियों ने सामाजिक चेतना को जागृत करने के लिए जीवन के प्रत्येक स्तर को कविता के माध्यम से व्यक्त किया है। शोषक, सत्ता और जर्जर रुढ़ियों पर व्यंग्य करते गये हैं- शिवबालकराय ने एक जगह लिखा है "प्रगतिवाद, मार्क्सवाद का सहोदर भाई है। संसार में कार्लमार्क्स ही प्रथम व्यक्ति है जिसने समाज के कोढ़-पूँजीवादी गरीब, जन-समुदाय को जोक की तरह चूसता रहता है। सभी खून गायब, लेकिन घाव का नाम नहीं। राजनीति के क्षेत्र का समाजवाद साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद के रूप में अवतरित हुआ है"।

उपर्युक्त कुछ उदाहरण एवं उद्धरण प्रगतिवादी कविता में समाज के यथार्थ बोध को सामने लाते हैं।

प्रगतिवादी रचनाकार अमानुषिक स्थिति का दायित्व व्यक्ति पर न रखकर व्यवस्था पर लादता है। व्यवस्था मानव समाज की देन है। इसलिए मनुष्य उसे बदल सकता है और उसके स्थान पर नयी व्यवस्था की रचना कर सकता है। वस्तुतः प्रगतिवाद ने नये मानववाद के लिए भूमि तैयार की थी। मानव जीवन को खडित और रंग-गंधहीन बना देनेवाला समाज जीवन विरोधी है। प्रगति से युक्त कविता भविष्य विधायक जनता से जुड़कर विकसित होता है।

निराला से लेकर नागार्जुन तक में जिन्दगी का यथार्थ, मन पर पड़नेवाला उनका प्रभाव इतनी गहराई और सघनता से अंकित हुआ कि उसको सरलता से रेखांकित किया जा सकता है। मुक्ति बोध के काव्य में मध्यवर्ग के व्यक्ति की आशंका, त्रास, अनिश्चय, संशयालु और यदा-कदा अपराध बोध से ग्रस्त, चित्र प्रस्तुत किया गया है। उनके अनुसार मध्यवर्ग जब तक सर्वहारा से एकमत नहीं होता है, वह अपने जीवन के कर्म को सार्थकता नहीं प्रदान कर सकता। कवि के शब्दों में दंभ नहीं आत्मीयता अधिक है :-

बताओ तो किस, किसके लिए दौड़ लगे
..... बन गये पत्थर/बहुत-बहुत ज्यादा लिया
दिया बहुत-बहुत कम/मर गया देश, अरे
जिवित रह गये तुम।"

नागार्जुन मध्यवर्ग की घुटन को अनुभव करते हुए कहा है- "एक घुटन उनकी है जो लोहापीट रहे हैं, पत्थर तोड़ रहे हैं और दूसरी उनकी जो मन को पीट रहे हैं, और सपने जोड़ रहे हैं"।

प्रगतिवादी काव्य-धारा में चेतना का साहित्य सर्जन है। राष्ट्रीयता-अंतर्राष्ट्रीयता दोनों के ही व्यापक संदर्भ में रचनाकारों ने विचार किया है। दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं।

नारी के प्रति विशेष उदात्त किन्तु नव बोध लिये कविता रची गयी है। जो समाज के लिए क्रांति का स्वर है। यही नहीं, नारी और प्रेम संबंधी मूल्य काम-कुंठावाद से भिन्न प्रगतिवादी कविता स्वस्थ मानवीय धरातल से संबद्ध है। यह मानवीय बोध तभी संभव है जब प्रेम को वैयक्तिक और सामाजिक संदर्भों के द्वन्द्व में परिभाषित किया जायेगा।

काव्य जगत में प्रगतिवाद ने जिस तरह नये मूल्यों को, औद्योगिक व वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में, विवेचित करने का प्रयत्न किया है। वह परिवर्तन हेतु क्रांतिकारी रूप लिये थे। आज की कविता भी आगे लिखी जानेवाली कविता इन प्रवृत्तियों को किसी न किसी रूप में आगे ले जानेवाली है। प्रगति इन्हीं अर्थों में सार्थक हुई है।

21.6 अभ्यास

21.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न

1. प्रगतिवाद का अर्थ बताते हुए उसकी पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।
2. प्रगतिवादी प्रमुख प्रवृत्तियों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. किस विचारधारा ने प्रगतिवादी आलोचना पद्धति को सर्वाधिक प्रभावित किया और कैसे?

21.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

1. प्रगतिवादी आलोचकों की अवधारणा का संक्षेप में विवेचन कीजिए।
2. प्रगतिवाद तथा प्रगतिशील के अंतर को स्पष्ट कीजिए।
3. प्रगतिवादी आलोचना पद्धति में 'वर्ग-संघर्ष' का महत्व निरूपित कीजिए।

21.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

21.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर (250 शब्दों में)

प्रश्न: प्रगतिवाद का अर्थ बताते हुए पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।

उत्तर: प्रगति का अर्थ है, उन्नति करना, आगे बढ़ना, परिवर्तन की दिशा में संघर्ष करते हुए नये मूल्यों की स्थापना करना। बौद्धिक दृष्टि से परिपक्व होने पर व्यक्ति अपने जीवन के मध्य से विकास के रास्ते तलाशता है। बौद्धिकता के कारण ही मनुष्य अपने सुनिश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ता है। यही रास्ता प्रगतिवादियों ने दिखाया।

सन् 1920 से लेकर लगभग 1935-36 तक का साहित्यिक काल छायावाद के नाम से जाना गया। राजनैतिक दृष्टि से भारत, ब्रिटिश-शासन के शिकजे में जकड़ा हुआ था। पूँजीवादी व्यवस्था का आरंभ मजदूर-किसानों व आम जनता का दम घोट रहा था। औद्योगिक एवं वैज्ञानिक क्रांति के कारण पूँजीपतियों की सत्ता खतरे में पड़ने लगी। मार्क्सवादी विचारधारा ने इस धारणा को अधिक पुष्ट कर दिया। 1936 में प्रेमचंद की अध्यक्षता में "प्रगतिशील लेखक संघ" की बैठक में रूस का घोषणापत्र इस आशय से पढ़कर सुनाया गया कि दुनिया के मजदूर और किसान सब मिलकर एक हो जाएँ। शोषकों, पूँजीपतियों के खिलाफ युद्ध-स्तर पर नया मोर्चा चलना है। दीन-दुखी, दलित जनता को समानता का अधिकार देकर उनके प्रति सहानुभूति और संवेदना जगानी है। अर्थ-भेद की खाई को पाटकर मानवता के रास्ते पर आगे बढ़ना है। आदि आदि कहकर एक मंच पर लाने के लिए आग्रह किया गया तो इन अतर्विरोधों से निपटने के लिए क्रांति के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं बचा था। शोषण, वर्ग-भेद, आर्थिक-विषमता, श्रमिक-मजदूर-कृषकों के अधिकारों की रक्षा करना ही प्रगतिवादियों का ध्येय बन गया। भारतेन्दु युग एवं छायावादी युग के साम्राज्य विरोधी मानवतावादी परंपरा को सुसंगत वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि प्रदान करने का श्रेय प्रगतिवाद का है। प्रगतिवाद, मानवतावादी परंपराओं से पुष्ट तथा समकालीन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों से प्रभावित है।

21.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: प्रगतिवादी-आलोचकों की अवधारणा का संक्षेप में विवेचन कीजिए। (125 शब्दों में)

उत्तर: छायावादी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इसके पीछे पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तक कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की चेतना का प्रभाव था।

सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध श्रमिक, मजदूर, किसानों का विद्रोह व उत्पादन सम्पत्ति पर उत्पादक व सर्वहारा के अधिकार के लिए लड़ाई थी। डॉ. नामवरसिंह ने इस सारे संघर्ष के प्रति अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि पहली बार सामान्य लोगों के जीवन में राजनीति का और राजनीति में सामान्य व्यक्ति का प्रवेश हुआ है। यह राष्ट्रव्यापी साहित्यिक पुनर्जागरण काल था। इसका प्रभाव प्रगतिवादी काव्य-मूलों पर पड़ा है।

प्रगतिवादी विचारधारा का साहित्य पर जिस तरह प्रभाव पड़ा है वह समाज और राष्ट्र-प्रेरित था। लेकिन कुछ आलोचकों ने इसे राष्ट्रीयता का विरोधी माना है। लेकिन प्रगतिवाद ने पूँजीवाद, सामान्य जनता की उन्नति के मार्ग में आनेवाले अवरोधों के खिलाफ संघर्ष किया है। इसने अर्थ-प्रेरित वर्ग-संघर्ष को भी नवमुक्ति में बाधक मानकर सामाजिक जागरण की नवीन भूमिका प्रस्तुत की है। बौद्धिक जड़ता को दूर करने का प्रयत्न किया है। यथार्थ जीवन के निकट, प्रगतिवादी काव्य, मानव को खींच लाया है। सर्वसाधारण जनता की मनोभूमि को स्वीकारते हुए उसके द्वन्द्व को प्रस्तुत किया है। नागार्जुन के अनुसार "सबसे महत्वपूर्ण और अच्छी व जानदार चीजें आज मजदूर वर्ग द्वारा लिखी जा रही हैं। उनकी विपन्नता, उनपर अत्याचार और परिश्रम का शोषण, उनके अनुभव के अनुकूल व्यक्त हुआ है।

21.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. प्रगतिवाद - डॉ. शिवकुमार मिश्र
2. प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य मूल्य - अजय तिवारी
3. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ - डॉ. नामवरसिंह
4. "तार सप्तक" - संपादक, अज्ञेय
5. साहित्यिक निबन्ध - डॉ. चंद्रभान रावत
6. साहित्यिक निबन्ध - शिवबालकराय
7. प्रगतिवाद, एक समीक्षा - डॉ. धर्मवीर भारती
8. आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ - नरेन्द्र मोहन
9. सम सामयिक हिन्दी साहित्य - शम्भूनाथ सिंघ

इकाई-22: प्रयोगवादी नयी आलोचना

22.0 विषय प्रवेश

22.1 उद्देश्य

22.2 पाठ परिचय

22.3 मूलपाठ

22.4 सारांश

22.5 शब्दार्थ

22.6 अभ्यास

22.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न

22.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

22.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

22.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

22.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

22.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

22.1 उद्देश्य

इस पाठ में हिन्दी की प्रयोगवादी नयी आलोचना पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- प्रयोगवादी आलोचना पद्धति की विवेचना कर सकेंगे।
- प्रयोगवादी आलोचना में तार-सप्तक की भूमिका को स्पष्ट कर सकेंगे।
- प्रयोगवाद के संबंध में अज्ञेय के विचार स्पष्ट कर सकेंगे।
- प्रयोगवादी आलोचना की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।

22.2 पाठ का परिचय

प्रयोग का अर्थ है नया अनुभव, नयी खोज। इसे अनुभव का पर्याय माना गया है। प्रत्येक प्रयोग का महत्व है और प्रयोगकर्ता की दृष्टि, मान्य सत्य के परीक्षण और फिर परीक्षण द्वारा सत्य के नए अन्वेषण पर रहती है।

प्रयोगवादी-काव्य ने आलोचकों को, अपने नये तथ्य और शिल्प के कारण आकर्षित किया। वस्तुतः द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता को जिस प्रकार छायावादी काव्य ने तोड़ा, उसी प्रकार छायावादी रोमानी कल्पना को प्रगतीवादी आधारणा से युक्त काव्य ने तोड़ा है। प्रगतिवाद के बाद ही प्रयोगवादी, प्रयोगों की ओर कवियों की दृष्टि, कुछ नयेपन और नयी खोज की जिज्ञासा का रूप लेकर आई। इस संबंध में भी आलोचकों ने बहुत सी कथ्य व शिल्प संबंधी बातों को सराहा व आलोचना भी की। वस्तुतः प्रयोगवाद का अपना एक स्वतंत्र दर्शन है। इसके प्रादुर्भाव में, भाव व व्यंजना, किन्हीं कारणों से एकाकार होकर, सत्य रूप ग्रहण कर लेते हैं। इसलिए यह प्रयोग "साध्य" है। प्रयोगवादी आलोचना का आधार उपर्युक्त दृष्टि रही है।

"प्रयोग" की मनोवृत्ति प्राचीन है। इस कालों में कवियों ने नये प्रयोग किये हैं। जागरूकता एवं बौद्धिकता इसका कारण है।

आलोचकों ने ही "प्रयोगवादी" नाम दिया है। प्रयोग व प्रयोगशील के अंतर को स्पष्ट किया है।

"अज्ञेय" को इस काव्यधारा का प्रवर्तक माना गया है। मुक्तिबोध ने प्रयोगवादी आलोचना करते हुए, इसे विश्वव्यापी राजनीति का सांस्कृतिक अंग बताया है।

प्रयोगवाद, नकेनवाद और नयी कविता का अंतर व आलोचकों की दृष्टि को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

भाषा की दृष्टि से नये प्रयोग व शिल्प में नयापन लाने की चेष्टा की गई है बौद्धिक मूहावरो को वर्चस्वता मिली है।

"तार सप्तक" आदि सभी सप्तकों का योगदान व उसकी प्रतिक्रिया तथा कवि आलोचकों की अवधारणा का परिचय दिया गया है।

प्रमुख प्रयोगवादी आलोचक व उनकी दृष्टि को स्पष्ट किया गया है।

22.3 मूलपाठ

प्रयोगवाद नये प्रयोग की उत्सुकता लेकर आगे बढ़ा है। प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं। कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए, जिन्हें अभी नहीं छुआ गया है और जिनको अबोध मान लिया गया है। प्रयोगवाद ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने की बौद्धिक जागरूकता है। क्या ऐसी जागरूकता को प्रयोगवाद कहा जा सकता है। यह प्रयोग तो काव्य-सृजन के प्रारंभ से ही अपने अपने संदर्भ में होते रहे हैं। डॉ. भगीरथ मिश्र जी ने उचित ही कहा है "साहित्य में कोई भी प्रवृत्ति एक दम नवीन नहीं होती, वरन् युगीन परिस्थितियों के अनुसार जब प्रचलित काव्य-प्रवृत्तियों में ताजगी नहीं रह जाती है, तब जीवन और जगत की स्थिति से प्रेरित होकर कवि उसमें ताजगी लाने का प्रयत्न करता है। यह ताजगी वैचारिक नव्यता के रूप में हो सकती है अथवा अभिव्यजना पद्धति या शैली की नव्यता के रूप में"।

यह निर्विवाद सत्य है कि प्रयोग की अत्यधिक मनोवृत्ति के कारण ही आलोचकों ने इस काल-खंड से जुड़ी कविता को प्रयोगवाद नाम दिया है। अज्ञेय जी ने प्रयोगवाद नाम पर आपत्ति करते हुए दूसरे सप्तक में यह स्पष्ट किया था कि वह प्रयोगशील है, "वादी" नहीं क्योंकि प्रयोग की नैरन्तर्यता ही सत्य है।

प्रयोगवाद और प्रयोगशील को भी विचार का मुद्दा बनाया गया है। नलिन विलोचन शर्मा, केशरी कुमार और नरेश कुमार जिन्हें नकेनवादी की संज्ञा दी गयी है, आदि की दृष्टि में अज्ञेय ने जिस काव्य का शील निरूपण किया वह प्रयोगशीलता है। प्रयोगवाद का नहीं प्रयोगवाद का एक स्वतंत्र दर्शन है क्योंकि इसके स्थापत्य में भाव और व्यंजना, एक परिस्थितिजन्य अनिवार्यता में एकाकार होकर सत्यरूप ग्रहण कर लेते हैं - इस दृष्टि से यह प्रयोग न होकर "साध्य" है, साधन नहीं। डॉ. रणजीत ने नकेनवादियों को सही प्रयोगवादियों की संज्ञा दी है। यही नहीं जो प्रयोग को साध्य मानकर उद्धोषणा कर रहे थे उन विचारों को नकेनवादी, प्रयोगवादी कहकर चलता किया-उनका बहुचर्चित नाम, 'प्रयोगवाद' उन्हें नहीं दिया गया। डॉ. रणजीत ने, प्रयोगवादी रचनाओं को, 'तार सप्तक' में संग्रहीत कविताओं का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करते हुए स्पष्ट कहा है कि वे रचनाएँ प्रगतिशील थीं, प्रयोगवादी नहीं। यही नहीं लक्ष्मीकांत वर्मा ने प्रयोगवादी काव्य-धारा के संबंध में विचार-विमर्श करते हुए कहा है कि "जहाँ कहीं विचारधारा में, मूल्यों में और मर्यादाओं में विकास होगा वहाँ प्रयोग में विकासशील तत्व होगा। प्रयोग साहित्यिक अभिरुचि और विकासात्मक मुख्य अंग है।" इन्हीं प्रयोगों की परंपरा ने इस प्रयोगवादी काव्यधारा को "प्रयोगवाद" का नाम दिया।

मुक्तिबोध ने तो प्रयोगवाद को नयी कविता की संज्ञा देते हुए उक्त आंदोलन को शीतयुद्ध की विश्वव्यापी राजनीति का सांस्कृतिक अंग बताया है। वस्तुतः आलोचकों ने प्रयोगवाद और नयी कविता में कोई तात्त्विक अंतर नहीं माना है। इसके पूर्व भी प्रगतिशील कविता को, कुछ विद्वान आलोचकों ने नयी प्रयोगवाद तो, नयी कविता के नाम से जाना ही गया पुरानी परंपरा से आते हुए कुछ छायावादी तत्वों का भी इनमें योगदान रहा है। डॉ. नामवरसिंह ने अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहा है "छायावादोत्तर काल की यह सारी सार्थक काव्य-सर्जना उस नयी कविता के इर्द-गिर्द हुई है जो इस काल की मुख्य धारा रही है- स्पष्ट ही यहाँ नयी कविता से आशय प्रगति और प्रयोग दोनों के कल्पित कगारों को तोड़ती हुई समग्र नयी काव्य धारा से है"।

अज्ञेय को प्रयोगवादी काव्य धारा का प्रवर्तक माना गया है। उन्होंने स्वयं "प्रयोगवादी" कहने की, समालोचकों और पाठकों की, प्रवृत्ति का विरोध करते हुए, इस धारा को सुदीर्घ अन्वेषण के पश्चात् "नयी कविता" कहा है। प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे हैं और न हैं। न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है। कविता भी अपने आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना कवितावादी कहना। कवि शमशेर बहादुर सिंह ने भी "प्रयोगवादी" शब्द का समर्थन नहीं किया है।

डॉ. रामकुमार खण्डेलवाल का कहना है कि "मेरी सम्मति में प्रयोगवाद शब्द बिल्कुल ठीक है। इन कवियों को "प्रयोगवादी" के अतिरिक्त कुछ कहा भी नहीं जा सकता। क्योंकि इन कवियों का प्रधान ध्येय सत्य-विषयक प्रयोग तथा अन्वेषण है"।

अज्ञेय की बात को भी इसी तरह कहा जा सकता है जिसका उल्लेख उन्होंने तार-सप्तक की भूमिका में किया है। "दावा केवल यही है कि सातों तार सप्तक के कवि अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है। ... बल्कि उनके एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं। अभी राही है- राही नहीं, राहों के अन्वेषी हैं।

उपर्युक्त विद्वानों की 'प्रयोगवादी' अवधारणाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रयोगवाद पर अनेक मत हैं और हो सकते हैं। इनमें उच्च कोटि के प्रतिभाशाली कवि भी हैं लेकिन यह लगभग तय-सा ही है कि अज्ञेय द्वारा संपादित तार-सप्तक प्रथम संकलन प्रयोगवाद बनाम नयी कविता माना गया है। यह भी सत्य है कि मत संकलन ने आधुनिक मानव मन की द्विधा, उसके भीतर पनपते हुए एकांत रहस्य और अनुभव चिन्तन की विभिन्न दिशाओं को नये प्रत्यक्ष बोध से पूर्ण किया है। सर्वप्रथम उसी ने सहृदय को वह आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि दी है, जो व्यक्ति को उसके रागात्मक परिवेश की सापेक्षता में देखती है।

भाषा की दृष्टि से प्रयोगों की झड़ी सी लग गई है। एक तरफ से परंपरागत व्यवस्था में बहुत बड़े पैमाने पर व्यतिक्रम लाना पड़ा है जैसे बिन्दु, विराम, कोष्ठक चिन्ह और शब्दों के बीच रिक्त स्थान, प्रतीकात्मक भाषा, जो ऐसी अनुभूतियों, जो आज के यात्रिक मनुष्य की तहों में सोयी हुई हैं, उन्हें सम्प्रेषित करने में पूर्ण रूप से समर्थ रही है। इस प्रकार के भाषिक प्रयोगों का प्रारूप सर्व प्रथम प्रयोगवाद में ही दिखाई पड़ा।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के अंतर्विरोध से नयी कविता बच नहीं सकी। वस्तुतः कविता की दो धाराएँ उस युग में स्पष्ट थीं; एक धारा थी प्रयोगशील नयी कविता की और दूसरी थी प्रगतिशील नयी कविता की। इन दोनों को दृष्टि में रखते हुए हमें एक बात नहीं भूलनी चाहिए कि प्रयोग हो या प्रगति - नयी कविता - काल में युगीन कवियों ने लोक जीवन से ही शब्द और भाव लिये, बौद्धिक मूहावरों को उसी युग में वर्चस्वता मिली। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन शास्त्री, मुक्तिबोध आदि में लोक संवेदात्मक प्रगतिशील वृत्तियों की झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

प्रगतिवाद व प्रयोगवाद में पार्थक्य रेखा खींचना बहुत कठिन है। परंपरा के प्रति अनास्था और "अप्रत्यक्ष" तथा "सूक्ष्म" के विरुद्ध प्रत्यक्ष, भौतिक और मूर्त का आग्रह दोनों में हैं। लेकिन प्रगतिवाद जहाँ सामाजिक चेतना से युक्त है, वहीं बहुत कुछ वैयक्तिक लेखन है। मार्क्सवाद पर आधृत होने से प्रगतिवाद जहाँ स्पष्ट जीवन-दर्शन से अनुप्राणित है, वहीं प्रयोगवादी जीवन-दृष्टि अनिश्चित और अस्पष्ट है। "प्रयोगवादी रचनाकार से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो। वास्तविक सृजन और क्रांतिदर्शिता के बदले सामान्य मनोरंजन और शैली-प्रसाधन ही उसकी विशेषता होती है --- स्रष्टा और सदेशवाहक न होकर वह प्रणेता और प्रवक्ता मात्र होता है।" पं. नन्ददुलारे बाजपेयी की उक्त मान्यता प्रयोग को मानती है। उसे किसी अनुशासन से बद्ध नहीं मानती या यह कहा जाये कि अव्यवस्था या अनुशासनहीनता ही उसकी व्यवस्था व अनुशासन है तो अनुचित न होगा।

प्रयोगवादी रचनाओं में मुख्य स्थान "तारसप्तक" तथा दूसरा सप्तक का है। तार सप्तक का प्रकाशन सन् 1943 में हुआ, जिसमें कवि क्रमशः सर्वश्री गजानन माधव मुक्तिबोध, नैमिचंद्र, भरतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, डॉ. राम विलास शर्मा तथा अज्ञेय हैं। "दूसरा सप्तक" सन् 1951 में प्रकाशन हुआ, जिनके कवि क्रमशः- सर्वश्री भवानीप्रसाद, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती।

उपर्युक्त दोनों सप्तकों में जिन कवियों का नाम लिया गया है, उनमें सर्वप्रथम मुक्तिबोध का नाम आया है। मुक्तिबोध अपने युग के प्रति आस्थावाना थे। अपने युग की नयी पीढ़ी में उन्हें नयी संभवनाएँ दिखाई दीं। उनका अंतःकरण बदलाव की अपेक्षा लिए हुए था। नए मूल्यों और बौद्धिक आस्थाओं से संबंधित था। उनका आग्रह था कि बौद्धिक व्यक्ति ही नहीं अपितु हर व्यक्ति को वैविध्यपूर्ण उलझन और रंगीनियों से भरे जीवन से उड़कर बाहर आना होगा। उनकी रचनाओं में नये रास्तों के तलाश में बेचैन मन की ही अभिव्यक्ति है। उनका सत्य और मूल्य उसी जीवन स्थिति में छिपा है। आधुनिक युग की विसंगतियों से टकराने के लिए उनके पास मार्क्सवादी औजार था। वैज्ञानिक, अधिक मूर्त व अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण उन्हें अपने आस-पास की गतिविधियों से ही प्राप्त हुआ।

अपनी भावाभिव्यक्ति हेतु उन्होंने जिस तत्व को केन्द्रबिन्दु बनाया है वह है आतंक। यह एक ऐसा संत्रासपूर्ण घटक है जो मानवीय मूल्यों और सौंदर्य-चेतना को सहज ही विघटित कर, वातावरण को सनसनीपूर्ण बना देता है। मुक्तिबोध ने अपनी रचनाओं में फैंटेसी का प्रयोग किया है। फैंटेसी के माध्यम से ही आज की जिन्दगी को उन्होंने सशक्त ढंग से रूपायित किया है। एक अनिश्चय की स्थिति लगातार झेलते हुए व्यक्तित्व का हास होता जा रहा है। इसका अनुभव मुक्तिबोध कर रहे थे।

नैमिचंद्र मार्क्सवादी कम्युनिस्ट हैं। इनकी रचनाओं में संक्राति के रंग अधिक हैं। उन्हीं के शब्दों में तीव्रभ्रम-विभाजन के फलस्वरूप आज हर एक आदमी की जिन्दगी एक इकाई बन गयी है, जिसे साधारणतः ऊपर से देखने पर भ्रम होता है कि वह अपने आप में संपूर्ण है जबकि सत्य यही है कि उसी विभाजन के फलस्वरूप परस्पर सहयोगिता और निर्भरता असाधारण रूप में बढ़ गयी है। इसलिए कवि आधुनिकता के प्रति आग्रह नहीं रखते। लेकिन चाहते हैं- कवि के प्रगतिशील होने की माँग का अर्थ है कि वह जीवन की ओर अपने दृष्टिकोण को बदले।

भरतभूषण अग्रवाल का काव्य जहाँ साम्यवाद से आसक्ति और विरक्ति का लेखा-जोखा है, वहीं उन्होंने आधुनिकता और परंपरा के मध्य समन्वय का सेतु बनाया

यहीं आज सब कुछ बिकता है,
सब ममता की यहाँ दिखावट।
शून्य, खोखली और बनावट,
सभी स्वार्थमय यहाँ बुलाकर, किसने पायी सच्ची आहट।

माचवे के काव्य में उत्कृष्ट व्यंग्यपूर्ण भावों की तीव्रता को व्यक्त करता है।

डॉ. रामविलास शर्मा आधुनिक संवेदनाओं से स्वयं को मुक्त नहीं कर सके। मानव की दूटन को देखते हुए भी वे जनसाधारण का जीवन नये स्तर पर विकसित हो रहा है, और होता रहेगा के प्रति आस्थारत हैं।

अज्ञेय को प्रयोगवाद का प्रवर्तक माना गया है। उनका काव्य "व्यक्ति-सत्य" को "व्यापक-सत्य" होते हुए देखना चाहता है। व्यक्तिमय चेतना तथा वर्गगत यथार्थबोध-जन्य-संवेदनाओं में अतिथार्थ का प्रतिबिम्बन है। अज्ञेय ने कहा भी है: स्पष्ट ही आस्था की समस्या मुझे नहीं सताती - नहीं मुझे लगता है कि मैं या मेरी कविता किसी सनातन सूर्योदय से वंचित है। ... अनन्ति वही है जो एक बार बदल कर फिर नहीं बदलता - कवि प्रगतिवादी दृष्टि से मानवीय आस्था को देखता है। एक बात स्पष्ट है कि अज्ञेय परंपरा को रूढ़ि से अलग स्वीकारते हुए उसे ऐतिहासिक संबंध से संयुक्त करते हैं।

अज्ञेय ने दूसरे तार - सप्तक के कवियों को प्रयोगवादी न कहकर "कवियशः प्रार्थी" तथा काव्य क्षेत्र का अन्वेषी कहा है। प्रयोग हर काल की काव्यधारा में होते रहे हैं और उसके द्वारा कविता व कला का विकास संभव हो सकता है।

द्वितीय तार - सप्तक के कवियों में भवानी प्रसाद मिश्र, को इस बात का दुःख है कि वे अपनी इमेज को प्रस्तुत करनेवाली रचनाएँ इस संकलन में नहीं दे पाये। वे कविताएँ लंबी भी हैं व जीवन दर्शन से संबद्ध हैं। मिश्र जी का काव्य वैचारिक दृष्टि से अद्वैतवादी और सामाजिक दृष्टि से गौंधीवादी है। वे छायावादी कवियों से अलग परंपरावादी कड़ियों को तोड़ने में सुख का अनुभव करते हैं।

तीव्र अवसाद के क्षण, वर्तमान अर्थव्यवस्था ने दिये हैं। लेकिन इनमें भी रास्ते अन्वेषित करने हैं। शकुन्तला माथुर के काव्य में जीवन की गीत और उसके साथ चलने का प्रयास एक नवीन प्रयोग हो सकता है किन्तु उनकी दृष्टि से जो रचनाएँ वे पंगु तथा अस्त-व्यस्त टुकड़े हैं। हरिनारायण व्यास वैयक्तिक चेतना को पूँजीवाद की देन मानते हैं। प्रचलित मान्यताओं के प्रति एक अनास्था है। व्यास का विश्वास है कि अनुभूतियों का संक्रमण ही मान्यताओं की उपेक्षा का कारण है।

कवि ने कविता की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का संचय जीवन के आसपास से किया है। भाषा को जीवन और समाज का प्रबल अस्त्र माना है।

शमशेर बहादुर सिंह प्रगतिशील आन्दोलन को मानते हुए, कम्युनिस्ट आदर्शों से प्रभावित हुए हैं। इस धारणा के प्रति उन्होंने यह कहते हुए "इसमें मैंने सामाजिक आदर्शों का एक बहुत सुन्दर सजीव रूप देखा है" अपनी आस्था व्यक्त की है। शमशेर निराला से प्रभावित हुए हैं। जिन्दगी की तल्लिखत को सच्चाई के साथ प्रस्तुत करते हैं। 'बात बोलनी' रचना में जीवन की बातें बोलती हैं। शमशेर "बुर्जुआ भावों की गुमठी को काट" अर्थात् परंपरा का विघटन कर, आधुनिकता को प्रश्रय देते हैं। मजदूर किसानों के प्रति संवेदना के गीत गाते हुए, उनके साथ मिलकर वह जीना चाहते हैं। वैयक्तिक मनोभूमि पर शमशेर मानवीय आस्था, सत-असत, आत्मसंघर्ष, मृत्युबोध, अनास्था-आस्था, एकाकीपन तथा तटस्थता आदि की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। डॉ. स्याम परमार ने कहा है- आईने के सामने शमशेर जो कुछ है, वैसे पीछे नहीं है। शमशेर का काव्य विरोधाभासों का दस्तावेज है। यथार्थ और रोमांटिक दृष्टि, सौन्दर्यानुभूति और सामाजिक दायित्वबोध सबके साथ ही कविता पाथेय की तरह रही है। कवि के शब्दों में "जहां तक वह मेरी निजी उपलब्धि है वहीं तक मैं उन्हें दूसरों के लिए मूल्यवान समझता हूँ। शमशेर की रचना-प्रक्रिया अन्तर्विरोधों से भरी पड़ी है। वे निजी उपलब्धि की बात करते हैं किन्तु समाज का सत्य निजत्व से वंचित होता है। बाहर को आतरीकीकृत करने का प्रयत्न है किन्तु रचना रची जाने पर भी सार्थक बोध कभी लक्षित नहीं होता। काव्य में निश्चित ही शमशेर भाषा में सार्थक बोध का एहसास करवाते हैं।

नरेशकुमार मेहता प्रयोगशील की श्रेणी में आते हैं। उनकी दृष्टि में संस्कृति भ्रामक शब्द है। फिर भी संस्कृति के माध्यम से सुन्दर कल्पना प्रधान साहित्य लिखा जा सकता है। उनकी रचनाओं में 'श्रमजीवी मानव' साम्यवादी स्वरों में बोलता है। भौतिक जीवन के द्वन्द्व और संघर्षों से मानव-मुक्ति चाहता है, ऐसी मुक्ति जो रचनात्मकता की ओर ले जाती है।

रघुवीर सहाय की प्रारंभिक रचनाएँ परिवार के भीतर ही घूमती हैं। वैयक्तिक संबंधों का तनाव क्रमशः खुलता हुआ प्रतीत होता है। यह तनाव परिवार के दायरे से निकाल, समाज की ओर उन्मुख होता है। वह समाज जो लोकतंत्र का एक हिस्सा है। और उसी लोकतंत्र की व्याख्या करते हुए आदमी की स्थिति को रेखांकित करते हुए कवि कहता है- "ऐसा लोकतंत्र जिसने हमें इसार की शानदार जिन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चौप दिया"। कवि अपनी निजता को एक राजनीतिक संस्कार देता है। "हँसो हँसो जल्दी हँसो" के माध्यम से यथार्थ को रूबरू करता है। कवि की रचनाओं की केन्द्रीय संवेदना "वर्तमान समय" है। रघुवीर सहाय कवि के निजत्व की व्यापकता का बोध उसके राजनीतिक और सामाजिक होने में कराते हैं। भाषा में सपाट बयानी और शब्दों का खेल एक विचित्र आकर्षण पैदा करता है। "सीढियों पर धूप" "आत्महत्या के विरुद्ध", "हँसो हँसो जल्दी हँसो" रचनाएँ भाषायी रंगों के अच्छे उदाहरण हैं।

धर्मवीर भारती कवि के रूप में, आग की संघर्ष पूर्ण कटु और कीचड़ में बिलबिलाती हुई जिन्दगी के भीतर की सौन्दर्यानुभूति के तत्व तलाश लेते हैं। पीड़ा ने विश्वास और दृढ़ता के स्वर उन्हें दिये हैं। कवि वस्तु से अधिक प्रभावशाली सम्प्रेषण को प्राथमिकता देता है। मानवता की मुक्ति के क्षीण से क्षीण आलोक-कण की पहचान को सहेजे, वर्ण-संघर्ष की पीड़ा को झेलते, थके हुए कलाकारों से सबकुछ भूल जाने के लिए कहते हैं। धर्मवीर भारती, निश्चित ही प्रयोगशील कवि हैं। किन्तु प्रयोगों का प्रयोग वह अपने ढंग से करते हैं।

उपर्युक्त "सप्तकद्वय" के कवियों को यदि कम शब्दों में मूल्यांकन करें तो लगता है कि मुक्तिबोध ने अपने ही ढंग से विस्मयकारी सार्वजनिक दुनियाँ और राजनीति का कविता में पुनर्वास किया है। सामाजिक-राजनीतिक पीड़ा मात्र "बाह्य" नहीं है। उससे से कहीं ज्यादा अधिक पीड़ा वाला उनका 'अंतः' भी है। उन्होंने बाह्य को अंतः स्वीकृत किया है। इसलिए अभिव्यक्ति में पैना सच और अभेद्य आन्तरिक प्रभाव है। "अज्ञेय" एक नैतिक व्याख्याकार के रूप में सामने आये हैं। वे अपने अनुभव और भावों की अभिव्यक्ति के साथ उसके नैतिक मूल्यांकन का पाठको से आग्रह भी करते हैं। नागार्जुन रागात्मक संवेदनाओं से प्रेरित होकर ही बाह्य जीवन की विकृतियों पर करारी चोट करते हैं। वह जातने हैं कि बुद्धिजीवियों की साहित्यिक जालसाजी के स्थिर भविष्य के प्रति कितनी पैनी आंख रखने वाली है। जनसंघर्ष को भी इस तरह से कलम में गुँज देती है कि बुद्धिजीवी, राजनीतिक व सामाजिक आक्रोश का, मुद्दा बनने से बच जाता है। रघुवीर सहाय व्यक्ति से समष्टि तक के प्रश्नों को काव्य में समेटते हैं।

प्रयोगवादी काव्य पर दृष्टि डालें तो उसमें कुछ बातें एकदम स्पष्ट लक्षित होती हैं। 1. प्रयोगवादी काव्य व्यक्तिपरक काव्य है। व्यक्ति-सत्य को शिल्प की नूतनता में अनुस्यूत करता है। विवेक के विकास द्वारा नयी अभिरुचि उत्पन्न करने का यत्न किया गया है। 2. आधुनिक व्यस्तता और अन्य अनेक कारणों से आज का बुद्धिजीवी मानव "क्षण" के प्रति विशेष सजग हो गया है। अज्ञेय ने 'क्षण' की बात उठाई है। "क्षण" ही अस्तित्व का प्रमाण है। एक एक प्रवाहमान क्षण में सम्पूर्णता से व्याप्त है। 3. प्रयोग में नवनिर्माण की-चेष्टा, नये अभ्यास और अभिनव रचना-प्रयास को कहते हैं। प्रयोगवादी की सौंदर्य के प्रति दृष्टि उदार है। उन्मुक्त असंबद्ध चेतनाधारा प्रिय है।

राह के अन्वेषी होने के कारण प्रयोगवादियों के समक्ष कोई कथ्य, लक्ष्य, जीवनदर्शन निश्चित नहीं रहा है। वह अपने अनुभव को छद्मरहित बनाकर सम्प्रेषित करना चाहता है। शब्द विन्यास, स्वर-विस्तार-संकोच, शब्दनाद, छंदमुक्ति, अर्थ-विराम, सीधी, -तिरछी-पक्तियाँ आदि अनेक प्रयोगों द्वारा कथ्य को अभिव्यक्ति मिली है।

नये प्रयोगों के अतिरिक्त प्रपद्यवाद (नकेनवादी) में भी उक्ति-वैचित्र्य, शाब्दिक खिलवाड़, करीगरी है, काव्य नहीं। बिम्ब, प्रतीक, उपमाएँ, भी प्रायः विचित्र व अनगढ़ हैं। सच तो यह है कि प्रयोग प्रभावशाली हों तो आपत्ति नहीं है। यदि उसके विपरीत सहृदय को प्रभावित न कर पाये तो वह किसी भी दृष्टि से उपयोगी नहीं कहे जा सकते।

22.4 सारांश

काव्य-धारा में अंतर्निहित प्रवृत्ति एकदम नवीन नहीं हो सकती। उसके पीछे अपने अतीत की ऐतिहासिक भूमिका रहती है। जब कभी काव्य प्रवृत्तियाँ चुकने लगती हैं उनमें ताजगी एवं नयेपन का बोध नहीं रह जाता है। जब स्थिति से प्रेरित हो कवि उसमें ताजगी लाने का प्रयत्न करता है। इसमें वैचारिक नव्यता अथवा अभिव्यजना-पद्धति या शैली-नव्यता का प्रवेश होता है।

प्रत्येक युग के काव्य में जब कभी नये प्रयोग हुए हैं, उनका लक्ष्य जीवन और संस्कृति का सौंदर्य चित्रित करना रहा है। यथार्थ की अभिव्यक्ति और सत्य को स्वीकार मिला तब नयेपन का बोध जागा है। प्रयोगवादी सारे संदर्भ भी स्पष्ट हैं। उसकी कविताएँ 1936 से 1941 के बीच लिखी गयीं। तीसरे दशक के उत्तरार्द्ध में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों में परिवर्तन के साथ ही साहित्यिक क्षेत्र में नयी दृष्टि व दिशाएँ दिखायी पड़ने लगीं। यद्यपि प्रयोगवाद और तारसप्तक को लेकर पक्ष-विपक्ष में काफी दलीलें दी गयीं। लेकिन यह सच है कि कालांतर में तारसप्तक को नयी कविता की विशेषताओं से समजित मान लिया गया। वैसे छायावादोत्तर काल से पूर्व ही प्रयोगधर्मी रचनाओं के सूत्र मिलने लगे थे। दिनकर अपवाद माने गये हैं क्योंकि छायावादोत्तर काल से ही यह जीर्णतनाव सिमट रहा, आकाश नया आने को है, या 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' आदि पंक्तियों में नयी कविता की चेतना समानांतर विकसित होती दिखाई दे रही थी। विचारणीय बात यह है कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों ही प्रवृत्तियाँ छायावाद की प्रतिक्रिया में विकसित हुईं और उनके लक्षण धीरे धीरे एक दूसरे से विलग हुए या कर लिये गये पर असंदिग्ध रूप से छायावाद के कुछ गहरे अन्तर्विरोध प्रयोगवाद की काव्यानुभूति में बने हुए हैं।

जिसे प्रयोगवादी प्रवृत्तियों से युक्त काव्य धारा मान लिया गया उसमें भी दो संप्रदाय हैं— एक अज्ञेय जी का दूसरा नकेनसंप्रदाय का। अज्ञेय का आग्रह कवि को अन्वेषी मानकर चला है इसलिए उनका विस्वास कवि का अन्वेषणशीलता पर है। दूसरा नकेनपंथी जो शैलीगत प्रयोग साधना को ही साध्य मानता है— चमत्कारपूर्ण हास्य की सृष्टि करता है। असंगत, अन्तर्विरोधी कथनों की सृष्टि को ही वे सफलता का पर्याय मानकर चले हैं। नवीनता का तात्पर्य विकृतियों या भोंडेपन से युक्त असंगतियों का चित्रण नहीं है। ताजगी, चमत्कार कुछ ऐसा हो जिसमें सौन्दर्यानुभूति के साथ नयी चेतना भी हो।

अज्ञेय को प्रयोगवाद का प्रवर्तक, के रूप में आलोचकों ने स्वीकार किया है। किन्तु अज्ञेय की दृष्टि अन्वेषी अधिक रही है। इसीलिए प्रथम तारसप्तक की भूमिका में उन्होंने अपने सहित सभी कवियों को राहों का अन्वेषी माना है। इनका लक्ष्य साहित्यिक मान्यताएँ, व्यक्तिनिष्ठा, राष्ट्रीयता और भावनाओं की ईमानदार अभिव्यक्ति रहा है।

प्रयोगवादियों ने भाषा को नयापन दिया है। एक परंपरा को तोड़ा है। उनकी बिंबसृष्टि और दृश्य-योजना अप्रतिम हैं। वैचारिक एवं भावात्मक चेतना की सूक्ष्म अनुभूति तरंगों को तथा दृश्य श्रव्य, घ्राण, स्पर्श, आस्वाद संवेदनाओं के बारीक संस्पर्शों को, विविध अप्रस्तुत विधानों, उपमानों, प्रतीकों, कल्पनाओं आदि के माध्यम से प्रकट करने में इस पीढ़ी के अनेक कवियों को खासी सफलता प्राप्त हुई ... अधिक महत्व इस प्रवृत्ति का इस बात में है कि इसने अभिव्यजना का एक नवीन द्वार खोल दिया। यही नहीं लोक-गीत और लोक-जीवन की भाषा का समजान इसकी अपनी विशिष्टता है। लोकसभा में भावाभिव्यक्ति की सहजता व अनगढ़पन भी है। वैज्ञानिक भाषा में शास्त्रीय जटिलता व प्रगति

है। इस काव्यधारा के कवियों ने सुन्दर शब्दचयन और शब्द निर्माण का प्रयत्न किया है। विषय-वस्तु, तत्व का चयन युगीन धरातल पर किया है, जो सामाजिक भी है।

निष्कर्ष में प्रयोगवाद में भावों की व्यञ्जना बिना किसी शास्त्रीय परंपरा को अपनाये स्वतंत्र रूप से हुई है। वह परंपराओं को निष्क्रिय व निष्प्राण मानती है। यह प्रयोगवाद प्रत्येक शब्द का स्वयं निर्माता है और वह लोक जीवन से अपने काव्य तत्वों को ग्रहण करता है।

22.6 अभ्यास

22.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न

1. प्रयोगवादी आलोचना का परिचय दीजिए।
2. प्रयोगवादी आलोचना में तार-सप्तक की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. प्रयोगवाद के संबंध में अज्ञेय के विचार स्पष्ट कीजिए।

22.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

1. प्रयोगवादी आलोचना से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. हिन्दी में नकेनवाद से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
3. प्रयोगवाद के संबंध में नागार्जुन के विचार संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
4. प्रयोगवादी आलोचना काव्य के किस पक्ष को अधिक उज्जगर करती है?

22.7 नमूने के उत्तर

प्रश्न: प्रयोगवाद के संबंध में अज्ञेय के विचार स्पष्ट कीजिये।

उत्तर: प्रयोगवादी कवियों के संबंध में आलोचकों की अपनी एक धारणा है कि इस धारा की कविता ने सर्वजनीनपक्ष को व्यक्तिवाद से अधिक महत्व दिया है। अज्ञेय को प्रयोगवाद का प्रवर्तक माना जाता है। उन्होंने प्रयोगवादी काव्य-धारा की कोई एक परिभाषा नहीं दी है बल्कि तारसप्तक की भूमिका में स्पष्ट रूप से यही लिखा है कि हम तो राहों के अन्वेषी हैं। अन्वेषण एक सतत प्रक्रिया है। कुछ नया पाने की चेष्टा है।

आत्मसंघर्ष या अहंका विस्फोट ही काव्य के सृजन का प्रमुख कारण है। यह अहं, समाज की परंपरा और रुढ़िवादिता के प्रति विद्रोह व्यक्त करता है। अपर्याप्तता, के प्रति विद्रोह है। जब पुरानी लीक, जड़ता का कारण बन जाती है, जीवन में नये बोध की अपेक्षा, ऊब को स्थान देने लगती है, तब इन लीकों व जड़ता को समाप्त कर नई लीकें अपना स्थान बनाने लगती है।

अज्ञेय ने स्पष्ट किया है कि केवल प्रयोगधर्मी होने से ही रचना काव्य का रूप नहीं ले सकती। रचना का महत्व उस सत्य को जो प्रयोग द्वारा हमें प्राप्त हो। युगीन वातावरण के गहन तम को समाप्त कर, नये आलोक को फैलने के लिए प्रयोगवादी कवि आत्मानुसन्धान का आश्रय लेता है। भावनाओं के वातावरण में वह आत्म-सत्य को पाने का प्रयास करता है। यही प्रयोगवादी रचनाकार का लक्ष्य है।

सन् 1850 से लगभग फ्राँस में कलावादी विचारधारा का बुद्धिजीवियों ने समर्थन ही किया। आदर्शात्मक और उपदेशात्मक कला-सिद्धांतों के उन्मूलन के साथ उक्त कला-सिद्धांत की प्रतिष्ठा होने लगी। सौन्दर्य का कोई बाह्य अस्तित्व नहीं है। काण्ट के इस सिद्धांत ने 'कला कला के लिये' सिद्धांत को पुष्ट किया। पश्चिम के बुद्धिजीवियों ने सौन्दर्यवाद के साथ कलावाद को प्रतिष्ठित किया।

इस क्षेत्र में अमेरिकन विचारक जेम्स हिवसलर (1824-1903), अमेरिकन कवि एलन पो (1809-49), कस्टर पीटर (1839-94), अंग्रेज कवि आस्कर वाईल्ड (1854-1900), प्रोफेसर ए. सी. ब्रेडले (1851-1935), इटली के दार्शनिक बनेडेट्टो क्रोचे (1866-1952), फ्रांस के कवि बौदलियर (1821-67), कवि गौदियर (1811-72), कवि स्टीफेन (1842-98) आदि उल्लेखनीय नाम हैं जिन्होंने 'कला काल के लिए' सिद्धांत का पूर्ण समर्थन किया और अपने काल के आदर्शवादी और शुद्धाचारवादी विचारधारा का खंडन किया।

प्रश्न: प्रयोगवादी आलोचना का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर: प्रयोगवादी प्रवृत्ति का प्रारंभ सन् 1943 में तार सप्तक के प्रकाशन काल से माना गया है। आलोचकों ने इस प्रवृत्ति को अज्ञेय के तार सप्तक से जोड़ा है लेकिन छायावाद की रोमानी, रहस्यात्मक अध्यात्मक प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित बौद्धिकता, जटिल संवेदना, नितनूतन सौन्दर्यानुभूति, भैतिक वैयक्तिक आधार और नये शिल्प के आग्रह के कारण प्रयोगवादी रचनाएँ बहुत पहले प्रारंभ हो चुकी थीं। अनेक आलोचक निराला को प्रयोगवादी प्रवृत्ति का प्रवर्तक मानते हैं। छायावादोत्तर युग में कुछ तरुण कवियों की कविताएँ "उच्छृंखल" नामक पत्रिका में प्रकाशित हुईं। "उच्छृंखल" नाम स्वयं संकेतिक है कि कथ्य और शिल्प दोनों की ही सीमा को इसमें तोड़ा गया है। और ये भी कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति की उच्छृंखलता सिंधु के लेखकों में प्रारंभ से रही है। इस संदर्भ में डॉ. भगीरथ मिश्र जी के विचार हैं कि प्रत्येक युग के काव्य में नवीन प्रयोगों के कारण ही नव्यता आती रही है परन्तु उसका लक्ष्य जीवन और संस्कृति का सौन्दर्य चित्रित करना रहा है। उसके सत्य का उद्घाटन करता रहा है, प्रयोग मात्र नहीं।

वस्तुतः छायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में प्रगतिवाद के समान ही प्रयोगवाद का जन्म हुआ। इसके अंतर्गत वैयक्तिक यथार्थ और बौद्धिकता का आग्रह है। प्रयोगवादी कवियों पर मनोविश्लेषण शास्त्र का अधिक प्रभाव पड़ा है। एजरा पाउंड, टी.एस.इलियट, औडेन स्पेंडर, सार्त्र, लारेस, कम्मिगज आदि से भारतीय कवि न्यूनाधिक रूप से प्रभावित हुए हैं। अज्ञेय को, जिन्हें प्रयोगवाद का प्रवर्तक माना गया है, कहना है कि आज का कवि यौन-वर्जनाओं का पुंज है। अपनी अवचेतना काम संबंधी और इतर कुंठओं और उलझी संवेदनाओं का उसने वैयक्तिक प्रतीकों द्वारा यथावत् वस्तुरूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। डॉ. नगेन्द्र इस कविता को एकदम वैयक्तिक और प्रायः लोक से असामान्य होने से अधिकतर साधारणीकरण के अयोग्य मानते हैं। उपर्युक्त कथन इस अर्थ को घोषित करता है कि कथ्य और शिल्प दोनों में प्रयोग हुए हैं। वस्तु दृष्टि से उसमें वैयक्तिकता और सत्य का अन्वेषण है। इसके अंतर्गत विभिन्न विज्ञानों, शास्त्रों, गली-कूँचों, सभी जगह से भाषा को एकत्र किया गया है तथा शब्दों का विचित्र एवं मनमाना प्रयोग भी - सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा है कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सुस्ति को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।

22.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. नयी कविता के प्रतिमान - लक्ष्मीकांत वर्मा
2. हिन्दी काव्य और प्रयोगवाद- डॉ. रामकुमार खंडेलवाल
3. हिन्दी कविता की प्रगतिशील भूमिका- प्रभाकर श्रोत्रिय
4. कविता के नये प्रतिमान- डॉ. नामवरसिंह
5. तार सप्तक - स्व. अज्ञेय
6. आधुनिक कविता की प्रवृत्तियाँ - डॉ. प्रेम प्रकाश गौतम
7. प्रयोगवादी काव्य धारा - डॉ. रमाशंकर तिवारी
8. प्रगति और परंपरा - डॉ. रामविलास शर्मा
9. नयी कविता स्वरूप और समस्याएँ- डॉ. जगदीशगुप्त
10. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध - ग.मा.मुक्तिबोध
11. हिन्दी कविता: तीन दशक - डॉ. रामदास मिश्र

इकाई-23: विधा-परक और रूपात्मक आलोचना

- 23.0 विषय प्रवेश
- 23.1 उद्देश्य
- 23.2 पाठ-परिचय
- 23.3 मूलपाठ
- 23.4 सारांश
- 23.5 शब्दार्थ
- 23.6 अभ्यास
 - 23.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 23.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 23.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 23.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 23.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 23.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

23.1 उद्देश्य

इस पाठ में विधा-परक और रूपवादी साहित्यिक आलोचना पर प्रकाश डाला गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- विधा-परक आलोचनात्मक दृष्टिकोण पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- रूपवादी आलोचना दृष्टिकोण की विवेचना कर सकेंगे।
- विधा-परक और रूपवादी आलोचना की मान्यताओं व स्थापनाओं पर विचार कर सकेंगे।
- वस्तु-पक्ष और रूप पक्ष के संबंधों को स्पष्ट कर सकेंगे।

23.2 पाठ परिचय

इस पाठ में आलोचना के दो रूपों की चर्चा की गई है। विधापरक आलोचना के अंतर्गत गद्य-पद्यपरक साहित्य के संदर्भ में हिन्दी की विधाओं के विकास को दिखाते हुए विधापरक आलोचना की दृष्टि को दिखाया गया है और काव्य-रूपों की भी चर्चा की गई है। रूपवादी आलोचना के संदर्भ में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण के संदर्भ में रूपवादी आलोचना का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है और रूपवादी आलोचना की प्रमुख मान्यताओं व सीमाओं को सामने रखा गया है।

23.3 मूल पाठ

विधा परक और रूपात्मक आलोचना का विकास हमें भारतीय और पाश्चात्य दोनों काव्य चिंतनों में मिलता है। भारतीय चिंतन में काव्य शब्द के अंतर्गत साहित्य की सभी विधाएँ सम्मिलित हो जाती थीं। संभवतः गद्य का प्रसार तब तक नहीं हो सका था। लेकिन नाट्य विधा को भी काव्य के अंतर्गत रख कर ही देखा गया। विधापरक भेद की स्थिति हमें प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में नहीं दिखाई देती।

विधापरक दृष्टि से प्रारम्भिक हिन्दी काव्य के संदर्भ में और आधुनिक हिन्दी काव्य के संदर्भ में हमें आधुनिक आलोचना में कुछ विचार मिलते हैं। हिन्दी काव्य में गीतिभावना को देखने का

प्रयत्न हुआ, आलोचकों ने कविता के अनेक रूपों के अन्तर्गत गीति-तत्व को उपस्थिति की बात की। नाटकीय कविता में, प्रबन्ध कविता में, मुक्तक कविता में गीति भावना को और उसकी विशेषताओं को आलोचकों ने विश्लेषित किया। गीति भावना की दृष्टि से तीन विशेषताओं की चर्चा की गई है। पहली यह कि उसमें गेयत्व होना चाहिए, दूसरे यह कि उसमें स्वानुभूति का एक भाव होना चाहिए और तीसरे उसमें कोमल भाव की सघनता होनी चाहिए। इस प्रकार जिस कविता में गेयत्व और कोमल तथा सघन आत्मानुभूति एक साथ पायी जाती है, उसे ही समीक्षकों ने गीति काव्य माना। इन विशेषताओं के साथ-गीत की आध्यात्मिक विशेषताओं की ओर भी आलोचकों का ध्यान गया और यह माना गया कि गीति काव्य के भीतर कवि की आत्मा की निजी अनुभूति प्रकट होती है अतः कवि की अनुभूति तथा उसकी सामाजिक सांस्कृतिक विशेषता को भी इसके लिए आवश्यक तत्व माना गया। गीति की कुछ विशेषताओं को उसके बाह्य रूप से भी जोड़ा गया और ये माना गया कि अनुभूति की तीव्रता में कवि स्वाभाविक रूप से गा उठता है अतः गीति की गेयता स्वतः सिद्ध है। वास्तव में उसकी गेयता ही श्रोता या पाठक की अनुभूति पर मधुर प्रभाव डालती है।

नाटकीय कविता में कवि अपनी भावनाओं को विभिन्न पात्रों के वार्तालाप द्वारा प्रकट करता है। आलोचकों ने यह माना है कि कवि जब स्वयं पात्रों में प्रवेश करके उस पात्र की आत्मानुभूति को प्रकाशित करता है तभी उसका काव्य सफल माना जाता है। ऐसा होने पर उसमें गीत भावना का या स्वानुभूति का तत्व स्वतः आ जाता है।

आलोचकों ने यह भी स्पष्ट किया कि प्रबन्ध काव्य में कविता कथानक का सहारा लेकर चलती है जिसके कारण उसमें घटना का सौन्दर्य भी आ जाता है। कवि की अनुभूति भी इसमें घुली मिली रहती है।

इस प्रकार कविता की मुख्य प्रेरणा विधापरक आलोचना में आत्मानुभूति को स्वीकार किया गया और यह भी कि आत्मानुभूति ही जब स्वाभाविक गतिमय और गेय स्वरलहरी में प्रकट होती है तो गीति हो जाती है। आधुनिक युग में गीति भावना के प्रबल पक्षों में परम्परा, त्याग, स्वच्छन्दता और अंग्रेजी गीतिकाव्य के प्रभाव के कारण प्रकृति-प्रेम की भावना को स्थान दिया गया है। भारतेन्दु युग में भक्ति और प्रेम के साथ देशप्रेम की नई भावना ने भी गीति में स्थान पाया। हिन्दी में हम निराला, प्रसाद, महादेवी, पन्त आदि में गीति भावना को सीधा देख सकते हैं। निराला की "गीतिका" में भी और प्रसाद की "लहर" में भी आलोचकों ने गीति भाव पहचानने का प्रयत्न किया है।

गीति काव्य संबंधी आलोचना के साथ विधा की दृष्टि से महाकाव्य पर भी हमें वैचारिक चिंतन मिलता है। महाकाव्य को उदात्त, उत्कृष्ट, पूर्ण और प्रभावशाली माना गया है। इसके लक्षण के रूप में व्यापकता, विशाल जीवन की विविध, दृश्यावली, महान् चरित्र, व्यक्ति, युग और संस्कृति के उद्घाटन को स्थान दिया गया है। ये लक्षण हमें भारतीय शास्त्रकारों द्वारा भी प्राप्त होते हैं। इसके बाह्य लक्षणों के रूप में प्रधान रूप से कथावस्तु की ऐतिहासिकता और संगठन, नायक की महानता या उच्चता वर्णन की परिपूर्णता, सर्गों का विस्तार और रस की निष्पत्ति को स्वीकार किया गया है। हिन्दी महाकाव्यों में इन लक्षणों में इन लक्षणों के साथ आलोचकों ने रामचरित मानस, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, हल्दीघाटी, रश्मिरती और उर्मिला को स्थान दिया है।

आधुनिक युग में जब गद्य का विकास हुआ तब विधा के रूप में गद्य लेखन और उसकी समीक्षा को भी विस्तार मिला। संस्कृत साहित्य में भी गद्य का महत्व पद्य से कम नहीं था, संस्कृत कालीन काव्य विवेचन में भी गद्य और पद्य दोनों का उल्लेख मिलता है। गद्य की महत्ता को वामन ने इस उक्ति द्वारा व्यक्त किया है "गद्य कवि नाम विकर्ष वदति" अर्थात् गद्य की रचना कवियों की कसौटी है, बाद में भी कहा गया कि कविता लिख कर प्रतिभा की छाप सरलता से डाली जा सकती है लेकिन गद्य लिख कर यह कार्य कठिन है। इस बात पर भी आलोचना में विचार हुए कि गद्य रचना पद्य रचना से भिन्न होती है। इसके दो आधार समीक्षकों ने दिए व्याकरण सम और छंद हीनता, यह भी माना गया कि जब जीवन का बहुमुखी और बहुविध कार्य किसी भाषा में होने लगता है तब उसकी

गद्य विधाएं विकसित होती हैं और तभी उस भाषा का पूर्ण विकास होता है, हिन्दी साहित्य के संदर्भ में भी आधुनिक युग में गद्य के स्थान पर गद्य की प्रमुखता और काव्य साहित्य के स्थान पर गद्य साहित्य का प्रभुत्व स्थापित होता हुआ दिखाई देता है। कई आलोचक गद्य की इस प्रमुखता को ध्यान में रख कर ही हिन्दी के आधुनिक काल को गद्य काल कहते हैं। गद्य को विचारों की भाषा, बौद्धिकता और तर्कता की भाषा, विश्लेषण, विवेचन और आलोचना की भाषा के रूप में देखा गया। गद्य विधाओं के रूप में नाटक और निबंध का लेखन हिन्दी में भारतेन्दु युग से ही प्रारंभ हो गया जिसमें गद्य साहित्य की अन्य नूतन विधाएं भी उभरने लगीं। आलोचना में गद्य में अभिव्यंजना की कला ने अनेक शैलियों को जन्म दिया जिन पर आलोचना ने व्यापक चर्चा की। हिन्दी साहित्य के इतिहास में बालकृष्ण भट्ट, पतापनारायण मिश्र, लाला श्रीनिवासदास, बट्टीनाथ चौधरी प्रेमधन, राधाचरण गोस्वामी आदि ने निबंध, उपन्यास, नाटक, आलोचना आदि गद्य साहित्य की विधाओं में मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने गद्य विधाओं में निबंध को गद्यकारों की कसौटी माना। गद्य की सभी विधाओं में आलोचना के भिन्न-भिन्न रूप भी विकसित होते हुए दिखाई देते हैं। गद्य विधाओं को हिन्दी में एक स्तरीय भाव-विचार और भाषा शैली देने का कार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया। जिसके माध्यम से उन्होंने निबंधों को तीन वर्गों में विभक्त किया-विचारात्मक, वर्णनात्मक और विवरणात्मक इसके लिए निबंध की शैलियों का निर्धारण भी इस समय किया गया जिनमें क्रमशः व्यास शैली, विवेचना शैली, व्यंग्यात्मक शैली आदि के रूप में देखा गया। शुक्लजी ने निबंधों के विषय में अपने इतिहास में कहा "शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है, जहाँ एक एक पैराग्राफ में विचार दबा दबा कर दूँसे गए हों और एक एक वाक्य किसी संबद्ध विचारखण्ड के लिए हो। हिन्दी आलोचना ने निबंधकार के रूप में भारतेन्दु हरिश्चंद्र लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक के निबंधों के संबंध में विचार व्यक्त किए हैं। निबंधों के अतिरिक्त संस्मरण, यात्रा विवरण, जीवनी, रेखाचित्र जैसे गद्य रूप भी हिन्दी और विश्व भाषाओं में विकसित हुए और इनके साथ ही कथा साहित्य और नाटक पर भी आलोचना में बल दिया गया। भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से नाटक साहित्य एक प्राचीन विधा रही है और भारतीय काव्यशास्त्र में दृश्यकाव्य के रूप में नाटक पर बहुत अधिक बल दिया गया है। भारतेन्दु युग में भी नाटक के स्वरूप, उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता और देशकाल और पात्र के अनुसार भाषा प्रयोग पर बहुत बल दिया गया। भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से नाटक साहित्य एक प्राचीन विधा रही है और भारतीय काव्यशास्त्र में दृश्यकाव्य के रूप में नाटक पर बहुत अधिक बल दिया गया है। भारतेन्दु युग में भी नाटक के स्वरूप, उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता और देशकाल और पात्र के अनुसार भाषा प्रयोग पर बहुत बल दिया गया। द्विवेदी युग में भी सामाजिक नाटकों और उनके प्रकारों पर व्यापक चर्चा की गई और कला-साहित्य नाटक में तत्व और प्रयोजन संबंधी जो भेद होता है उसे भी विस्तार से उद्घाटित किया गया। इस दृष्टि से नाटक को काव्य के अधिक निकट माना गया और यह स्पष्ट किया गया कि कथा साहित्य के तत्व हमारी कुतूहल प्रवृत्ति को जाग्रत करते हैं, जबकि नाटक के तत्व हमें विभिन्न भावों से ओतप्रोत करके कार्य और विचार की प्रेरणा देते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी के कला-साहित्य पर विचार किया गया और जीवन की स्वाभाविकता की दृष्टि से गद्य की सभी विधाओं को वर्गीकृत करने का प्रयत्न भी हुआ। कथा साहित्य को प्रेमचंद्र को केंद्र में रखकर देखने की दृष्टि समीक्षा शास्त्र में प्रस्तुत हुई। प्रेमचंद से पहले उपन्यास और कहानियाँ, काल्पनिक कथानक से बंधी हुई थीं। प्रेमचंद के समय से उसमें ऐतिहासिकता, राष्ट्रीय यथार्थवादिता, मनोविज्ञान आदि तत्व आने लगे। इस संबंध में शिवदान सिंह चौहान ने कहा है "विषयवस्तु, रचना-तंत्र-शैली और भाषा सभी दृष्टियों से ये उपन्यास प्रथम महायुद्ध से पहले के उपन्यासों से श्रेष्ठ हैं। प्रेमचंद, चतुरसेन शास्त्री, जैनेंद्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा, इलाचंद्र जोशी आदि के उपन्यास प्रौढ़ता की ओर संकेत देते हैं। प्रेमचंद ने उपन्यास को मानव जीवन का चित्र कहा था और उसकी विषयवस्तु को मानवीय माना था। वस्तु के प्रति यह मानवीयता की दृष्टि उनसे पहले के उपन्यासकारों में नहीं दिखाई देती। इस दृष्टि से भी हिन्दी आलोचना में वस्तु और शिल्प की दृष्टि से प्रेमचंद पूर्व के कथा साहित्य और उसके बाद के कथा साहित्य पर काफी विस्तार से अध्ययन हुए हैं और इस विधा के कलात्मक विकास की चर्चा की गई है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी परीक्षा गुरु, नूतन ब्रह्मचारी, सौ अजान एक सुजान को भी हिन्दी की उपन्यास विधा की दृष्टि से देखा गया।

इस प्रकार विधागत आलोचना का विस्तार विधाओं के विस्तार के साथ ही हमें दिखाई देने लगता

रूपवैज्ञानिक आलोचना का विस्तार हमें भारतीय और पाश्चात्य दोनों समीक्षा दृष्टियों में दिखाई देता है। भारतीय काव्य चिंतन में इसे हम रीति, वक्रोक्ति, अलंकार, ध्वनि संप्रदायों में देख सकते हैं और पाश्चात्य काव्य चिंतन में यह हमें व्यावहारिक समीक्षा के नाम से दिखाई देता है। इस समीक्षा दृष्टि का विस्तार पाश्चात्य काव्य शास्त्र में आई.ए.रिचर्डस के ग्रंथ "प्रेक्टिकल क्रिटिसिज्म" में दिखाई देता है। भारतीय काव्य शास्त्र में रिचर्डस की धारणाएँ और मान्यताएँ हमें आनंदवर्धन के विचारों से मिलती-जुलती हैं। आनंदवर्धन नवीं शताब्दी के प्रारंभ के ध्वनिकार माने जाते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र को उनकी सबसे बड़ी देन उनका अर्थ विचार संबंधी वैज्ञानिक विवेचन है। 20वीं शताब्दी में पाश्चात्य आलोचक रिचर्डस ऐसा ही विवेचन "थ्योरी ऑफ मीनिंग" के संदर्भ में देते हैं। आनंदवर्धन ने अर्थ के दो भेद किए, वाच्य और प्रतीयमान जिसे रिचर्डस ने क्रमशः सांकेतिक और भावात्मक नाम से उद्बोधित किया। दोनों ही दृष्टियों में अर्थ के ये भेद भाषा के वैज्ञानिक और भावात्मक प्रयोग के आधार पर किए गए। शब्द के इस अर्थ भेद पर पाश्चात्य आलोचना में बहुत विचार मिलते हैं। वैसे तो पूरे भारतीय चिंतन में भी अलंकार संप्रदाय आदि में रूपवादी आचार्यों के लिए कई प्रेरणाएँ और आधार प्रदान करते हैं। भामह जैसे रूपवादी आचार्य ने अपने अलंकार सिद्धान्त के अंतर्गत अलंकार के दस गुणों—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पद-सौकुमार्य, अर्थ व्याप्ति, उदारता और कांति की चर्चा की और विशिष्ट-पद-रचना अर्थात् रीति अथवा शैली में इनका महत्व बताया। वास्तव में यह दृष्टि काव्य के रूपवादी अध्ययन को ही प्रारंभिक स्तर पर उभारती है। नाट्य शास्त्र में भी उपमा, रूपक, यमक अलंकारों की चर्चा और शैलियों में भी रूपवादी सिद्धान्तों का अनुमान हमें कुतक के विचारों से लग जाता है। कुतक ने अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त में यह मत व्यक्त किया कि "वक्रोक्ति ही शब्द और अर्थ दोनों का एकमात्र अलंकार है। उन्होंने वक्रता के छः प्रकारों की चर्चा की—वर्ण-विन्यास वक्रता, पद-पूर्वाह्न वक्रता, वाक्य वक्रता, प्रकरण वक्रता और प्रबंध वक्रता। उल्लेखनीय है कि वक्रता की यह चर्चा आधुनिक रूपवैज्ञानिक आलोचना में विचलन के सिद्धान्त (Theory of deviation) के नाम से की जाती है। यह स्पष्ट है कि साहित्य के अध्ययन के संदर्भ में अभिव्यजना के वैशिष्ट्य पर विचार करने की परम्परा भारतीय तथा पाश्चात्य चिंतनधारा में चिरकाल से रही है। अभिव्यजना की समस्या को भी दोनों ही धाराओं ने आलोचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना। एक प्रकार से देखा जाय तो भारतीय समीक्षा धारा में साहित्य-समीक्षा की समस्त पद्धतियाँ ही अभिव्यजना के प्रश्न पर आधारित हैं। रीति, वक्रोक्ति, अलंकार, शब्दशक्ति आदि सिद्धान्तों ने वस्तु पक्ष की तुलना में अभिव्यजना पद्धति को ही अधिक महत्व दिया है। रीति संप्रदाय तो पूरा का पूरा काव्य-रूपों से ही जुड़ जाता है। पाश्चात्य आलोचना दृष्टि में भी रूपतत्त्व और वस्तुपक्ष के अंतःसंबंधों की चर्चा विवाद का विषय रही है। अस्तु ने सबसे पहले इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया और उन्होंने तथा उनके कुछ अनुयायियों ने कला के लिए रूप तत्त्व को एक महत्वपूर्ण और आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार भी किया। उनके अनुसार वस्तुपक्ष स्वयं में पूर्ण नहीं होता बल्कि वह रूप तत्त्व के सहायक के रूप में कार्य करता है। इस दृष्टि में यह भी माना गया है कि वस्तुपक्ष स्वयं को रूपतत्त्व के अनुकूल परिवर्तित करने के लिए बाध्य है। वस्तुतः रूप वस्तुओं की निश्चित रूप से, रीति से की गई निश्चित संयोजना है। प्रारंभ में कला का इतिहास इस बाद का साक्षी रहा है कि वस्तु पक्ष और रूपतत्त्व में अभिन्न संबंध है। वस्तुपक्ष के साथ-साथ अभिव्यजना का रूप भी बदलता रहता है और साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। इसीलिए जब कभी अभिव्यक्ति का माध्यम बदला है अथवा साहित्यिक रूप का कोई नया स्वरूप सामने आया है तब उसके पीछे निश्चित ही वस्तुपक्ष परिवर्तन की शक्ति काम करती रही है। महाकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक आदि काव्य रूपों के चुनाव का आधार साहित्यकार के लिए मूलतः विषयवस्तु के किसी विशेष पक्ष की सार्थक अभिव्यक्ति ही रही है। अर्थात् यदि साहित्य के कथ्य में परिवर्तन होगा तो उसके रूप में भी अवश्य परिवर्तन होगा। इस प्रकार प्रारंभिक पाश्चात्य आलोचना दृष्टि में वस्तुपक्ष और रूपपक्ष की एकात्मक स्थिति और उनके अभिन्न संबंधों की चर्चा की गई और यह देखा गया कि वास्तव में रूप और वस्तु एक दूसरे की विरोधी वस्तुएँ नहीं हैं अपितु ये दोनों परस्पर आश्रित हैं और एक दूसरे के बिना इनका अस्तित्व संभव नहीं है। पाश्चात्य आलोचना दृष्टि में रूपवादी आलोचना के संकेत हमें कालरिज की पुस्तक 'बायोग्रेफिया लिटरेरिया' में मिलते हैं जिसमें उन्होंने कविता के रूप तत्त्व पर चर्चा की है। उनका यह मानना है कि कोई भी साहित्यिक कृति अपने अनुसार (in its own way) और अपने ही जीवन के अनुरूप (with its own kind of life) निर्मित होती है। आगे चलकर

यह रूपवादी दृष्टिकोण एक नया रूप लेता है और वस्तु से पृथक् भी रूप को देखने और रूप के माध्यम से ही वस्तु तक पहुँचने की बात करता है। इस दृष्टिकोण को कलावादी मत भी कहा गया है। जिसकी दृष्टि से "कला कला के लिए" या "काव्य काव्य के लिए" सिद्धांत आता है जो यह मानता है कि साहित्य और जीवन का कोई संबंध नहीं होता क्योंकि साहित्य में मंजुलता और कल्पना की रमणीयता होती है जबकि जीवन में कठोर संघर्षमय यथार्थता कलावादी मत में पाश्चात्य आलोचना सिद्धान्त में क्रोचे का नाम महत्वपूर्ण है। उनका यह मानना है कि सौन्दर्यगत तथ्य रूप है और रूप के सिवा कुछ नहीं है। इस दृष्टि से ही क्रोचे ने अपने "एस्थेटिक" नामक ग्रंथ में सौन्दर्यबोध के लिए कल्पना में विशिष्ट रूप के सहज ज्ञान (intuition) की सत्ता प्रतिपादित की तथा अभिव्यञ्जना के अतिरिक्त उन्होंने काव्य का कोई उद्देश्य स्वीकार नहीं किया। वास्तव में क्रोचे के इस सौन्दर्य-दर्शन ने कलावाद को एक दार्शनिक आकार दिया जो यह मानता है कि सौन्दर्य का कोई बाह्य अस्तित्व नहीं होता अर्थात् कला की प्रकृति बाह्य जगत से साम्य स्थापित करने या उसकी अनुकृति उपस्थित करने की नहीं होती बल्कि उसका अपना एक स्वतंत्र पूर्ण निरपेक्ष जगत होता है। इस दृष्टिकोण ने कला के विशेष नियमों के पालन को ही कला का कर्तव्य और सौन्दर्य माना। कला के इतर नियमों जैसे नैतिकता, धर्म, दर्शन आदि से इसका कोई संबंध उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

रूपवादी समीक्षा का प्रारंभ नई समीक्षा के नाम से अमरीका में होता है। आधुनिक आलोचना में इसके कई नाम प्रचलित हैं। सित्वर स्काट ने फार्मलिस्टिक के साथ साथ अन्य नामों टेक्सयुअल, ऐटोलाजिकल, एस्थेटिक और न्यूक्रिटिसिज़्म का भी उल्लेख किया है। डॉ. नगेन्द्र रूपवादी आलोचना को नई समीक्षा का पर्याय मानते हैं। नई समीक्षा जो अमरीका में फैली, उसका पौँचवें दशक तक काफी प्रचलन रहा पर रूपवादी आलोचना नई समीक्षा का पूर्ण पर्याय नहीं है क्योंकि जैसा पहले कहा गया, अपने आरंभिक स्तर पर रूपवादी आलोचना कलावाद के निकट थी। फिर इसका विस्तार रूसी फार्मलिज़्म के रूप में होता है और उसके बाद यह नई समीक्षा का समानार्थक बन जाती है लेकिन नई समीक्षा कोरा कलावाद या रूपवाद नहीं है।

इस बात को हम रूपवादी आलोचना की दृष्टि के संबंध को देखते हुए स्पष्ट ढंग से समझ सकते हैं। रूपवादी आलोचना यह स्वीकार करती है कि साहित्यिक कृति एक स्वतंत्र स्वायत्त रचना है। इस दृष्टि से आलोचना का प्रमुख दायित्व रचना की भाषिक व्याख्या करना होता है क्योंकि रचना "भाषा" में की जाती है और भाषिक विश्लेषण द्वारा ही उसके कथ्य तक पहुँचना रूपवादी आलोचना का लक्ष्य है। इस संदर्भ में कुछ प्रारंभिक विचारों को भी देखा जा सकता है जो रूपवादी आलोचना को उसके आगे के विकास को समझने के लिए सहायक हो सकते हैं। कालरिज ने यह माना था कि आलोचना का चरम उद्देश्य रचना के मूल्यांकन और नियम निर्धारण से कहीं अधिक लेखन के सिद्धांतों का व्यवस्थापन है। इसीलिए वे काव्य की सृजन-प्रक्रिया से परिचित होना आलोचक के लिए अनिवार्य मानते हैं और काव्य के बाह्य रूप तक ही सीमित दृष्टि को वे सफल आलोचक की दृष्टि नहीं मानते और इसीलिए वे आलोचना में कवि के जीवन को महत्व नहीं देते। इलियट ने भी आलोचना में कवि को नहीं, बल्कि काव्य को महत्व दिया (Honest but upon the Poetry criticism and sensitive apriation is directed not upon the poet) इसीलिए उन्होंने काव्य की संवेदना और बिंबों पर बल दिया है और तटस्थ आलोचना का पक्ष लेते हुए वस्तुनिष्ठ मानदण्ड स्थापित करने की बात उठाई है। रिचर्ड्स ने भी अपने विचारों में कुछ ऐसे मौलिक प्रश्नों को उठाया है जो रूपवादी आलोचना का आधार बनते हैं। उन्होंने सबसे अनुभूति और संप्रेषण को साहित्यालोचन में उपयोगी सिद्ध किया और भाषा के दो रूपों वैज्ञानिक और रागात्मक का निर्धारण करते हुए रागात्मक भाषा में वक्रता की चर्चा उठाई।

पाश्चात्य रूपवादी आलोचना को रूसी रूपवाद के विकास क्रम में 1916 के "रूपवाद" आन्दोलन से जोड़ कर देखा जा सकता है। यह आलोचना पद्धति "सिम्बालिस्ट" आन्दोलन पर टिकी है। यह आलोचनात्मक प्रक्रिया काव्य कृति को स्वायत्त और काव्य भाषा को अन्य भाषा रूपों से स्वतंत्र प्रमाणित करती है। रूसी रूपवाद का उद्देश्य साहित्यिक शैली की वैज्ञानिक परीक्षा करना तथा आम प्रतिमानों से हटकर पहचानने योग्य अन्य औजारों से इसकी परिभाषा करना था। इस दृष्टि ने भाषिक तत्वों अर्थात् ध्वनि, शब्द, वाक्य के उपयोग को सामान्य भाषा के रूप में भी देखा और यह कहा कि सामान्य भाषा में इनका उपयोग जिस प्रकार किया जाता है यदि उसी प्रकार इनका प्रयोग साहित्य में किया जाया तो यह अपेक्षित प्रभाव पैदा नहीं कर सकेगा। कवि जब इन भाषिक तत्वों को विकृत करता

है तभी रचना में लालित्य बोध उत्पन्न होता है अर्थात् रूसी रूपवाद काल या सामाजिक तत्वों से अधिक महत्व साहित्य के भाषिक स्वरूप को देता है। आगे चलकर रोमान्थाकोव्सन और शकलोवस्की जैसे आलोचकों ने रचना के भाषायी विश्लेषण द्वारा उसके अर्थ तक पहुँचने की प्रक्रिया की चर्चा की जिसके बाद साहित्यिक आलोचना में संरचनावाद विकसित हुआ।

इसी रूसी रूपवाद का विकास कालान्तर में होता है और इलियट जैसे आलोचक भी काव्यगत शिल्प और उसकी संरचना पर बल देते हुए यह स्वीकार करते हैं कि कलाकृतियों में बिंबों का महत्वपूर्ण संयोजन अधिक होता है, जीवन के वृत्तांतों या कवि के व्यक्तिगत संवेगों की अभिव्यंजना कम। इसीलिए वे यह घोषित करते हैं कि लेखक के व्यक्तित्व को रचना से अलग करके उसकी काव्य भाषा और उसकी विशिष्ट बुनावट (Texture) पर ध्यान केन्द्रित करना आलोचक का अभिष्ट होना चाहिए। रचना को उसके संरचनात्मक रूप में देखने की दृष्टि हमें रिचर्ड्स में भी मिलती है जिन्होंने आलोचना में अर्थ विज्ञान (Semantics) की पद्धति का विस्तार करते हुए कविता की भाषा और संरचना में रुचि दिखाई और कहा कि कविता की भावात्मक (emotive) भाषा विज्ञान की निर्देशात्मक (repensial) भाषा से भिन्न होती है। इसके बाद रैनसम (सन् 1948) तक पहुँचते-पहुँचते रूपवादी आलोचना लक्षणबद्ध हो जाती है। रूपवादि आलोचकों में कुछ बिंदुओं पर अन्तर्विरोध है लेकिन आलोचनात्मक दृष्टिकोण और पद्धतियों के विषय में इनके मत एक हैं कि कविता को कविता के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए जिसकी अपनी एक स्वतंत्र सत्ता है। इलियट के शब्दों में कविता मूलतः कविता है, कोई दूसरी चीज़ नहीं और रैनसम के अनुसार "आलोचना का पहला नियम यह है कि उसे वस्तुपरक (objective) होना चाहिए उसे वस्तु की प्रकृति का हवाला देना चाहिए और साथ ही कृति की स्वायत्तता को स्वीकार करना चाहिए।

रूपवादी आलोचना का सर्वाधिक बल साहित्य के माध्यम अर्थात् भाषा पर है इसीलिए यह आलोचना दृष्टि आलोचना में विषयवस्तु की सहायता लेती है। इसके कारण ही इसकी आलोचना भी की जाती है कि यह आलोचना दृष्टि कृतिकार के जीवन की बात नहीं उठाती, तत्कालीन सामाजिक वातावरण की परवाह नहीं करती पाठकों पर कृति के मनोवैज्ञानिक-नैतिक या अन्य प्रभावों को भी आलोचना के अंदर नहीं आने देती।

23.4 सारांश

संक्षेप में कहा जाए तो रूपवादी समीक्षा का सिद्धान्त मूलतः भाषिक (Verbal) है अर्थात् भाषा ही यहाँ साध्य भी है और साधन भी इसीलिए इस आलोचना दृष्टि में साहित्यिक भाषा को एक विशेष प्रकार की भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है और यह माना गया है कि भाषा का रूप (Structure) किसी न किसी प्रकार का अर्थ (meaning) ही है (Brooks)। इसके साथ ही रूपवादी आलोचना कला को एक नियम के रूप में और आलोचना को एक काव्य कृति के वैज्ञानिक विश्लेषण के रूप में देखती है। वह अभिप्राय को सबसे अधिक महत्व देती है और अभिप्राय को संरचना में ही निहित मानती है। इसीलिए संरचना के आकार के बिना रचना के अभिप्राय को समझ पाना इस दृष्टि में संभव नहीं है। रूपवादी आलोचना अभिप्राय के नाम पर कविता के बाहर स्थित आलोचनात्मक दृष्टिकोणों (Extra Literary Seematism) की सहायता लेने को अनुचित मानती है। काव्यवस्तु भाषाबद्ध है, इसलिए भाषा निरपेक्ष साहित्य विश्लेषण को यह आलोचना दृष्टि अधूरा और अवैज्ञानिक घोषित करती है।

23.5 पारिभाषिक शब्द और अंग्रेजी पर्याय

रूपात्मक	Formalistic
गीति	Lyric
अभिव्यंजना	Expression
वस्तु	Content

23.6 अभ्यास

23.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न

1. रूप पक्ष और वस्तु पक्ष के संबंधों पर विचार कीजिए।
2. रूपवादी आलोचना की प्रमुख स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए।
3. विधापरक आलोचना की प्रमुख विशेषताओं को रेखांकित कीजिए।

23.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

1. महाकाव्य के प्रमुख लक्षणों के साथ हिन्दी के कुछ महाकाव्यों का उल्लेख कीजिए।
2. रूपवादी आलोचना की सीमाओं का उल्लेख कीजिए।
3. सिचर्डस और आनंदवर्धन के अर्थ संबंधी विचारों को प्रस्तुत कीजिए।
4. वक्रोक्ति सिद्धांत की विशेषताएँ बतलाइए।

23.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: वस्तुपक्ष और रूपपक्ष के संबंधों पर विचार कीजिए।

उत्तर: पाश्चात्य आलोचना दृष्टि में रूपतत्त्व और वस्तुपक्ष के अतः संबंधों की चर्चा विवाद का विषय रही है। अरस्तू ने सबसे पहले इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया और उन्होंने तथा उनके कुछ अनुयायियों ने कला के लिए रूप तत्त्व को एक महत्वपूर्ण और आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार भी किया। उनके अनुसार वस्तुपक्ष स्वयं में पूर्ण नहीं होता बल्कि वह रूपतत्त्व के सहायक के रूप में कार्य करता है। इस दृष्टि में यह भी माना गया है कि वस्तुपक्ष स्वयं को रूपतत्त्व के अनुकूल परिवर्तित करने के लिए बाध्य है, वस्तुतः रूप वस्तुओं की निश्चित रूप से, रीति से की गई निश्चित संयोजना है। प्रारंभ में कला का इतिहास इस बात का साक्ष्य रहा है कि वस्तुपक्ष और रूप तत्त्व में अभिन्न संबंध है। वस्तुपक्ष के साथ-साथ अभिव्यंजना का रूप भी बदलता रहता है और साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। इसीलिए जब कभी अभिव्यक्ति का माध्यम बदला है अथवा साहित्यिक रूप का कोई नया स्वरूप सामने आया है तब उसके पीछे निश्चित ही वस्तुपक्ष में परिवर्तन की शक्ति काम करती रही है। महाकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक आदि काव्य रूपों के चुनाव का आधार साहित्यकार के लिए मूलतः विषयवस्तु के किसी विशेष पक्ष की सार्थक अभिव्यक्ति ही रही है। अर्थात् यदि साहित्य के कथ्य में परिवर्तन होगा तो उसके रूप में भी अवश्य परिवर्तन होगा। इस प्रकार प्रारंभिक पाश्चात्य आलोचना दृष्टि में वस्तु पक्ष और रूप पक्ष की एकात्मक स्थिति और उनके अभिन्न संबंधों की चर्चा की गई और ये देखा गया कि वास्तव में रूप और वस्तु एक दूसरे की विरोधी वस्तुएँ नहीं हैं अपितु ये दोनों परस्पर आश्रित हैं और एक दूसरे के बिना इनका अस्तित्व संभव नहीं है। पाश्चात्य आलोचना दृष्टि में रूपवादी आलोचना के संकेत हमें कॉलरिज की पुस्तक "बायौग्राफिया लिटरेरिया" में मिलते हैं जिसमें उन्होंने कविता के रूपतत्त्व पर चर्चा की है, उनका यह मानना है कि कोई भी साहित्यिक कृति अपने अनुसार (in its own way) और अपने ही जीवन के अनुरूप (with its own kind of life) निर्मित होती है। आगे चल यह रूपवादी दृष्टिकोण एक नया रूप लेता है और वस्तु से पृथक् भी रूप को देखने और रूप के माध्यम से ही वस्तु तक पहुँचने की बात करता है। इस दृष्टिकोण को कलावादी मत भी कहा गया है।

23.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर (125 शब्दों में)

प्रश्न: महाकाव्य के प्रमुख लक्षणों के साथ हिन्दी के कुछ महाकाव्यों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर: विधा की दृष्टि से महाकाव्य पर भारतीय आलोचना में वैचारिक चिंतन मिलता है। महाकाव्य को उदात्त, उत्कृष्ट, पूर्ण और प्रभावशाली माना गया है। इसके लक्षण के रूप में व्यापकता, विशाल जीवन की विविध दृश्यावली, महान चरित्र, व्यक्ति, युग और संस्कृति के उद्घाटन को स्थान दिया गया है। ये लक्षण हमें भारतीय शास्त्रकारों द्वारा भी प्राप्त होते हैं। इसके बाह्य लक्षणों के रूप में प्रधान रूप से कथावस्तु की ऐतिहासिकता और संगठन, नायक की महानता या उच्चता, वर्णन की परिपूर्णता, सर्गों का विस्तार और रस निष्पत्ति को स्वीकार किया गया है। हिन्दी महाकाव्यों में इन लक्षणों के साथ आलोचकों ने रामचरित मानस, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, हल्दीघाटी, रश्मिरेखी और उर्मिला को स्थान दिया है।

23.8 पठनीय पुस्तकें

- | | |
|----------------------------------|---|
| 1. आलोचनात्मक दृष्टियाँ | - स. श्रीवास्तव, उदयभानुसिंह, हरभजनसिंह, नेशनल, दिल्ली। |
| 2. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका | - डॉ. नगेन्द्र, नेशनल, दिल्ली। |
| 3. साहित्य आलोचना | - डॉ. शिवदान सिंह चौहान, नेशनल, दिल्ली। |

इकाई-24: कविता: परिभाषा, तत्व और प्रकार

- 24.0 विषय प्रवेश
- 24.1 उद्देश्य
- 24.2 पाठ परिचय
- 24.3 मूलपाठ
 - 24.3.1 परिभाषा
 - 24.3.2 काव्य के तत्व
 - 24.3.3 कविता के प्रकार
- 24.4 सारांश
- 24.5 शब्दार्थ
- 24.6 अध्ययन
 - 24.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 24.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 24.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 24.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 24.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

24.1 उद्देश्य

इस पाठ में कविता की परिभाषा, तत्व और उसके प्रकार पर प्रकाश डाला गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- 'कविता क्या है?'- इस पर विचार कर सकेंगे।
- काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- काव्य के विभिन्न तत्वों की विवेचना कर सकेंगे।
- काव्य के प्रकार पर प्रकाश डाल सकेंगे।

24.2 पाठ परिचय

प्रस्तुत पाठ के अन्तर्गत काव्य के संबंध में व उसके महत्व व लक्षणों के बारे में बताया गया है। काव्य जीवन की अभिव्यक्ति है। जीवन की यात्रिकता को रसमय बनाने के लिए, जीवन-मूल्यों को सही अर्थों में व्यक्त करने के लिए काव्य की महत्वपूर्ण भूमिका है। जीवन में रस और सौन्दर्य की अनुभूति काव्य ही करवाता है। काव्य का सत्य चिरन्तन होता है। लोकमंगल व शिव तत्व का समावेश काव्य के माध्यम से जीवन में होता है। काव्य का उद्देश्य विशुद्ध मनोरंजन करना नहीं है अपितु सरसता और मनुष्यता का संचार करना है। वस्तुतः कविता संसार की भावधाराओं में एकता स्थापित कर लोक-भावना का प्रतिनिधित्व करती है। भावना एवं अभिरुचि के मध्य समन्वय स्थापित कर, कविता मानवीय सत्य तथा सौन्दर्य की उपयुक्त उद्भावना कर, सीमा में निस्सीम तथा विशेष में निर्विशेष के दर्शन कराती है। काव्य की रचना मानव-भावनाओं के सम्यक्-विकास से होती है। सहृदयों को लोकोत्तरानन्द प्रदान करने में भी काव्य की सार्थकता है।

24.3 मूल पाठ

कविता ही मनुष्य मात्र को उदात्त भूमि की ओर ले जाती है। कविता द्वारा मनुष्य अपने संकुचित दायरों को तोड़, लोक सामान्य भूमि पर आकर मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार करता है व उसके हृदय में निश्छल, निष्कपट, शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। मनुष्य अपने 'स्व' को विस्मृत कर लोक में डूब जाता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है। मनुष्य का हृदय भावनाओं का आगार है। ये ही भावनाएँ, जगत के साथ तादात्म्य का अनुभव कराती हैं। मनुष्य के मनोविकारों का परिष्कार जब शुद्ध मार्मिक अनुभूतियों के धरातल पर होता है, तभी जगत के साथ उसका रागात्मक संबंध स्थापित होता है। मनुष्य-हृदय का जगत के साथ रागात्मक संबंध उसके आत्म-विस्तार का परिचायक है। मुक्तिबोध के शब्दों में 'कवि हृदय फैलना चाहता है, आत्म-विस्तार करना चाहता है।'

हृदय का उदार होना या आत्म-विस्तार का संबंध मानव-इन्द्रियों से है। दृष्टि देखती है, हृदय अनुभव करता है और भावानुकूल प्रतिक्रिया मनुष्य को संवेदनशील या विरोधी प्रकृति का बनाती है। इस दृष्टि से देखा जाय तो सामान्य मनुष्य से अलग अतिरेकी संवेदना ही कवि या कलाकार को विशिष्ट बनाती है। इन्द्रिय-बोध से ही मनुष्य का आरंभ होता है और स्व-चेतना तक पहुँचकर ही मानवीकरण के एक निश्चित सोपान तक वह पहुँचता है। स्व-चेतना और मानवीकरण के बीच हुए व्यापार की अभिव्यक्ति जिस शब्द-विधान का आधार लेती है, वही कविता है।

यह बात स्पष्ट है कि कविता की जन्मभूमि संवेदना है। संवेदना का संबंध मनुष्य हृदय से है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह जिस समाज में रहता है, वहीं उसकी चेतना और बोध विकसित होते हैं। जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि कवि-कलाकार में अतिरिक्त प्रतिभा होती है। कवि की दृष्टि विशिष्ट होती है। कवि कलाकार में सामान्य को असामान्य व साधारण को असाधारण रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है। कवि अपनी कल्पनाओं को वास्तविकता में जीता है। इसलिए जिस विषय को वह चुनता है, उसको सक्षम एवं प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है। कवि की अभिव्यक्ति करने का क्षण ही उसका कौशल है। कविता का सृजन करने वाले कवि की ध्यन्वालोकाकार ने ब्रह्मा से अधिक श्रेष्ठ माना है। ब्रह्मा, प्राणियों के कर्मानुसार ब्रह्मांड की रचना करता है और कवि को ऐसा कोई बंधन नहीं होता। उसकी रुचि ही, उसकी सृष्टि का निर्धारण करती है:

'अपारे काव्य संसारे कवि के प्रजापतिः।
यथास्मे रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।'

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि कवि ही प्रजापति होता है। उसके लिए समस्त जगत रस-भाव से सम्पन्न है। कवि जब वस्तु में अंतर्निहित तत्व को कविता के माध्यम से अभिव्यक्त करता है तो वह पाठक के हृदय में रस का संचार करता है।

24.3.1 परिभाषा

कविता को समझने की चेष्टा का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कविता का इतिहास। किसी भी तथ्य को समझने के लिए ही परिभाषा गढ़ी जाती है। परिभाषा पहले से ही तैयार नहीं की जाती है। व्याध के बाण से आहत क्रौंच के लिए विलाप करती हुई क्रौंची के करुण-क्रन्दन को सुनकर जब आदिकवि वाल्मीकि ने कहा:

'मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीसमाः
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।'

तब उनके सामने कोई परिभाषा नहीं थी। परिभाषा एक शास्त्रीय-परम्परा है। इसका संबंध काव्य-शास्त्र से है और नियम-विधान से। शास्त्र का अर्थ है शासन करना। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने इस संबंध में कहा है- 'काव्य का अनुशासन ही काव्य शास्त्र है।'

कविता की परिभाषा किस प्रकार की जा सकती है। काव्य-रचना का प्रत्येक सार्थक प्रयास सर्जनात्मक होगा। सर्जनात्मिकाशक्ति का संबंध सदैव 'नवता' (नवीन) से रहता है। इस स्थिति में किसी भी प्रकार की परिभाषा काव्य की कसौटी पर खरी नहीं उतर सकती। डॉ. बलदेव उपाध्याय ने गहन-विमर्श के पश्चात् कविता संबंधी अवधारणा को इस प्रकार परिभाषित किया- 'कविता का मूल स्रोत भावाभिव्यक्ति है। कवि के हृदय में उद्बलित होनेवाले भावों को शब्दों के द्वारा प्रकट करनेवाली वस्तु का ही नाम कविता है। भावों का संबंध हृदय से होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है- 'कविता हृदय-व्यापार है।'

आधुनिक युग में 'हृदय के व्यापार' को अस्वीकार किया गया। नयी कविता आदि आन्दोलनों में कविता के लिए भावाबोधों को अनावश्यक माना गया। ('कविता में भावावेग या रोमाण्टिक मनःस्थिति का होना अनिवार्य नहीं।')

संस्कृत में प्रायः 'काव्य' शब्द से गद्य और चंपू का बोध होता है। साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए कभी गद्य का माध्यम ग्रहण किया जाता है, कभी पद्य की प्रणाली और कभी गद्य-पद्य के सम्मिश्रण द्वारा यह कार्य किया जाता है। सामान्य तौर पर कविता को पद्य से जोड़कर देखा जाता है। कविता में 'अनुभव' पर बल दिया जाता है, जो किसी भी परिभाषा में बँध नहीं पाता।

कविता को समझने के लिए फिर भी परिभाषाएँ गढ़ी जाती रही हैं और गढ़ी जाती रहेंगी। क्योंकि मनुष्य जगत को और स्वयं को समझना चाहता है। मनुष्य देशकाल से बँधा होता है और उसकी समझ भी। इसलिए कविता क्या है? प्रश्न का उत्तर हमें देशकाल के अनुरूप ही वैविध्यपूर्ण मिलता है। उदाहरणस्वरूप पाश्चात्य विद्वान काव्य-कला को पाँच ललित कलाओं में से एक मानते हैं। वस्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला के समान ही काव्य-कला भी एक कला है। कला को परिभाषा में बँधने के प्रयत्न में, काव्य को सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति कहा गया है।

भारतीय चिन्तन में काव्य-संबंधी अवधारणा अलग ही है। यहाँ काव्य को कला नहीं माना गया है। राजशेखर ने कला को 'उपविद्या' कहा है और काव्य को 'सकल विधा स्थानों का एकायतन पन्द्रहवीं स्थान' कहा है।

पश्चिमी विद्वान भी भारतीय मत को स्वीकारने लगे हैं। कार्लशेपिरो ने, हजारी प्रसाद द्विवेदी की पूर्वोक्त विचारधारा के अनुसार ही 'कविता क्या नहीं है?' "What is not - Poetry?" नामक अपने प्रसिद्ध निबन्ध में भाषा को कविता का कच्चा माल कहा है और काव्य में प्रयुक्त शब्द को 'अशब्द' (Not word) कहा है। काव्य-भाषा नहीं है, भाषा, काव्य का कच्चा माल है। काव्य में शब्द उस अर्थ में 'शब्द' नहीं होता, जिस अर्थ में हम उस शब्द को जानते हैं, वह 'अशब्द' होता है। "Poetry is not language, its raw material is language the word in Poetry is not a word in any already existing sense and I call it not word (1)"

(1) Poet is work, Karl Shapiro, Article "What is Poetry"? - P.No. 97.

कविता को अमूर्त ढंग से समझने की चेष्टा नहीं की जानी चाहिए। आदिकाल में कविता, रंगभूमि की ललकार होता थी, भक्तिकाल में कविता, प्रार्थना, रीतिकाल में प्रेम व श्रृंगार तथा आधुनिक काल में चीख और क्रोध का रूप धारण कर अभिव्यक्त होती है। आचार्य विश्वनाथ ने आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व कहा था 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है' और आज एक समर्थ हिन्दी कवि धूमिल- 'कविता सबसे पहले एक सार्थक वक्तव्य होती है' तथा कविता भाषा में आदमी होने की तमीज़ है' -- कहकर कविता को नये ढंग से व्याख्यायित व परिभाषित करता है।

कविता एक साहित्य-रूप है। साहित्य-सहित से बना है- 'रमणीयता उत्पन्न करने में जब शब्द और अर्थ एक-दूसरे से स्पर्द्धा करते हुए साथ-साथ आगे बढ़ते रहें, तो ऐसे परस्पर स्पर्द्धारत शब्द और अर्थ का जो साथ-साथ रहना होता है, वही साहित्य या काव्य कहा जाता है।'

भारत में कवि को ऋषितुल्य माना गया है। 'कवयः क्रान्त दर्शिनः।' - कवि का मूल अर्थ है द्रष्टा, इन्द्रियों से अगोचर तत्वों का साक्षात्कार करनेवाला व्यक्ति।

पश्चिम में भी कुछ इसी तरह की अवधारणा हम देखते हैं। कवि को Vates कहा जाता था, जिसका अर्थ दैवी-प्रेरण प्राप्त एक सिद्ध पुरोहित माना जाता था। (A priestly and god inspired seer) प्रसिद्ध कवि होमर द्वारा प्रस्तुत, उपलब्ध चित्रों में कवि को दिव्य-पुरुष और पैगम्बर के समान दिखलाया गया है।

अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता की सूचक कला होती है। यदि बाद में कविता को कला माना गया तो वह भी सांस्कृति विशिष्टता की बोधक है। कविता वस्तुतः एक मानवीय व्यवहार है। मानव एक सामाजिक व सांस्कृतिक प्राणी है। उसके प्रत्येक व्यावहारिक का एक सामाजिक संदर्भ होता है और एक सामाजिक भूमिका भी।

कवि भी समाज का एक सदस्य होता है। संस्कृति-भेद और युग-परिवर्तन के अनुसार उसके काव्य-व्यवहार की सामाजिक भूमिका भी परिवर्तित होती है। कवि की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होना ही इसका प्रधान कारण होता है। भारतीय आचार्यों ने तो कवि की स्थिति को सदैव ही विशिष्ट माना है। मम्मट जैसे महान काव्य-शास्त्री ने काव्य को परिभाषित करते हुए कहा है 'लोकोत्तरवर्णना निपुण कवि कर्म' (काव्य लोकोत्तर वर्णन में निपुण कवि का कर्म होता है।) भारत में कवि को सृष्टिकर्ता से श्रेष्ठ माना गया है।

24.3.2 काव्य के तत्व

डॉ. श्यामसुन्दर दास ने काव्य में तीन प्रधान तत्व माने हैं। इन तत्वों के अभाव में कविता का सृजन असंभव है। वैसे तो भाव व भाषा-शैली काव्य के अनिवार्य उपकरण हैं किन्तु भाव-तत्व के अन्तर्गत ही बुद्धितत्व या विचारतत्व का भी समावेश हो जाता है। इन सभी को दृष्टि में रखते हुए डॉ. श्यामसुन्दरदास ने निम्नलिखित तत्वों की मान्यता प्रदान की है।

1. बुद्धितत्व: वे विचार, जिनका उपयोग कलाकार अपने विषय के प्रतिपादन में करता है।
2. रागात्मक तत्व: वे भाव जो कवि-हृदय में काव्य-विषय को जागृत करते हैं। कवि के हृदय में उत्पन्न भाव, पाठक के हृदय को भी रससिक्त करना चाहते हैं।
3. कल्पना तत्व: मन में किसी विषय का चित्र अंकित करने की शक्ति, जिसे कवि इस सशक्त ढंग से अभिव्यक्त करता है कि सहृदय के समक्ष एक चित्र सा उपस्थित हो जाता है।

डॉ. भगीरथ मिश्र ने भी शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना, बुद्धि शैली आदि को काव्य के तत्व माना है।

4. शब्द तत्व: अलंकारों का शब्दमय चमत्कार, विविध वृत्तियों का नियोजन, शब्द चयन से उत्पन्न पद की एक विशेष गति और प्रवाह, संगीतमयता आदि शब्द-तत्व के विविध रूप हैं। शब्द की गति दो प्रकार की होती है- 1. साधारण, 2. नर्तन। कवि को शब्द की पहचान होती है। इसलिए चेतनावस्था में प्रयुक्त शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द नहीं रखा जा सकता। यह शब्द-तत्व की अनिवार्यता है।

अर्थ-तत्व:

अर्थ के कारण ही काव्य की सत्ता स्थापित होती है। 'अर्थ', भाव तथा कल्पना का वाहन और सत्य का स्वरूप है। अर्थ को व्यक्त करने के लिए अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तीन प्रमुख शक्तियाँ मानी गयी हैं। काव्य का पूर्ण सौन्दर्य तब होता है जब शब्द, अर्थ, बुद्धि, भाव, कल्पना सभी का चमत्कार एक साथ उपस्थित हो।

भाव-तत्व:

भाव कवि की कल्पना का प्रेरक है। काव्य में भावानुभूतियों का अपना एक अस्तित्व होता है। भाव, मनोवर्गों को बाहर लाते हैं। भावों की अभिव्यक्ति, दूसरों के हृदय में भी भावोद्देक करती है। भाव-तत्व कविता के सौन्दर्य को प्रकट करने वाला है।

कल्पना-तत्व:

आकार व रूप की सृष्टि कल्पना ही करती है। साधारण-सी वस्तु कल्पना के हाथों में आकर सँवर और निखर जाती है। कल्पना ही कविता को चित्रमय, बिम्बात्मक बनाती है। जीवन के अनुभव और ज्ञान को एक निश्चित राय या रूप प्रदान करना कल्पना का प्रसार है। 'जिस प्रकार भाव की अनुभूति आनन्दमयी है, उसी प्रकार कल्पना का रंग भी मधुर व आकर्षक है। वास्तव में कल्पना की सामर्थ्य ही कवि की प्रतिभा है। पाश्चात्य मत में प्रतिभा को कल्पना का पर्याय माना गया है।

बुद्धि-तत्व:

बुद्धि का कार्य, काव्य सृजन में बहुत महत्वपूर्ण योगदान देने वाला है। भाव, कल्पना, शब्द आदि का प्रयोग औचित्यपूर्ण हो, इसका निर्णय बुद्धि ही करती है। काव्य-प्रकारों में प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत जिस प्रकार से (महाकाव्य की) योजना की जाती है उसमें बुद्धि के विचारतत्व का प्रभाव ही मुख्य है।

उपर्युक्त तत्वों का विवेचन काव्य-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। काव्य में 'रस', रमणीयता, अलंकार सत्य और सौन्दर्य की प्रतीति, कल्पना, अनुभूति इन सभी के समंजन की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुतः उपर्युक्त सभी तत्व आत्मा को साकार शरीर देनेवाले हैं।

काव्य तत्वों का विवेचन करने के पश्चात् काव्य के भेदों पर विचार करना समीचीन होगा, जिन्हें हम इस प्रकार विवेचित कर सकते हैं।

24.3.3 कविता के प्रकार (विभाजन, अथवा भेद)

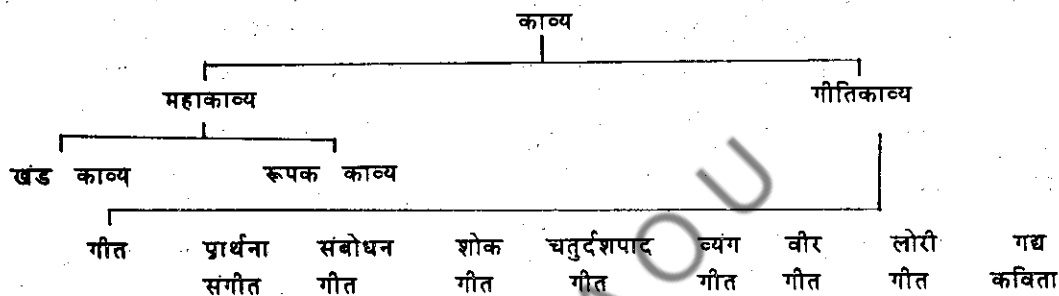
कवि की रचनात्मकता विषय एवं विषयी से संबंधित है। विषयी अर्थात् स्वयं रचनाकार या कवि जो ब्रह्माण्ड की सार्थकता को परिवेशगत घात-प्रतिघातों में समंजन कर स्थापित करता है। अपने चारों ओर बिखरी प्रकृति की विपुल राशि को वह देखता है। प्रकृति ही रचनाकार की प्रेरणा है। उसी से प्रेरित होकर कवि या कलाकार अनुभवों को अनुभूति में ढालता हुआ, अभिव्यक्ति के स्तर तक आता है। श्यामसुन्दरदास जैसे विद्वान का मत इस सदर्भ में अधिक उचित प्रतीत होता है कविता को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं— एक तो वह जिसमें कवि अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभावों से प्रेरित होता है तथा अपने प्रतिपाद्य विषय ढूँढ़ निकालता है, और दूसरा वह अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्य और रागों में पैठता है जो कुछ ढूँढ़ निकालता है, उसका वर्णन करता है।

इस संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी कहा है कि विषय प्रधान काव्य में, कवि बहिर्जगत में स्वयं को लीन करके अपने बाहर रहनेवाली वस्तु (विषय) में सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है चूकि वह अपने को (विषयी को) ही प्रकट करता है इसीलिए ऐसे काव्य को विषयी-प्रधान काव्य कहा जाता है।

बाबू गुलाबराय ने पाश्चात्य परम्परा में काव्य के प्रथम प्रकार को अनुकृत (Narrative) कहा है और महाकाव्य व खण्ड काव्य को इसके उपविभाग बताया है।

विषयी-प्रधान काव्य को व्यक्तित्व प्रधान अथवा आत्माभिव्यंजक कविता कह सकते हैं। इस प्रकार की कविता भावात्मक कहलाती है। कवि अपने भावों की अभिव्यंजना में वस्तुतः मानव जाति के भावों को ही अभिव्यंजित करता है। ऐसी कविता सामान्य भावव्यंजना से भी ऊपर उठकर, चिंतन का रूप धारण कर लेती है। किन्तु बाह्य विषयात्मक कविता का कवि के विचारों या मनोभावों से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता। वह बाह्य जगत् को आंतरिकीकृत करते हुए, अपनी कविता का विषय ढूँढ़ लेता है। बाह्य-विषयात्मक कविता में कवि अंतर्हित रहता है पर भावात्मक कविता में वह प्रत्यक्ष हो जाता है।

विषय प्रधान कविता के कई भेद उपभेद हो सकते हैं। पर उनमें खण्ड काव्य और महाकाव्य प्रधान माने गये हैं। डॉ. इन्द्रनाथ चौधुरी ने चित्र के आधार पर काव्य के भेदों को इस प्रकार स्पष्ट किया है:



उपर्युक्त चार्ट में जितने रूपों का उल्लेख किया गया है, उन सबका काव्य-शास्त्रियों ने उल्लेख किया है।

प्रबन्ध और मुक्तक:

हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में जब भी प्रबन्ध और मुक्तक की बात होती है, शुक्लजी की यह उक्ति अवश्य ही उद्धृत की जाती है- 'यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।' इसका कारण बताते हुए शुक्लजी ने मुक्तक को, प्रबन्ध के समान रसधारा युक्त नहीं बताया है। प्रबन्ध के अन्तर्गत कथा, प्रबन्ध की सरसता पाठक के हृदय में एक स्थायी प्रभाव डालती है।

भारतीय काव्य चिन्तकों ने महाकाव्य के स्वरूप पर गंभीर चिन्तन करते हुए उसके लक्षण निर्धारित किये हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध काव्यशास्त्री भामह ने महाकाव्य के लक्षणों का इस प्रकार उल्लेख किया है 'महाकाव्य सर्गबन्ध होता है। महानता को निर्देशित करता है। उसमें निर्दोष शब्दार्थ, अलंकार और सद्वस्तु होनी चाहिए। विचार-विमर्ष, इटा, प्रयाण, युद्ध, नाटक का अभ्युदय ये पाँच संधियाँ हों। चतुर्वर्ग आदेश, लोक-स्वभाव का वर्णन और सभी रसों का पृथक् चित्रण हो। किसी के उत्कर्ष हेतु नायक के कुल, बल, शास्त्र-वर्णन आदि का हनन नहीं करना चाहिए।

दण्डी के अनन्तर आनन्दवर्धन, भोज और विश्वनाथ आदि आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षणों का उल्लेख किया है किन्तु आचार्य विश्वनाथ के द्वारा निर्धारित महाकाव्य का जो स्वरूप निश्चित किया गया है, उसमें पूर्वोक्त आचार्यों की मान्यताएँ भी आ जाती हैं। महाकाव्य का स्वरूप इस प्रकार है:

1. महाकाव्य सर्गबद्ध होता है, सर्ग आठ होने चाहिए, जो न छोटे हों न बड़े। सर्ग के अन्त में भावी कथा की सूचना रहती है। सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन आवश्यक है। सर्ग का नामकरण भी होना चाहिए।
2. काव्य का एक नायक होता है। उसमें निम्न गुण आवश्यक हैं।
क) शूरवीर, ख) उच्चकुलोत्पन्न, ग) क्षत्रिय, घ) धीरोदात्त आदि।
3. रस: महाकाव्य में शृंगार, वीर और शांत में से एक रस मुख्य होना चाहिए। अन्य रस अंगरूप में होने चाहिए।
4. कथावस्तु ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध होनी चाहिए।
5. धर्म अर्थ, काम, मोक्ष-पुरुषार्थ-चतुष्टय में से किसी एक की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।
6. वस्तु संगठन, नाट्य संधियाँ, की योजना आवश्यक है।
7. आरंभ में मंगलाचरण आवश्यक है।
8. सज्जन प्रशंसा व खल निन्दा की आवश्यकता है।
9. प्रकृति वर्णन जीवन के रमणीय प्रसंगों की योजना होनी चाहिए।
10. महाकाव्य का नाम, नायक अथवा वस्तु के आधार पर होना चाहिए।

महाकाव्य के उपर्युक्त लक्षणों में, कथा, नायक, रस प्रमुख व अन्य गौण लक्षण माने गये हैं। जिनमें चरित्र-चित्रण व संवाद भी हैं। वस्तुतः महाकाव्य ही एक ऐसी काव्य रचना है जिसमें एक क्रमबद्ध कथासूत्र रहता है। रस प्रवाह रहता है और पाठक या सहृदय को बोध लेने की क्षमता होती है।

पाश्चात्य धारणा:

1. महाकाव्य में अनुकरण हो और वह भी समाख्यानक क्योंकि इसमें कथा का समावेश होता है इसलिए यह आवश्यक है।
2. महाकाव्य की वस्तु में Unity of Action होना चाहिए। कथावस्तु का, आदि, मध्य और अन्त सुस्पष्ट और सुसम्बद्ध, होना चाहिए।
3. इसमें अधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक कथा का होना आवश्यक है क्योंकि इससे मुख्य कथा को विस्तार मिलता है।
4. महाकाव्य में ऐतिहासिकता के साथ कल्पना का बाहुल्य रहे।
5. कवि को असंभव घटनाओं से दूर रहना चाहिए।
6. इसमें जीवन के विविध-चित्र हों क्योंकि सम्पूर्ण जीवन इसमें समाहित होता है।
7. पात्र महान होने चाहिए क्योंकि औत्सुक्य और अद्भुत तत्व का सम्मिश्रण को आकर्षक व सरस बनाता है।
8. भाषा अलंकृत, साथ ही अत्यधिक क्रान्तिमयी हो तथा विचार या चरित्र का अभिव्यंजन इस प्रकार हो कि सहृदय को सम्प्रेषित हो सके।
9. महाकाव्य का उद्देश्य मनोरंजन करना है और इसका कारण कलात्मक अनुकृति है।

भारतीय और पाश्चात्य महाकाव्य-लक्षण-संबंधी-अवधारणाओं-में सम्प्रति बौद्धिक जागरण के कारण निरंतर परिवर्तन आ रहा है। आजकल के महाकाव्यों में कला व घटनाओं की अपेक्षा विचारों और भावों का अधिक विस्तार है। यही कारण है कि आधुनिक महाकाव्यों में चारित्रिक दृढ़ता, लौकिक

बुद्धिवाद, विषयवस्तु की महत्ता, नवीन उद्भावनाएँ, मानवतावादी व्यापक दृष्टिकोण, शब्दशक्तियों में से लक्षण व्यंजना का महत्व, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर चरित्र-चित्रण आदि तत्व विशेष रूप से, उभरकर सामने आये हैं।

खण्डकाव्यः

संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत खण्ड काव्य जैसी कोई विधा नहीं है। भाषा एवं दण्डी ने तो कहीं इस बात का उल्लेख तक नहीं किया है। किन्तु रूद्रट ने प्रबन्ध काव्य के दो विभाजन, महाकाव्य एवं लघुकाव्य नाम से किये हैं। आचार्य विश्वनाथ ने प्रथमतः खण्डकाव्य का संक्षिप्त विवरण दिया है। डॉ. त्रिगुणायत ने उपरोक्त विचार के आशय को इस प्रकार व्यक्त किया है।

1. जीवन के किसी एक पक्ष का चित्रण किया जाता है।
2. रूप और आकार में महाकाव्य से छोटा होता है।
3. कुछ अन्य विशेषताएँ— प्रभावान्विति, वर्ण, प्रवाह आदि।

इन लक्षणों के अतिरिक्त जो विशेष अन्तर महाकाव्य एवं खण्ड काव्य में लक्षित होता है, उसमें सीमित पात्र होते हैं— संवाद, देशकाल-वातावरण की भी संक्षिप्त, रोचक, स्वाभाविक और परिस्थिति के अनुकूल योजना होती है। इसके अंतर्गत भी उदात्त मानवीय संवेदनाओं का प्रकाशन होता है।

भाषा-शैली में कलात्मकता व गरिमा होनी चाहिए। सरलता, सजीवता, स्वाभाविक अलंकरण एवं प्रवाह होना चाहिए। भावानुकूल, छन्द-विधान, खण्डकाव्य में सौन्दर्य की वृद्धि करता है।

मुक्तक काव्यः

इसके अन्तर्गत भावों का प्राधान्य होता है। कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों का प्राधान्य रहता है। मुक्तक एवं प्रबन्ध काव्य में मूल अन्तर यही होता है कि प्रबन्ध काव्य, कवि की किसी महत्वपूर्ण आकांक्षा, किसी भी कथा की नये संदर्भों से युक्त बौद्धिक व्याख्या और शिल्प-कौशल-चेतना का परिणाम है किन्तु मुक्तक, कवि की नवीन भावुकता, समाज-चेतना और भाषा विधायिनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति है।

आचार्य शुक्ल ने मुक्तक की तीन विशेषताओं की चर्चा की है:

1. एक रमणीय मार्मिक खंड-दृश्य का सहसा आनयन।
2. चयन, संयम और मंडन की प्रवृत्ति।
3. कुछ क्षणों के लिए चमत्कृत कर देनेवाला प्रभाव।

इनके अतिरिक्त मुक्तक-काव्य के संबंध में अन्य बातों का उल्लेख कई विद्वानों ने किया है। मुक्तक में सरसता, व्यंग्य, प्रयोग में प्रवीणता, कल्पना की समाहार शक्ति, भावों को कल्पना से प्रभावशाली रूप में सजाना, शब्द-प्रयोग में दक्षता, मार्मिक दृश्यों का चयन, सम्प्रेषण की क्षमता आदि अनिवार्य हैं। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने मुक्तक में नाद-सौन्दर्य व रसमग्न करने की शक्ति पर अधिक बल दिया है। जिस रचना का लगाव पूर्वापर किसी दूसरी रचना से नहीं होता वह अनुबन्धहीन स्वतः अर्थ द्योतक में मुक्तक कहलाती है।

गीतिकाव्यः

महादेवी वर्मा के शब्दों में 'साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख दुःखात्मक अनुभूती का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।'

डॉ. श्यामसुन्दरदास की दृष्टि में 'गीतिकाव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है। बाह्य जगत को अपने अन्तःकरण में ले जाकर उसे अपने भाव में रंजित करता है उसमें शब्दसाधना के साथ स्वर (संगीत) की साधना होती है।'

भारतीय एवं पाश्चात्य मत के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'गीतिकाव्य या प्रगीत कवि की वह निजी सुख-दुःखमयी तीव्र संकल्पात्मक भावानुभूति का कोमल शब्दावली में सीमित उच्छ्वास है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय एवं संगीतात्मक होता है।

इस प्रकार गीतिकाव्य के लिए सात तत्व आवश्यक माने जाते हैं:

1. भावप्रवणता: करुणा के भाव या स्रोत माना गया है।
2. भावाभिव्यक्ति: गीत सृजन के मूल में कवि की निजी सुख-दुःखमयी अभिव्यक्ति रहती है।
3. सौन्दर्यमयी कल्पना: यह आत्मा की अनुभूति का व्यक्ति रूप है। कवि अपनी अनुभूतियों को मार्मिक सौन्दर्यमयी कल्पना के द्वारा व्यक्त करता है। रूप-विधान, बिम्ब, प्रतीक, उपमान आदि के प्रयोग से अपनी कृति में कवि अपूर्व सौन्दर्य का सृजन करता है।
4. संक्षिप्त आकार: इसमें खण्ड अनुभूतियों को व्यक्त किया जाता है यह अनुभूति संक्षिप्त किन्तु सघन व मार्मिक होती है।
5. संगीतात्मकता अथवा गेयता: गीतिका सहज स्वाभाविक रूप उसकी गेयता व समीक्षात्मकता में है। उसकी प्रभाव-शक्ति भी इससे बढ़ती है। श्रेष्ठ गीत गेय है।
6. कोमलकांत पदावली और भावान्विति: गीतिकाव्य में कोमल व करुण भावनाएँ रहती हैं, इसलिए भावों के अनुसार शब्द चयन आवश्यक है। सौन्दर्य, प्रवाह, कलात्मक भाव शैली में मार्मिक अनुभूति को शब्दबद्ध किया जाता है।

गीतिकाव्य में वीर गीत, शोकगीत, करुण एवं सम्बोधनगीत, चतुर्दशपदी (Sonnet), व्यंग्यगीत, उपालम्भनीय रूपक गीत तथा लोकगीत आदि अनेक भेद मिलते हैं।

निष्कर्ष रूप में काव्य संबंधी सम्पूर्ण विवेचन इस बात की पुष्टि करता है कि कविता भले ही विभिन्न विचार, भावानुभूति, सौन्दर्यानुभूति, कलात्मकता, प्रभाव-सम्प्रेषण सबको सहज रूप से आत्मसात् करती हुई आज तक प्रवाहित है और रहेगी किन्तु मानव-संस्पर्श और मानवीय अनुभूतियों तथा मानव-जीवन ही उसका उत्स है। कविता को किसी परिभाषा, किसी भी वाद, तत्व या प्रकारों में बाँधना कठिन है। मानव-बोध से जुड़ी कविता, प्रकृति के परिवेश के समस्त घात-प्रतिघातों को साथ लिए सतत प्रवाहित है। कवि-कलाकार जो कि निश्चित ही मनुष्य है, काव्य को विभिन्न रूप व आकार देता है। संवेदना के सौँचे में ढालकर सहृदय को प्रभावित करने की क्षमता मात्र काव्य में ही है और रहेगी। काव्य ही वस्तुतः मानव भावनाओं को सही अर्थों में सम्प्रेषित करने की क्षमता रखता है।

24.4 सारांश

कविता हृदय की मार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। कलाकार हृदय की संवेदनात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए जिन शब्दों को आधार बनाता है, वही कविता कहलाती है।

कविता, संवेदना और दुःख की जमीन पर जन्म लेती है। दुःखः मनुष्य को सहृदय, समझदार व उदार बनाता है। इसीलिए जो कुछ भी कवि लिखता है वह सहृदय को प्रभावित करता है। कवि भी अपने आपको भूलकर लोक कल्याण में डूब जाता है। उसके विचार मनोविकारों को दूर कर सहृदय में रागात्मक बोध जगाते हैं। इसीलिए आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में कहा है कि कवि ब्रह्मा से भी अधिक श्रेष्ठ है। ब्रह्मा कर्म के अनुसार सृष्टि रचता है और कवि अपनी रुचि के अनुसार।

कलाकार अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए शब्द को आधार बनाता है। शब्द, अर्थात्कृत होते हैं। इन अर्थों को कल्पना से बुद्धि सजाती है। कवि की प्रतिभा साधारण को असाधारण निष्प्रभ को प्रभायुक्त बना देती है।

भारतीय आचार्यों ने काव्य की आत्मा 'रस' को माना है। 'रस' का प्रवाह ही सहृदय को लोकोत्तर आनन्द प्रदान करता है।

निष्कर्ष रूप में सभी विचारक काव्य का केन्द्रीय बिन्दु सौन्दर्य को मानते हैं और सौन्दर्य-बोध ही आनन्द की कसौटी है। इस संदर्भ में 'रस' आह्लाद ही तो है।

काव्य की आत्मा को शरीर रूप देने में जिन पंच-तत्वों का योगदान रहता है, वे शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना और बुद्धि हैं। इन सबके साथ अभिव्यंजना शक्ति है जो प्राणों के रूप में संचरित होती है। भारतीय मत के अनुसार प्रतिभा काव्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। यह प्रतिभा पाश्चात्य-विचारकों के अनुसार 'कल्पना' ही है।

काव्य के विभिन्न भेदों में हम उपर्युक्त विशिष्टताओं को प्रतिफलित होता हुआ देखते हैं। प्रबन्ध काव्य, खण्ड काव्य, मुक्तक काव्य तथा गीति-काव्य आदि काव्य के प्रमुख भेद हैं।

गीति-काव्य में गीत, प्रार्थना गीत, संबोधन गीत, शोक गीत, चतुर्दशपद गीत, व्यंग्य गीत, वीर गीत, लोरी, गद्य कविता आदि उपभेद माने गये हैं। इन विविध प्रकारों के माध्यम से कवि अपने उद्देश्य को काव्यात्मक ढंग से अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

24.6 अभ्यास

24.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न

1. कविता किसे कहते हैं, परिभाषा देते हुए समझाइए।
2. कविता के तत्वों का विवेचन कीजिए।
3. प्रबन्ध काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

24.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न

1. खण्ड काव्य और प्रबन्ध काव्य में क्या प्रमुख अन्तर होता है- सोदाहरण समझाइए।
2. मुक्तक काव्य की विशेषताएँ बताइए।
3. काव्य के प्रमुख प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

24.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

24.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर (250 शब्दों में)

प्रश्न: कविता के तत्वों का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर: काव्य रचना, तत्वों के अभाव में संभव नहीं है। हमारे यहाँ भारतीय आचार्यों ने, रमणीयता, शब्द और अर्थ, रस, ध्वनि अलंकार, रीति, प्रतिभा, कल्पना, शैली आदि को काव्य-तत्वों के रूप में स्वीकार किया है। 'प्रतिभा' को ही 'कल्पना' का पर्याय माना गया है। काव्य के अन्तर्गत प्रमुख रूप से चार-पाँच तत्वों को प्रधानता दी गयी है।

शब्द-तत्व: इसमें भाषा-सौन्दर्य हेतु संगीतात्मकता, चित्रात्मकता, पद की एक विशेष जाति व प्रवाह को प्राथमिकता दी जाती है। शब्द साधारण भी होते हैं व चमत्कार उत्पन्न करनेवाले भी, जिन्हें 'नर्तन' भी कहा जाता है। जैसे:

मोतियों जड़ी ओस की डार
हिला जाता चुपचाप बयार।

अर्थ-तत्व: अर्थ को व्यक्त करने के लिए शब्द-शक्ति का सहारा लिया जाता है। ये शक्तियाँ हैं-अभिधा, लक्षण, व्यञ्जना। अर्थ, भाव, कल्पना का वाहन और सत्य का स्वरूप है।

भाव-तत्व: कल्पना तत्व, कविता के भावों में तीव्रता व सौन्दर्य की सृष्टि करता है। जीवन के अनुभव और ज्ञान को एक निश्चित रूप प्रदान करना कल्पना का ही कार्य है। कल्पना जितनी अधिक सशक्त होगी, कवि की प्रतिभा उतनी ही अधिक सामर्थ्यशील होगी।

बुद्धि-तत्व: बुद्धि सम्पूर्ण काव्य सृष्टि की धुरी है। वह औचित्य में भेद उत्पन्न कर, औचित्य का सृजन करती है। समाज, राष्ट्र व सम्पूर्ण विश्व को दिशादृष्टि देती है। कवि, बुद्धिजीवी होता है। संवेदनात्मक भावों के द्वारा वह सहृदय को प्रभावित करता है। इसलिए बुद्धि तत्व का, काव्य सृष्टि में महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

रागात्मक बोध: यह मानव मन की आह्लाद व संवेदना से भर देता है। जब तक करुणा नहीं होगी, रागात्मकता जगेगी नहीं। कवि व सहृदय के बीच यही बोध सेतु बनाया है।

इस प्रकार हम देखते हैं, काव्य-सृजन इन तत्वों के कारण ही रूपाकार ग्रहण करता है।

24.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: मुक्तक काव्य की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर: काव्य के विभिन्न प्रकारों में एक भेद मुक्तक काव्य है। इसमें भावों की प्रधानता रहती है। कवि अपनी निजी भावनाओं को बड़े रुचिकर किन्तु स्वस्थ ढंग से अभिव्यजित करता है।

मुक्तक एवं प्रबंध काव्य में सबसे बड़ा अन्तर कथा का होता है। प्रबंध काव्य में एक कथा होती है। जबकि मुक्तक काव्य में कवि की नवीन भावुकता, समाज-चेतना और भावों को चित्रित करने का प्रभावशाली ढंग रहता है।

आचार्य शुक्ल जी ने मुक्तक की तीन विशेषताएँ बतायी हैं।

1. मनमोहनेवाले छण्ड - दृश्य का आनयन।
2. चयन करना, मंडन करना और संयम की प्रवृत्ति।
3. कुछ समय के लिए चमत्कृत कर देनेवाला प्रभाव।

इसके अतिरिक्त अन्य कई विद्वानों ने मुक्तक के संबंध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। मुक्तक में सरसता होनी चाहिए। कल्पना को सुन्दर भावों व शब्दों में व्यक्त करने की क्षमता, संप्रेषण की क्षमता आदि अनिवार्य है। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने मुक्तक में नाद-सौन्दर्य व रसमग्न करने की शक्ति पर अधिक जोर दिया है।

मुक्तक का प्रयोग छोटे-छोटे भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति के लिए प्रायः होता है। हम प्रसाद जी की पंक्तियों में मुक्तक के सौन्दर्य को देख सकते हैं।

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन में औसू बनकर
वह आज बरसने आई।

इसमें पीड़ा की गहराई को मार्मिकता के साथ व्यक्त किया गया है।

24.5 शब्दार्थ

यात्रिकता	: मशीनी
समन्वय	: मिलाना
लोकोत्तर	: लोक से आगे, परे
आगार	: भंडार
अंतर्निहित	: भीतर छिपा हुआ
सर्जनात्मक	: रचनात्मक
भावाभिव्यक्ति	: भावों को कहना, बाहर निकालना
अवधारणा	: विचार
स्पर्द्धा	: होड़, प्रतियोगिता
विशिष्ट	: सबसे अलग, विशेष अनुपम
अस्तित्व	: वर्तमान, स्थित
पर्याय	: विकल्प, मिलता हुआ
समीचीन	: उचित
बहिर्जगत	: संसार, बाहर जो सृष्टि दिखाई देती है।
कृत्य	: कार्य
आनयन	: उपस्थित, प्रकट, समक्ष लाना
क्षमता	: शक्ति
उत्कर्ष	: प्रगति, उन्नति
खल निन्दा	: दुष्ट या दुर्जन की बुराई करना
अधिकारिक	: प्रमुख, मुख्य
सम्प्राप्ति	: अन्य वर्तमान
औत्सुक्य	: उत्सुकता
अलंकृत	: सजा हुआ
रोचक	: रुचिपूर्ण
प्रवीण	: कुशल, दक्ष

अनुकृत	: नकल किया हुआ, अनुकरण
भावान्वित	: भावों से युक्त
परिवेश	: परिधि
निष्प्रभ	: प्रकाशहीन
चंपू-काव्य	: जिसमें गद्य और पद्य का मिश्रण
आन्तरिकीकृत	: आत्मसाद करना, पूरी तरह भीतर व बाहर को समजित करना

24.8 पठनीय पुस्तकें

1. काव्यशास्त्र : डॉ. भगीरथ मिश्र
2. चिन्तामणि भाग-1 : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
3. समीक्षात्मक निबंध : डॉ. सुरेश गुप्त
4. भारतीय काव्य-शास्त्र : डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी
नयी व्याख्या
5. भारतीय साहित्य-शास्त्र : डॉ. बलदेव उपाध्याय
6. साहित्य-सहचर : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
7. साहित्यालोचन : डॉ. श्यामसुन्दर दास
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

BRAOU

इकाई-25: उपन्यास: परिभाषा, तत्व, प्रकार और विकास

- 25.0 विषय प्रवेश
- 25.1 उद्देश्य
- 25.2 पाठ परिचय
- 25.3 मूल पाठ
 - 25.3.1 परिभाषा
 - 25.3.2 तत्व
 - 25.3.3 प्रकार
 - 25.3.4 विकास
- 25.4 सारांश
- 25.5 पारिभाषिक शब्दावली
- 25.6 अभ्यास
 - 25.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)
 - 25.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)
- 25.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 25.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 25.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 25.8 पठनीय पुस्तकें

25.1 उद्देश्य

- प्रस्तुत पाठ में साहित्य की विधा उपन्यास पर विचार किया गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:
- उपन्यास के स्वरूप पर प्रकाश डाल सकेंगे।
 - उपन्यास की परिभाषा को रेखांकित कर सकेंगे।
 - उपन्यास के तत्वों को समझ सकेंगे।
 - उपन्यास के प्रकारों को जान सकेंगे।
 - उपन्यास के विकास को रेखांकित कर सकेंगे।
 - उपन्यास के महत्व को समझ सकेंगे।

25.2 पाठ परिचय

उपन्यास साहित्य की एक विशिष्ट विधा है। गद्य साहित्य के पाठकों के लिए उपन्यास ही सबसे अधिक चित्ताकर्तक व मनोरंजक विधा है। इसकी लोक प्रियता साहित्य जगत का सबसे बड़ा तथ्य है। 'साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है'— इस साहित्यिक कथन की सबसे अधिक अनुभूति पाठकों को उपन्यास के द्वारा ही होती है। उपन्यास में जीये जाने वाले जीवन की कथा होती है तथा उस जीवन को जीने वाले पात्रों का वर्णन होता है। इसीलिए पाठक सहज रूप से उस जीवन तथा वातावरण में तन्मय होकर एक प्रकार से अद्भुत आनन्दमय तादात्म्य अनुभव करता है।

25.3 मूलपाठ

25.3.1 परिभाषा

उपन्यास गद्य में होता है। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने छन्द के बंधन से मुक्त रचना को गद्य कहा है। दण्डी ने चरण रहित पद समूह को गद्य माना है। इसी के दो मुख्य भेद माने गये हैं:

(1) आख्यायिका तथा (2) कथा

आख्यायिका ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध पात्रों के संबंध में होती है जबकि कथा काल्पनिक होती है। 'हर्ष चरित' आख्यायिका है और 'कादम्बरी' कथा। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि 'काव्य-आख्यायिका से उपन्यास और उपन्यास से बोलती तस्वीरों तक का इतिहास बहुत ही दिलचस्प और आकर्षक है।' किसी युरोपीय विद्वान का मत है कि सारे संसार में भारत वर्ष से ही कथाएँ गई हैं। अतः एवं कथा को साहित्य का एक सबल रूप व एक लोकप्रिय प्रकार माना गया है।

उपन्यास शब्द उप+नि+अस् से बना है, जिसका अर्थ है पास मिलाकर युक्ति युक्त अर्थ में रखना या उपस्थापन करना। वस्तुतः उपन्यास वह रचना है, जिसमें जीवन के अनेक पक्षों का प्रक्षेपण निकट या समीप से किया गया हो।

उपन्यास को वास्तव में नाट्यशास्त्र में वर्णित 'अभि संधि' का काव्य भेद मान सकते हैं। उपन्यास की व्याख्या उसमें इस प्रकार से की गई है: उपपत्ति कृतोत्तार्यः उपन्यसः प्रकीर्तितः' अर्थात् किसी अर्थ को उसके युक्तियुक्त अर्थ में प्रस्तुत करने को ही उपन्यास कहते हैं। इसके अलावा 'उपन्यास प्रसादनम्'— इस प्रकार की और काव्य व्याख्या मिलती है, जिसके अनुसार प्रसन्नता प्रदायक कृति ही उपन्यास है। किंतु आज उपन्यास शब्द के अन्तर्गत गद्य द्वारा अभिव्यक्त सम्पूर्ण कल्पना-प्रस्तुत कथा साहित्य को गृहीत किया जाता है।

उपन्यास की परिभाषा देते हुए मुन्शी प्रेमचन्द कहते हैं: 'मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।' इस परिभाषा में हम देखते हैं कि मानव जीवन और मानव-चरित्र को ही उपन्यास का केन्द्र और मूलाधार माना गया है।

बाबू श्याम सुन्दर दास ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए बड़ी मार्फ की बात कही है। उनके अनुसार 'उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।' उपन्यास और कहानी के तत्व समान होते हुए भी ये दोनों दो भिन्न विधाएँ हैं। उपन्यास में न केवल काव्य तत्व घटनाओं का विस्तार है और न केवल अनेक पात्रों तथा समस्याओं का चित्रण एवं निरूपण होता है, अपितु, वह वास्तव में जीवन की समग्रता का व्यापक एवं विशद चित्रण है। उसकी तुलना में कहानी जीवन के किसी एकाध पहलू, दो-तीन पात्र या एकाध समस्या को ही काल्पनिकता से प्रस्तुत करती है। प्रेमचन्द के शब्दों में उपन्यास वन या उपवन के समान है, जबकि कहानी गमले का पौधा है जो अपने में स्वतंत्र, पूर्ण और विशिष्ट है। उपन्यास कितना भी छोटा हो, उसे कहानी नहीं कहा जा सकता। तत्पर्य वह उपन्यास के शिल्प-विधान से युक्त होने के कारण लघु उपन्यास है। कहानी कितनी भी लम्बी क्यों न हो, उसे उपन्यास या लघु उपन्यास नहीं कहा जा सकता बल्कि वह 'लम्बी कहानी' (Long Short Story) कही जाएगी।

बाबू गुलाबराय ने उपन्यास की बड़ी वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक परिभाषा देते हुए कहा है: 'उपन्यास कार्य-कारण श्रृंखला में बंधा हुआ। वह गद्य-कथानक है, जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेची दगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से संबंधित वास्तविक-काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मक ढंग से उद्घाटन किया जाता है।

25.3.2 तत्व

उपन्यास के तत्व कुल मिलाकर छः माने जाते हैं, जो इस प्रकार हैं:

- (1) कथावस्तु (2) चरित्र चित्रण (3) कथोपकथन
- (4) देश, काल तथा वातावरण (5) उद्देश्य (6) शैली

(1) कथावस्तु:

इसे कथानक भी कहते हैं जो घटनाओं से निर्मित होता है। घटनाएँ ही उपन्यास के कलेवर का निर्माण करती हैं। ये ही घटनाएँ उपन्यास के जिस अंश में संपादित होती हैं, उस अंश को कथावस्तु कहते हैं। कथावस्तु का उपन्यास में वही स्थान होता है जो कि शरीर में हड्डियों का। कथावस्तु की महत्ता और उसकी अनिवार्यता को स्पष्ट करते हुए अंग्रेजी आलोचक एडविन म्योर कहते हैं: 'उपन्यास कला में प्रयुक्त होने वाले साधनों में कथानक ही सर्वमान्य एवं अधिक स्पष्ट है।' उपन्यास का ढाँचा कथानक के आधार पर ही खड़ा रहता है। एडविन म्योर के अनुसार 'शृंखलाबद्ध घटनाएँ और वह आधार जिसके द्वारा वे सम्मिलित की जाती हैं, कथानक है।'

कथावस्तु दैनिक वास्तविक जीवन के आधार पर गढ़ी हुई होनी चाहिए, उसे सम्भाव्य और प्रतीतिकार होना चाहिए, उसमें मौलिकता का निर्वाह होना चाहिए, उसे रोचक होना चाहिए तथा सबसे बढ़कर उसे शृंखलाबद्ध, सुसंगत एवं क्रमबद्ध होते हुए पाठक के कौतूहल को बढ़ाते रहना चाहिए।

25.3.3 चरित्र-चित्रण

उपन्यास के दूसरे तत्व 'चरित्र-चित्रण' को भी प्रदान एवं अनिवार्य तत्व माना जाने लगा है। डॉ. बेचन के अनुसार 'उपन्यास केवल घटनाओं का वर्णन या चरित्रों का चित्रण ही नहीं है, अपितु, वह तो साहित्य की एक ऐसी कलापूर्ण रचना है, जिसे कलाकार घटना और चरित्र के ईट-गारे से कल्पित जीवन के नक्शे पर खड़ा कर सौ सौ कर्म की सृष्टि करता है और उसके द्वारा समाज को अधिक उपयोगी एवं सुखमय नवीन जीवन का संदेश देने की चेष्टा करता है।' चरित्र-चित्रण की महिमा इस सत्य से स्पष्ट हो जाती है कि उपन्यास के कथानक में पात्रों से ही जीवन आता है, जीवन्तता आती है, जिसके परिणाम स्वरूप पाठक पात्रों के साथ तादात्म्य का अनुभव करने लगता है। कथानक की अपेक्षा पात्र ही अमर हो जाते हैं। कथानक को हम समय के साथ भूल सकते हैं, जबकि पात्र याद रह जाते हैं। चरित्र-चित्रण ही कथा का मेरदण्ड है। वस्तुतः चरित्र-चित्रण वह आधार है, जिस पर कथा का महत्व खड़ा किया जाता है।

उपन्यासकार चरित्र-चित्रण के द्वारा मानव-मन के सूक्ष्मतत्त्व रहस्यों को प्रस्तुत कर मानव-मन को विकासोन्मुख दिशा तथा दृष्टि प्रदान करता है। वह चरित्र-चित्रण अनेक प्रकारों से करता है, कभी स्वयं अपनी ओर से कहकर, कभी एकान्त में चलने वाली सोच विचार की प्रक्रिया से तो कभी घटनाओं से; कभी पात्रों से स्वयं कहलवाकर तो कभी पात्रों के संबंध में अन्य पात्रों की बातचीत से; कभी पत्र-लेखन, डायरी-लेखन आदि से। चरित्र भी दो प्रकार के होते हैं- 1. स्थिर और 2. विकसनशील। स्थिर चरित्र उपन्यास में आदि से अन्त तक एक ही प्रकार की प्रकृति के होते हैं, जबकि विकसनशील चरित्र परिस्थितियों के साथ क्रमशः विकसित होते रहते हैं। चरित्र-चित्रण की पद्धति भी आजकल बिल्कुल बदली हुई व मनोवैज्ञानिक है। पहले कुछ पात्र केवल दैवी (अच्छे) होते थे और कुछ पात्र केवल असुर (बुरे)। अब पात्रों में मिली-जुली प्रवृत्तियाँ और मनोवृत्तियाँ दिखलायी जाती हैं। चरित्र-चित्रण कौशल ही उपन्यासकार को प्रसिद्ध रूप अमर बना देता है।

25.3.4 कथोपकथन

उपन्यास का तीसरा तत्व कथोपकथन है। इस तत्व का महत्व इस अर्थ में है कि इसी तत्व से उपन्यास जीवनी या इतिहास प्रतीत न होकर रोचक व मनोरंजक लगता है। उपन्यास में पायी जाने वाली स्वाभाविकता एवं सजीवता का आधार यही तत्व है- कथोपकथन। इसी कारण उपन्यास के पात्र जीते-जागते, चलते-फिरते, बोलते-सोचते जीवन्त व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इस तत्व से रोचकता भी बढ़ती है। कई गौण घटनाओं का संकेत व सन्निवेश कथोपकथन के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है। चरित्र-चित्रण के लिए भी यह तत्व बड़ा सहायक सिद्ध होता है। कथोपकथन को पत्रानुकूल होना चाहिए। कथोपकथन की भाषा-शैली सहज, स्वाभाविक, चलती हुई व मूहावरे दार होनी चाहिए। बहुत लम्बे या नाटकीय कथोपकथन अस्वाभाविक होने से कथा के प्रवाह में बाधक तथा उपन्यास की रोचकता के लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। कथोपकथन कथा के प्रवाह को बनाए रखने वाले होने चाहिए तथा कथा को आगे बढ़ने वाले होने चाहिए। कथोपकथन से ही उपन्यास में सजीवता आती है। कथोपकथन को वास्तव में उपन्यास का स्पंदन या प्राण माना जा सकता है।

25.3.5 देश, काल तथा वातावरण

देश, काल तथा वातावरण उपन्यास का चौथा महत्वपूर्ण तत्व है। सभी पात्रों का जीवन किसी देश, काल तथा उससे संबंधित सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक वातावरण से जुड़ा रहता है। देश-काल के आचार विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज, वातावरण, आमोद-प्रमोद के साधन, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य आदि का चित्रण-निरूपण उपन्यास में सत्य का तथा यथार्थ का आभास उत्पन्न करता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में तो इस तत्व का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। आंचलिक उपन्यास में भी इसका महत्व अपेक्षाकृत अधिक ही होता है।

साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब होने से, चित्रित समाज तथा समाज का निरूपण होना अत्यावश्यक व अनिवार्य है। किंतु देश, काल तथा वातावरण का वर्णन वही तक उचित एवं सुसंगत है जहाँ तक वह कथा-प्रवाह में सहायक एवं पूरक सिद्ध हो। युगीन चेतना तथा समस्याओं का निरूपण उपन्यास को एक नया सहज रंग देता है।

25.3.6 उद्देश्य

उद्देश्य उपन्यास का पाँचवाँ तत्व है। यद्यपि साहित्यिक मनोरंजन भी उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य होता है परंतु इसके साथ-साथ जीवन के आदर्श या यथार्थ का निरूपण व संकेत, जीवन की व्याख्या, ज्वलंत समस्याओं और उसके प्रति जीवन-दृष्टि, समस्याओं का समाधान, सामाजिक जागृति, मानवीय-मूल्यों की प्रतिष्ठा, चित्त वृत्तियों का संस्कार, मानव-मन का उष्णीकरण (Sublimation) इत्यादि भी उपन्यास के उद्देश्य होते हैं। किंतु यह सब सहज रूप से प्रस्तुत होना चाहिए; कलात्मक संकेतों से प्रतिपादित होना चाहिए। प्रचारात्मक या उपदेशात्मकता के आ जाने से नीरसता आ जाती है और ऐसा होने पर उपन्यास के भीतर के साहित्य तत्व की आत्मा अवरुद्ध-सी, मृत-सी हो जाती है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और उसके द्वारा मानव-मन के गहन तथ्य स्तरों की व्यापक ही आजकल के उपन्यासों का प्रमुख उद्देश्य है।

25.3.6 शैली

शैली उपन्यास का छठा व अन्तिम तत्व है। शैली के कारण ही उपन्यास अन्य विधाओं से भिन्न व विशिष्ट प्रतीत होता है। उपन्यास लिखने की एक विशेष शैली होती है और उस शैली में उपन्यास के शिल्प विन्यास के सारे तत्व सन्निहित होते हैं। कथावस्तु का गहन, चरित्र-चित्रण की खूबियाँ, देशकाल और वातावरण का निरूपण, कथोपकथन की स्वाभाविकता एवं सजीवता तथा उद्देश्य की सांकेतिकता एवं कलात्मकता— ये सब शैली पर निर्भर हैं। शैली सभी तत्वों में व्याप्त है। इसीलिए शैली को शरीर की त्वचा या आत्मा के समान माना गया है। उपन्यास की शैली के अतिरिक्त प्रत्येक उपन्यासकार की भी अपनी एक खास शैली होती है, जिससे वह पहचाना जाता है। जैसे— प्रेमचंद-शैली इत्यादि। उपन्यास में आनेवाली वर्णनात्मक शैली, आत्मकथात्मक शैली, पत्रात्मक शैली, डायरी शैली इत्यादी को भी शैली तत्व के अन्तर्गत ही माना जाता है। शैली की तुलना जो त्वचासे की जाती है वह यथार्थ ही है क्योंकि जैसे त्वचा से ही हम पहचाने जाते हैं, औरों से भिन्न प्रतीत होते हैं तथा अपना निजीपन पाते हैं, वैसे ही शैली से उपन्यास व उपन्यासकार पहचाने जाते हैं, औरों से भिन्न प्रतीत होते हैं तथा अपना रूप खास निजीपन पाते हैं। शैली के अन्तर्गत उपन्यास की भाषा, रोचकता, प्रवाहमयता इत्यादि अपने आप आ जाते हैं। शैली आदि से अन्त तक अपना रंग दिखाती है, अपना प्रभाव जमाये रखती है। उपन्यासकार व उपन्यास के चरित्र जो अमर हो जाते हैं, वह इसी शैली के कारण। इस प्रकार शैली भी उपन्यास का अति महत्वपूर्ण तत्व है। बल्कि शैली को ही प्रधान तत्व माना जा सकता है।

25.3.7 प्रकार

उपन्यासों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। उद्देश्य, कथानक, चरित्र, शैली, देशकाल तथा वातावरण के आधार पर उपन्यासों के कई प्रकार हो सकते हैं। जैसे— वर्णनात्मक या आत्मकथात्मक, घटना प्रधान या चरित्र प्रधान, आदर्शवादी या यथार्थवादी, सामाजिक, ऐतिहासिक या जासूसी, मनोवैज्ञानिक या समस्यामूलक, आंचलिक या सांस्कृतिक, लघु उपन्यास आदि।

25.3.7 विकास

साहित्य-जगत में उपन्यास का प्रादुर्भाव क्रांतिकारी माना गया। उसने दृश्य काव्य (नाटक) एवं श्रव्य काव्य (महाकाव्य) की लोकप्रियता को मत कर दिया। उपन्यास की लोक प्रियता सर्व विदित एवं सर्वमान्य है।

इस लोक प्रियता का प्रमुख कारण है, उसके भीतर का मनोरंजन तत्व। अन्य कारणों में मुद्रण कला का अविष्कार और पुस्तक पठन की प्रवृत्ति का विकास आदि को मान सकते हैं। उपन्यास यथार्थ परक होने से जीवन के अधिक निकट प्रतीत होने लगे। मध्यम वर्ग का उपन्यास में जो सहज-स्वाभाविक चरित्र निरूपण होने लगा, इसने भी उसे और अधिक लोक प्रिय बना दिया। अपने समय पर, कहीं भी अपनी सुविधा से पढ़ा जा सके, ऐसा उपन्यास देखते-देखते साहित्यकी सभी विधाओं में सर्वाधिक लोक प्रिय हो गया। माध्यम व साधन का 'नाटक'। किंतु नाटक का आनंद देखने में ही अधिक हो सकता है। इस आनंद को पाने के लिए प्रेक्षकों को एक निश्चित, निर्धारित स्थान व समय पर ही पहुँचना पड़ता था। नाटक प्रस्तुत करने वालों के लिए भी वह व्यय एवं परिश्रम-साध्य था। उपन्यास के साथ ये बंधन नहीं। एकान्त में उपन्यास को पढ़ने का आनंद निश्चित ही नाटक देखने से अधिक है। पुस्तकालय की सुविधा ने इस आनंद को सर्व सुलभ बना दिया।

हिन्दी उपन्यास प्राचीन 'कथा-आख्यायिका' की परम्परा में होते हुए भी अंग्रेजी नॉवेल (Novel) से अधिक प्रभावित है इसमें कोई संदेह नहीं। बंगला भाषा में शुरू से ही नॉवेल के लिए उपन्यास शब्द प्रचलित हुआ। सन् 1856-57 में एक नॉवेल बंगला भाषा में प्रकाशित हुआ जिसका नाम था 'ऐतिहासिक उपन्यास' और जिसके लेखक थे भूदेव मुखोपाध्याय। बंगला साहित्य के इतिहासकारों ने इसी को प्रथम उपन्यास माना है। भूदेव मुखोपाध्याय ने स्वयं भी लिखा कि 'अंग्रेजी नॉवेल के अनुकरण पर एक कथा में मैंने बंगला में लिखी है।' इस से पूर्व कथा, कहानी, आख्यायिका, उपाख्यान आदि शब्द ही उपन्यास के लिए प्रचलित थे। इस प्रथम उपन्यास के प्रकाशक के साथ 'उपन्यास' शब्द प्रचलित हो गया। हिन्दी में उपन्यास शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग शायद सन् 1871 में 'मनोहर उपन्यास' नामक एक संपादित उपन्यास के लिए हुआ था। मराठी में उपन्यास को 'कादम्बरी' कहते हैं, गुजराती में 'नवलकथा' तथा तेलुगु में 'नवला'।

हिन्दी उपन्यास के विकास का इतिहास प्रेमचन्द-पूर्व युग, प्रेमचन्द-युग एवं प्रेमचन्दोत्तर युग के नाम से प्रसिद्ध है। प्रेमचन्द पूर्व युग में हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यास आते हैं जो या तो घटना-वैचित्र्य एवं मनोरंजन तत्व से लबालब भरे पड़े हैं या फिर आदर्शवाद से कूट-कूट कर भरे गये हैं। हिन्दी का प्रथम उपन्यास किसे माना जाय इसके लिए विद्वानों की अलग-अलग राय है। काफी समय तक ईशा अल्ला खौं की 'रानी केतकी की कहानी' को, उसके विस्तार को देखकर प्रथम उपन्यास माना जाता रहा। किंतु उसमें उपन्यास की अपेक्षा कहानी के लक्षण अधिक हैं। कुछ विद्वान एक सम्पादित उपन्यास 'मनोहर उपन्यास' को ही प्रथम मानते रहे। आचार्य रामचन्द्र शल्लजी ने लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरु' उपन्यास को अंग्रेजी ढंग का प्रथम मौलिक उपन्यास माना है और उनके मत को स्वीकार कर बाद के और भी विद्वान इसी को सर्व प्रथम मानते रहे। आगे चलकर डॉ. सुरेश सिन्हा ने 'भाग्यवती' को सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास सिद्ध किया जिसके लेखक पं. श्रद्धाराम किलौरी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से 'भाग्यवती' ही सर्व प्रथम मौलिक उपन्यास है। इसमें यथार्थ चित्रण, चरित्र चित्रण, नारी शिक्षा की माहिमा, आदर्शवाद एवं नारी जीवन की समस्या सभी का रोचक ढंग से समावेश किया गया है। प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करने वाली और अपने जीवन विकास का मार्ग स्वयं निकालने वाली सुशिक्षित भारतीय नारी का चित्रण निरूपण इस उपन्यास में किया गया है।

प्रेमचन्द-पूर्व युग में देवकी नन्दन खत्री ने उपन्यास की विधा को सर्वाधिक लोक प्रिय बनाया। इनके उपन्यास मनोरंजन तत्व से लबालब भरे पड़े हैं। तिलस्म, ऐश्वरी आदि से रोचकता एवं उत्सुकता के तत्वों को भी इन्होंने खूब निभाया है। इनके 'चन्द्र कान्ता' (चार भाग), 'चन्द्र कान्ता सन्तति' (चौबीस भाग), 'भूतनाथ' (पाँच भाग) आदि उपन्यासों ने साहित्य जगत में धूम मचा दी थी, इनके उपन्यासों की लोक प्रियता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि देवनागरी हिन्दी न जानने वाले कई हिन्दू और मुसलमानों ने इन उपन्यासों की रोचकता से आकर्षित होकर इन्हें पढ़ने के उद्देश्य से हिन्दी सीखी। घटना-वैचित्र्य ही इनके उपन्यासों में प्रधान रहा। उपन्यास जगत् में इनकी जैसी लोक प्रियता मुन्शी प्रेमचन्द को छेड़कर और किसी को नहीं मिली।

आगे चलकर पं. किशोरी लाल गोस्वामी ने सामाजिक के साथ-साथ काफी ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर ऐतिहासिक उपन्यासों की नींव डाली। इन्होंने 'उपन्यास' नाम की एक पत्रिका निकाल कर लगभग 65 उपन्यास तो स्वयं लिखे और प्रकाशित किये। इनमें मौलिक अनुदित दोनों प्रकार के उपन्यास आते हैं। औरोंसे भी उपन्यास लिखाकर अपनी पत्रिका में प्रकाशित कर इन्होंने उपन्यास के विकास में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान दिया। इनके कारण एवं इनकी पत्रिका 'उपन्यास' के कारण हिन्दी उपन्यास संख्या की दृष्टि से काफी सम्पन्न हुए। इनके उपन्यासों में चरित्र चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। मुसलमान चरित्रों के भाष्य में कई का काफी प्रयोग कर, इन्होंने पात्रानुरूप तथा पात्रानुकूल कथोपकथन के सिद्धांतों को भी कुछ कुछ मात्रा में शुरू किया। इनके अधिकांश उपन्यासों का नाम नायिका या नायक के नाम पर रखा गया है। आदर्शवादी दृष्टिकोण इनके उपन्यासों में ज्यादा उभरा है। इनके कुछ प्रसिद्ध उपन्यासों के नाम हैं- चपला, त्रिवेणी, लवंगलता, तारा, हीरा बाई, लीला वती इत्यादी।

लगभग इसी समय गोपाल राय गहमरी ने जासूसी उपन्यास लिखकर एक विशेष प्रकार का पाठक वर्ग तैयार किया। इन्होंने 'जासूस' नामक एक पत्र का भी प्रकाशन शुरू किया। इन्होंने लगभग पचास-साठ उपन्यास लिखे जिनमें 'सास-पतोहू', 'बड़ा भाई' या 'नये बाबू' जैसे कुछ गिनती के सामाजिक उपन्यासों को छोड़कर अधिकांश जासूसी उपन्यास हैं। इनके उपन्यासों में घटनाओं की प्रधानता होती है और कथानक का इस रोचकता के साथ वर्णन किया जाता है कि पाठक मुग्ध हो जाता है। जासूसी उपन्यास अंग्रेजी उपन्यासों की देन है। आपका 'बम्बई के मेय की ताश' उपन्यास बड़ा प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय माना गया।

इसी समय मराठी, बंगला, गुजराती आदि भाषाओं से उपन्यासों के अनुवाद की भी भरमार होने लगी। प्रेमचन्द पूर्ण उपन्यासकारों ने उपन्यास के विकास के लिए सबसे बड़ा जो काम किया, वह है एक बहुत बड़े भारी उपन्यास प्रेमी पाठक वर्ग को तैयार करना। कुछ और उल्लेखनीय उपन्यास सहाय, बाबू राधा कृष्ण दास, पं. बालकृष्ण भट्ट, अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि।

मुशी प्रेमचन्द ने अपने मौलिक, श्रेष्ठ एवं लोक प्रिय उपन्यासों से उपन्यास जगत, में ऐसी धूम मचा दी कि सभी ने इनको एक मत से 'उपन्यास सम्राट' मान लिया। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों से उपन्यास की विधा को एक नया मोड़ दिया, एक नया रंग दिया। आदर्शमूर्ति यथार्थ का चित्रण कर तथा सामाजिक व सांस्कृतिक समस्याओं का निरूपण कर इन्होंने उपन्यासों को मात्र मनोरंजक होने से बचाया। इनके 'गोदान' उपन्यास ने तो न केवल हिन्दी तथा सभी भारतीय भाषाओं में अपितु विदेशी भाषाओं में भी अनुदित रूप में पहुँचकर धूम मचा दी। उपन्यासों में आगे चलकर विकसित होने वाले कई तत्त्व प्रेमचन्द के उपन्यासों में कभी विकसित होते हैं। जैसे- मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, औचलिकता, चरित्र-चित्रण की महिमा व सूक्ष्मता, पात्रानुकूल व पात्रानुरूप कथोपकथन, वर्ग प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों का चरित्र-निरूपण, मध्यम वर्ग की तथा ग्राम्य समाज की समस्याएँ आदि। आपके उपन्यासों में गोदान, गबन, निर्मला, सेवा सदन आदि प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय हैं। आपके 'गोदान' का 'होरी' उपन्यास संसार के ऊपर पात्रों में से एक है। प्रेमचन्द की सफलता का एक मुख्य रहस्य इनकी चलती हुई मुहावरेदार भाषा भी है। ये उर्दू और हिन्दी दोनों में बराबर लिखते थे इसलिए इनकी भाषा में सौझ का सुनहलापन है और कल्प में प्रवाह अदभुत प्रवाह। इनका 'गोदान' उपन्यास विश्व के सर्वोत्कृष्ट उपन्यासों में गौरवपूर्ण स्थान पाने योग्य है।

प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारों में ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वाले वृन्दावन लाल वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके 'फांसी की रानी', 'विराट की पद्मिनी', 'मृगनयनी' आदि उपन्यास बड़े प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के 'वैशाली की नगर वधू', 'वयरक्षाम', 'गोली' आदि उपन्यासों का भी बड़ा नाम है। पांडेय बेचन शर्मा उग्र के 'जीजी', 'चन्दहसीनो के खतूत', 'दिल्ली का दलाल' 'शराबी', 'चाकलेट' आदि भी गणनापात्र उपन्यासों में से हैं। प्रेमचन्द युग के सबसे प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली उपन्यासकार कौशिक के दो उपन्यास 'भिखारिणी' और 'माँ' हिन्दी उपन्यास के गौरव हैं। कौशिक जी की सबसे बड़ी विशेषता है- पात्रों का स्वतंत्र विकास। शिवपूजन सहाय का 'देहाती दुनिया' उपन्यास हिन्दी का ही नहीं, अपितु समग्र भारतीय भाषाओं का प्रथम औचलिक उपन्यास है। प्रेमचन्द-युग में श्री जी.पी. श्रीवास्तव ने हास्य-व्यांग्य प्रधान उपन्यास लिखकर एक नई प्रवृत्ति को जन्म दिया। भगवती प्रसाद वाजपेयी ने संख्या की दृष्टि से ढेर के ढेर उपन्यास लिखकर उपन्यास साहित्य का काफी संवर्द्धन किया। इन्होंने सामाजिक जीवन का बड़ा गहरा मनोवैज्ञानिक

और कथा तथ्य चित्रण किया है। शिल्प की दृष्टि से सभी उपन्यास सफल हैं। 'चलते-चलते', 'उनसे न कहना' आदि इनके लोकप्रिय उपन्यास हैं। मध्यम वर्ग और उसकी समस्याएँ इनके विषय हैं। प्रेमचन्द युग के उपन्यासों का हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास व संवर्द्धन में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान है।

प्रेमचन्दोत्तर युग में यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, औचलिकता, नारी एवं यौन समस्याएँ, प्रगतिवादी दृष्टिकोण आदि की महिमा बढ़ गई। अज्ञेय, जेनेन्द्र कुमार जैन, इलाचन्द्र जोशी, भगवती चरण वर्मा यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, रागेय राघव, फणीश्वर नाथ 'रेणु', भैरव प्रसाद गुप्त, नागार्जुन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। लघु उपन्यास भी अस्तित्व में आकर विकसित होने लगा। लघु उपन्यास कहानी एवं उपन्यास के बीच की चीज है, जिसमें अपेक्षाकृत विस्तार भी काफी कर होता है तथा पात्र भी सीमित होते हैं। प्रेमचन्दोत्तर युग के प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय उपन्यासों के नाम इस प्रकार हैं- यशपाल का 'दिव्या' तथा 'घुठासच', भगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा' तथा 'भूले बिखरे चित्र' जेनेन्द्र कुमार के 'परख' और 'त्याग पत्र', अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी' उपेन्द्रनाथ अशक का 'गिरती दीवारें' हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'बाण भट्ट की आत्म कथा' नागार्जुन का 'बाबा बटेसर नाथ', रागेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' इलाचन्द्र जोशी का 'जहाज का पंछी', मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे' फणीश्वर नाथ 'रेणु' का 'मैला औचल' श्री लाल शुक्ल का 'राग दरबारी' शिव प्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी' इत्यादि। संख्या, विकास, प्रयोग आदि कई दृष्टियों से प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास ने निश्चित ही नई ऊँचाई प्राप्त की है और उसकी लोकप्रियता न केवल बनी हुई है, अपितु और बढ़ी है।

औचलिक उपन्यासों में किसी एक प्रांत, जनपद या अंचल का तथ्य वहाँ के जनजीवन, वहाँ की भाषा, वहाँ के रीति-रिवाज, वहाँ की संस्कृति, वहाँ की स्थानिक समस्याएँ आदि का चित्रण किया गया है। प्रेमचन्द युग से ही इस प्रकार के औचलिक उपन्यासों ने पूर्ण विकास कर लिया है। फणीश्वर नाथ 'रेणु' नागार्जुन आदि इस प्रकार के उपन्यास लिखने वालों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके 'मैला औचल', परती परिकथा, बाबा बटेसरनाथ आदि प्रसिद्ध औचलिक उपन्यास हैं। 'वे दिन', 'सबहिं नचावत राम गुसाई', 'सूरजमुखी', 'अंधेर', 'एक चुहे की मौत', 'आतंक', 'यादों का पहाड़' आदि नये प्रयोगवादी उपन्यास हैं।

25.4 सारांश

उपन्यासकी संक्षिप्त परिभाषा है- 'वास्तविक जीवनकी काल्पनिक कथा।' भारतीय परम्परा से जुड़ा हुआ होते हुए भी यह अंग्रेजी उपन्यास साहित्य की देन है। उपन्यास की लोकप्रियता का मुख्य कारण है उसके भीतर का मनोरंजन तत्व। उपन्यास के छः तत्व होते हैं- 1. कथावस्तु, 2. चरित्र-चित्रण, 3. कथोपकथन, 4. देश, काल तथा वातावरण, 5. उद्देश्य तथा 6. शैली; जिनमें कथानक तथा चरित्र-चित्रण प्रमुख तत्व हैं। उपन्यासों का वर्गीकरण उपन्यासों के प्रकारों तथा भेदों को स्पष्ट करता है।

हिन्दी उपन्यासों के विकास का प्रेमचन्द-पूर्व युग, प्रेमचन्द युग एवं प्रेमचन्दोत्तर युग के नाम से वर्गीकरण किया जा सकता है। इस विधा के लिए आगे चलकर 'चरित्र-चित्रण' के तत्व की महत्ता उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही उपन्यास का लक्ष्य बनता चला गया। यथार्थ चित्रण ने उपन्यासकारों के मानसिक एवं नैतिक संकोच के बंधनों को तोड़ दिया। सभी प्रकार की समस्याओं का चित्रण निःसंकोच रूप से किया जाने लगा। साहित्य-जगत् में उपन्यास के आविर्भाव ने निश्चित ही क्रांति पैदा कर दी है, ऐसा कहा जा सकता है। इसकी लोकप्रियता की समता साहित्य की और किसी विधा के लिए संभव नहीं। औचलिक उपन्यासों में सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व आ जाना और भी क्रांतिकारी सिद्ध हुआ। 'भाग्यवती' और 'परीक्षागुरु' से लेकर 'अंधेरे बंद कमरे' और 'राग दरबारी' तक का उपन्यास साहित्य का विकास निश्चित ही गौरवपूर्ण है।

25.4 शब्दार्थ

उपन्यास	:	नॉवेल
कथानक	:	कथावस्तु, प्लॉट
चरित्र-चित्रण	:	पात्र निरूपण

कथोपकथन	: संवाद
शैली	: प्रस्तुत करने का ढंग
उद्देश्य	: लक्ष्य
प्रेमचन्दपूर्व युग	: प्रेमचन्द से पहले के उपन्यासकारों का युग
प्रेमचन्दोत्तर युग	: प्रेमचन्द के बाद का युग
औचलिक उपन्यास	: औचल-विशेष के जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करने वाला उपन्यास
लघु उपन्यास	: छोटा उपन्यास

25.6 अभ्यास

25.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. उपन्यास की परिभाषा देते हुए उपन्यास के महत्व को विस्तार से समझाइये।
2. उपन्यास के तत्वों को विस्तार से समझाइए।
3. उपन्यास के तत्वों में आप किसे महत्वपूर्ण मानते हैं और क्यों?
4. हिन्दी उपन्यास के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालिए।

25.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)

1. उपन्यास की लोकप्रियता के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. उपन्यास और कहानी की तुलना कीजिए।
3. प्रेमचन्द को 'उपन्यास सम्राट' क्यों कहते हैं?

25.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

25.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर (250 शब्दों में)

प्रश्न: उपन्यास के तत्वों को विस्तार से समझाइए।

उत्तर: उपन्यास के कुल छः तत्व माने गये हैं। वे हैं-

1. कथावस्तु, 2. चरित्र-चित्रण, 3. कथोपकथन, 4. वेश, काल और वातावरण, 5. उद्देश्य, 6. शैली।

कथावस्तु में उपन्यास का कथानक क्रमबद्ध एवं सुगुम्फित रूप में प्रस्तुत होता है। कथानक ही उपन्यास को रोचक, औत्सुक्यपूर्ण एवं मनोरंजक बनाता है। उपन्यास का कथानक प्रायः मध्यम वर्ग के जीवन के लिया जाता है और इसीलिए पाठकों को वह अपने जीवन की प्रतिच्छाया के रूप में प्रतीत होता है। कथावस्तु को ही उपन्यास रूपी शरीर का अस्थिपिंजर (Skeleton) माना गया है। इसी तत्व को कई विद्वानों ने एक मात्र अनिवार्य स्पष्ट एवं सर्वमान्य तत्व माना है। यही उपन्यास का मूलधार है।

दूसरे तत्व चरित्र-चित्रण की महिमा भी असाधारण है। पात्रों के कारण ही उपन्यास में सजीवता आती है। घटित होने वाली घटनाएँ जीवित व्यक्तियों के जीवन के संघर्ष व सफलता को लेकर चलती हैं। मानव-वृत्तियों की सूक्ष्मता चरित्र-चित्रण के माध्यम से ही प्रस्तुत व निरूपित की जा सकती है। कुछ विद्वान तत्व को सर्वोपरि मानते हैं, किन्तु बिना कथानक के, बिना जीवन के पात्रों के चरित्र-चित्रण का महत्व ही क्या हो सकता है? कथोपकथन के तत्व से उपन्यास के कथानक और चरित्र-चित्रण में और भी अधिक सजीवता स्वाभाविकता एवं रोचकता आती है। बातचीत में ही जीवन की सतत् एवं रसमय अभिव्यक्ति होती रहती है।

देश काल तथा वातावरण से उपन्यास के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार होती है। सभी पात्र और उनका जीवन किसी देश, समय और वातावरण से संबद्ध रहता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में इस तत्व की महिमा कुछ विशेष ही है।

उद्देश्य: तत्व के बिना उपन्यास की सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है। उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन होते हुए भी मानविक मानव सुख, मानव मनकी वैज्ञानिक-विश्लेषणात्मक व्याख्या आदि भी है।

शैली उपन्यास का प्राण, आत्मा या त्वचा है। जो कहना है या कह सकते हैं, वह आरम्भ से अंत तक और सभी तत्वों में व्याप्त रहती है।

25.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर (125 शब्दों में)

प्रश्न: उपन्यास की लोकप्रियता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर: साहित्य की सभी विधाओं में उपन्यास सर्वोच्च लोकप्रिय है। इसकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण है- इसके भीतर का मनोरंजन तत्व। नाटक के समान वह अर्थ-साध्य या कष्ट साध्य नहीं है। उसे पढ़ने तथा उसका आनन्द पाने के लिए तीव्र बुद्धि या तेज कल्पना शक्ति की आवश्यकता भी नहीं होती। कही भी, कभी भी, अपनी सुविधा से पढ़े जा सकने के कारण भी उसकी लोकप्रियता बढ़ती चली गई। उसके भीतर जो औत्सुक्य को बनाए रखने की क्षमता है, इसने भी उसे लोक प्रिय बनाया। मुद्रण कला के आविष्कार तथा पुस्तकालय के प्रचार-प्रसार ने उस लोक प्रिय बनाने में विशेष योगदान दिया। यथार्थ परकता तथा मध्यम एवं निम्न श्रेणी के प्रतिनिधिपात्रों ने भी उसे लोकप्रिय बनाया। उपन्यास में पायी जाने वाली स्वाभाविकता एवं सहजता ने उसे अन्य विधाओं की तुलना में देखते-देखते लोकप्रिय बना दिया। भाषा-शैली भी आडम्बर से मुक्त होने के कारण पाठकों को अधिक प्रभावित करती है। अल्प शिक्षित भी उपन्यास पढ़कर साहित्यिक मनोरंजन पा सकते हैं।

25.8 पठनीय पुस्तकें

- | | | |
|---------------------------------------|---|--------------------------|
| 1. उपन्यास: सिद्धांत और संरचना | - | डॉ. रवीन्द्र कुमार जैन |
| 2. हिन्दी उपन्यास: एक नई दृष्टि | - | डॉ. इन्द्रनाथ मदान |
| 3. हिन्दी उपन्यास: उद्भव और विकास | - | डॉ. सुरेश सिन्हा |
| 4. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद | - | डॉ. त्रिभुवन सिंह |
| 5. उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा | - | डॉ. परमानन्द श्री वास्तव |

इकाई-26: कहानी: परिभाषा, तत्व, प्रकार और विकास

- 26.0 विषय प्रवेश
- 26.1 उद्देश्य
- 26.2 पाठ परिचय
- 26.3 मूल पाठ
 - 26.3.1 परिभाषा
 - 26.3.2 तत्व
 - 26.3.3 प्रकार
 - 26.3.4 विकास
- 26.4 सारांश
- 26.5 पारिभाषिक शब्दावली
- 26.6 अभ्यास
 - 26.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)
 - 26.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)
- 26.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 26.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 26.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 26.8 पठनीय पुस्तकें

26.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में साहित्य की विधा 'कहानी' पर विचार किया गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- कहानी के स्वरूप पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- कहानी की परिभाषा को रेखांकित कर सकेंगे।
- कहानी के तत्वों को समझ सकेंगे।
- कहानी के प्रकारों को जान सकेंगे।
- कहानी के विकास पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- कहानी के महत्व को समझ सकेंगे।

26.2 पाठ परिचय

कहानी साहित्य की एक विशिष्ट एवं लोकप्रिय विधा है। कम समय में और कहीं भी, यहाँ तक कि बस-यात्रा में भी पढ़ी जा सकने वाली कहानी ने साहित्यिक मनोरंजन के क्षेत्र में क्रांति कर दी। कहानी भारतीय परम्परा से जुड़ी हुई होते हुए भी, अंग्रेजी कहानी (Short Story) के कला रूप से पूर्ण रूपेण प्रभावित है। वैसे यह माना जाता है कि संसार भर में कहानी भारत से ही गई है। भारत प्राचीन काल से कहानियों का देश रहा है। कहानी सुनना और सुनाना बच्चों से लेकर बूढ़ों तक को, सभी को प्रिय लगता है। प्रारम्भ में वाणी पाते ही मनुष्य ने अपने अनुभवों को सुनाते-सुनाते कहानी को जन्म दिया होगा और मौखिक लोक-कथाओं की परम्परा शुरू हुई होगी। कविता, निबंध और आलोचना को छोड़कर सभी प्रकार के साहित्य के मूल में कथा तत्व निहित है, जैसे- महाकाव्य, नाटक, संस्मरण, रेखाचित्र, एकांकी, उपन्यास आदि में। लिखित साहित्य के उद्भव और विकास में इसी कथा तत्व का बड़ा भारी योगदान है।

26.3 मूल पाठ

26.3.1 परिभाषा

कहानी संस्कृत की 'आख्यायिका' और 'कथा' से जुड़ी हुई होती हुये भी उससे भिन्न अपना अलग अस्तित्व रखती है तथा अंग्रेजी की कहानी (Short Story) से कला रूप में पूर्ण रूप से प्रभावित है। कथा सरित्सागर, पंच तंत्र, हितोपदेश आदि की कहानियाँ निश्चित ही भारतीय कथा-परंपरा के गौरव का स्मरण दिलाने वाली है। कई पौराणिक कहानियों में आज की कहानी के तत्व दिखा सकते हैं। बाबू श्याम सुन्दर दास के अनुसार प्राचीन कथाएँ या आख्यायिकाएँ एक निश्चित आख्यान है। आज की कहानी जीवन के किसी एक ही प्रसंग या पहलू को या किसी एक ही पात्र की मनः स्थिति के मार्मिक चित्रण को लेकर लिखी गई हृदय स्पर्शी कलाकृति है।

आज के इस भगदौड़ के युग में उपन्यास से भी अधिक कहानियाँ ही पढ़ी जाती है; क्योंकि कुछ मिनटों में ही, कहीं भी— बस में, कार में, रेल में और वह भी प्रायः एकही बैठक में पढ़ी जा सकने की क्षमता संभवतः केवल कहानी में ही पायी जा सकती है। कहानी के कलारूप की सूक्ष्मता न समझ पाने वाले कहानी का पूरा आनंद नहीं उठा पाते और इसीलिए वे इसमें एक प्रकार का अधूरापन अनुभव करते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप उपन्यास की ओर वे अधिक आकृष्ट होते हैं। वैसे अधिक लिखी जानेवाली और पढ़ी जाने वाली साहित्यिक विधा कहानी ही है। कहानी का आनंद आरम्भ से अंत तक एकसा होता है, यह इसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

कहानी की परिभाषा देते हुए अमेरिका के प्रसिद्ध कहानीकार एडवार्ड एलन पो ने कहा है: 'कहानी एक ऐसा आयोजन है जो इतना छोटा होता है कि एक बैठक में पढ़ी जा सके और जो पाठक पर एक ही प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए लिखी गई हो। उसमें ऐसी बातों को छोड़ दिया जाता है, जो उसकी प्रभावोत्पादकता में बाधक हों। वह स्वतः पूर्ण होती है।'

उपन्यास सम्राट मुन्शी प्रेमचन्द सफल कहानीकार भी हैं। उन्होंने कहानी की परिभाषा इस प्रकार दी है: 'कहानी एक ऐसी रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, शैली, कथा विन्यास, सब उसी एक भाव को पुष्ट करते हैं। उपन्यास की भाँति उसमें मानव जीवन का सम्पूर्ण तथा बृहद् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता, न उसमें उपन्यास की भाँति सभी रसों का सम्मिश्रण होता है। वह ऐसा रमणीय उद्यान नहीं, जिसमें भाँति के फूल, बेल-बूटे सजे हुए हैं, बल्कि एक गमला है, जिसमें एक ही पौधे का सौन्दर्य और माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टि गोचर होता है।'

बाबू श्याम सुन्दर दास कहानी में नाटकीय तत्वों को प्रमुखता प्रदान करते हुये कहते हैं कि 'कहानी एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर लिखा गया नाटकीय आख्यान है। मानव जीवन और मानव चित्रण के किसी एक पहलू पर या उसमें घटित किसी एक घटना पर प्रकाश डालने के लिए कहानी लिखी जाती है। कहानी में अधिक विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती। कहानी लेखक का उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य जीवन को चित्रित करना नहीं होता, वरन् उसके चरित्र के एक अंग या पक्ष मात्र को दिखाना है। डॉ. बेचन के अनुसार, कहानी वह घुपद की तान है, जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, क्षण भर में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात भर गाना सुनने में भी नहीं हो सकता है।'

कहानी अपने विकसित रूप में गीतिकाव्य के निकट है क्योंकि उसमें वैयक्तिक दृष्टिकोण की प्रधानता होती है। कहानी में वैयक्तिकता की प्रधानता होती है और पात्रों के समावेश, चरित्र-चित्रण और निरूपण द्वारा एक ही घटना तथा तथ्य का वर्णन करते हुए प्रवादात्मक ढंग से निश्चित उद्देश्य की अभिव्यक्ति की जाती है।

26.3.2 तत्व

कहानी के तत्व भी उपन्यास के तत्वों के समान छः ही हैं, जो इस प्रकार हैं:

(1) कथावस्तु, (2) चरित्र-चित्रण, (3) कथोपकथन, (4) देशकाल और वातावरण, (5) उद्देश्य, (6) शैली

(1) कथावस्तु:

यही वह प्रधान तत्व है, जिससे कहानी कहानी प्रतीत होती है। कहानी के इस तत्व के कारण ही उसमें कहानीपन दिखलाई देता है। वस्तुतः कहानी रूपी शरीर के लिए कथावस्तु अस्थि सदृश है। बिना कथावस्तु के कहानी अस्थि रहित शरीर के समान होगी। आजकल कथावस्तु की अपेक्षा चरित्र या चरित्र के मनःस्थिति के विश्लेषण को ही कहानी में प्रधानता दी जा रही है।

कथावस्तु को भी चार भागों में विभाजित कर सकते हैं-

1. प्रस्तावना भाग, 2. मुख्यांश, 3. चरमसीमा, 4. रहस्योद्घाटन न कर देने वाला मार्मिक अन्त।

प्रस्तावना भाग में कहानी के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार की जाती है, चरमसीमा में अंत की संभावना देखी जाने लगती है, किंतु अंत में पाठक की कल्पना के विपरीत मार्मिक अंत के साथ कहानी समाप्त कर दी जाती है। कथावस्तु में अनावश्यक घटनाओं या निरर्थक विस्तार के लिए नाम मात्र की गुंजाइश नहीं होती। यहाँ तक कि किसी आलोचक ने कह दिया कि कहानी में सितार का वर्णन हो तो वह कहीं बजना चाहिए, बन्दूक का वर्णन हो तो वह कहीं फूटनी चाहिए। उपन्यास यदि पत्र है तो कहानी तार है। उपन्यास यदि उद्यान है तो कहानी गमले का पौधा है। कहानीकार अर्जुन के समान केवल अपने लक्ष्य को देखकर ही, उसी को देखते हुए, कहानी लिखता है और लक्ष्य बेध के समान मार्मिक अंत के साथ समाप्त करता है। कहानी की कथावस्तु, मौलिक, संभाव्य, प्रतीति कर स्वसुसब्ध होनी चाहिए।

(2) चरित्र चित्रण :

कहानी का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व चरित्र चित्रण है। आजकल चरित्र चित्रण का महत्व कथा वस्तु से भी अधिक बढ़ गया है। कहानी में पात्र के सम्पूर्ण चरित्र पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता। पात्र के जीवन के केवल किसी एक ही पक्ष, अंश या पहलू को ही प्रकाशित किया जाता है, जिससे उस पात्र के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उजागर कर सके। आज का कहानीकार पात्रों का चरित्र चित्रण करते हुए किसी मनो वैज्ञानिक सत्य की व्याख्या करता है। कम शब्दों में, कम प्रसंगों तथा कम संवादों द्वारा चरित्र चित्रण करना एक कला है, जिसमें एक सफल कहानीकार ही निपुण हो सकता है। मनोविज्ञान संबंधी सामान्य ज्ञान उसकी कला को चार चाँद लगा देता है।

चरित्र चित्रण वर्णनात्मक ढंग से, आत्मकथात्मक शैली में, कथोपकथन के माध्यम से, कलात्मक संकेतों के द्वारा एवं प्रसंगों और परिस्थितियों में दिखलाए गये संघर्ष के द्वारा किया जाता है। एकांत में विचारों की प्रक्रिया से किया जाने वाला चरित्र-चित्रण अदिक सहज, स्वाभाविक व सजीव प्रतीत होता है।

(3) कथोपकथन :

कहानी का तीसरा तत्व कथोपकथन कहानी के पात्रों में संवादों का आयोजन करता है। इससे कहानी में स्वाभाविकता व जीवंतता आती है। कहानी को गति प्रदान करने वाला यह तत्व कहानी में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कहानी के संवाद सहज, चलते हुए, मुहावरेदार और सजीव होने चाहिए, जिनके कारण बोलते हुये पात्रों को पाठक सुन सके, अनुभव कर सके। कथोपकथन एक ही प्रकार का न होकर पात्रानुकूल व पात्रानुरूप होना चाहिए। कथोपकथन इसके अतिरिक्त पात्रों के मनोभावों के अनुकूल भी होना चाहिए। कथोपकथन सिके अतिरिक्त पात्रों के मनोभावों के अनुकूल भी होना चाहिए। प्रेमचन्द की 'ईदगाह', 'कथन' या 'शत रंज के खिलाड़ी' कहानी के कथोपकथन ऐसे ही हैं। यशपाल की 'पदी' कहानी के संवाद भी इसी प्रकार के ही हैं।

विश्व के सर्वश्रेष्ठ कहानी लोखों की सर्वोत्कृष्ट कहानियों के कथोपकथन बड़े ही सहज-स्वाभाविक होते हैं। एडगर एलन पो, मोपासाँ, ए.चेखोव तथा ओ.हेनरी की कहानियों के कथोपकथन इसी प्रकार की खूबी से भरे हुए हैं।

(4) देश, काल तथा वातावरण :

कहानी का चौथा तत्व देश, काल तथा वातावरण है, जिसको कहानीकार बड़े कलात्मक ढंग से, सीमित रूप में संकेतो द्वारा प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक कहानियों में इस तत्व की अनिवार्यता और भी अधिक होती है। सामाजिक कहानियों में इसकी अभिव्यक्ति पृष्ठ भूमि के रूप में निरूपित की जाती है, जिसके कारण ही कहानी जीवन की प्रतिच्छाया प्रतीत होती है। देश, काल तथा वातावरण के चित्रण बहुत स्वाभाविक, आकर्षक और यथा संभव पात्रों की मासिक परिस्थिति के अनुकूल होने चाहिए। सुदर्शन की कहानी 'एलेन्स का सत्यार्थी', मुंशी प्रेमचन्द की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी', जयशंकर प्रसाद की कहानी 'ममता' आदि में इस तत्व का यथार्थ एवं कलात्मक निरूपण देखा जा सकता है। उपन्यासकार के समान कहानीकार देश, काल तथा वातावरण का विस्तार से और बार बार निरूपण नहीं कर सकता है, किंतु तब भी इंगितों से इस तत्व को कहानी के सूत्र से थोड़ा बहुत जोड़ ही लेता है।

(5) उद्देश्य :

कहानी का पाँचवाँ तत्व उद्देश्य है। यह तो स्पष्ट है कि कहानी का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन ही होता है। कम समय में कही भी, बस की यात्रा तक में- साहित्यिक मनोरंजन प्रदान करने की क्षमता व संभावना केवल कहानी में ही पायी जा सकती है, साहित्य की और विधाओं में यह संभव नहीं। कविता भी कम समय में और कही भी पढ़ी जा सकती है किंतु कविता का आनंद सबके लिए संभव, सुलभ या सहज नहीं होता। कहानी के आनंद का अनुभव करने के लिए न तो बुद्धिमत्ता की आवश्यकता होती है और न ही तीव्र कल्पनाशक्ति की। कहानी का आनंद तो सभी ले सकते हैं। वैसे कहानी का प्रमुख उद्देश्य तो मनोरंजन ही है परन्तु मात्र मनोरंजन प्रदान करना कहानी का उद्देश्य नहीं होता। कहानी मानव-मन की श्रेष्ठ वृत्तियों को जगाकर उन्हें विकसित करती है। वह यथार्थ का मार्मिक चित्रण कर, उच्च आदर्शमय जीवन की ओर कलात्मक संकेत कर सकती है, मानवमन की संकीर्णता को हटाकर मन को परिष्कृत कर उदार, विशाल बनाकर मानव समाज का हित साधन करती है।

(6) शैली :

कहानी का छठा और अन्तिम तत्व शैली है। शैली के कारण ही कहानी के कलारूप को स्पष्ट वैशिष्ट्य प्राप्त होता है। जैसे त्वचा से हम जाने पहचाने जाते हैं, वैसे ही शैली के कारण ही कहानी जानी पहचानी जाती है। इसीलिए शैली की तुलना शरीर की त्वचा के साथ की जाती है। कहानी के संकेतात्मक एवं कलात्मक शीर्षक व आकर्षक प्रारम्भ से लेकर चरम सीमा तथा मार्मिक अंत तक व्याप्त रहने वाला यह तत्व बाहर से त्वचा के समान और भीतर से प्राण के समान प्राप्त रहता है। यह शैली तत्व ही कहानी को कहानी पन प्रदान करता है। इसी के कारण रेखाचित्र संस्मरण आदि से वह भिन्न प्रतीत होती है। कहानी पढ़ने वाले के कौतूहल व औत्सुक्य को बनाए रखना इस शैली तत्व का प्रभाव लक्षण है तथा कहानी पढ़ लेने के बाद भी कहानी की कोई घटना, कहानी का कोई पात्र या कहानी का मार्मिक अंत पाठक के मन में स्थायी स्थान बना ले, यही कहानी की शैली की प्रमुख विशेषता है।

26.3.3 प्रकार

कहानी का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है, जैसे:

1. घटना प्रधान, 2. चरित्र प्रधान, 3. वर्णन प्रधान, 4. भाव प्रधान।

घटना-प्रधान कहानियाँ कौतूहल और औत्सुक्य को बनाए रखने में और बढ़ाते रहने में बड़ी सफल हुआ करती हैं। इस प्रकार कहानियों में चरित्र-चित्रण की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। जिन घटना-प्रधान कहानियों में बाह्य घटनाओं की अपेक्षा आन्तरिक घटनाओं को अधिक महत्व दिया जाता है, व ही कहानियाँ श्रेष्ठ मानी जाती हैं।

चरित्र-प्रधान कहानियों में चरित्र-चित्रण की महिमा अधिक होती है। इनमें चरित्रों की सूक्ष्म मनोवृत्तियों का चित्रण करने वाली कहानियाँ अधिक श्रेष्ठ और सफल मानी जाती हैं। मानव जीवन के विविध स्वरूपों में से किसी एक को इसमें चित्रित-निरूपित किया जाता है। चरित्र-प्रधान कहानियाँ आधुनिक युग की देन हैं, जिसमें स्थूल घटना की अपेक्षा सूक्ष्मता को अधिक महत्व दिया जाता है। मानव-जीवन की व्याख्या करने में ऐसी कहानियाँ बड़ी सफल होती हैं।

वर्णन-प्रधान कहानियों में वर्णन की प्राधानता होती है। परिस्थिति, काल, देश, वातावरण तथा पात्रों के रंगीन वर्णन द्वारा इन कहानियों का प्रारम्भ होता है। चरित्र चित्रण, घटनाओं के स्वाभाविक विकास और कथानक के प्रवाह की ओर ऐसी कहानियों में कहानीकार का ध्यान बिल्कुल नहीं जाता। इसी लिए कहानी कला के तत्व की दृष्टि से ये कहानियाँ जो वर्णन-प्रधान होती हैं, श्रेष्ठ नहीं मानी जाती।

भाव-प्रधान कहानियों में मनोभावों का विश्लेषण किया जाता है। मानसिक वृत्तियों के भीतर बैठकर कहानीकार वात्सल्य, प्रेम, ईर्ष्या आदि मानव के मनोभावों की सूक्ष्म एवं विशद व्याख्या करता है। ये कहानियाँ साधारण पाठकों के लिए रोचक नहीं होती। बौद्धिक धरातल वाले गंभीर पाठकों के लिए ही ये कहानियाँ महत्व रखती हैं।

इस वर्गीकरण के अतिरिक्त ऐतिहासिक, सामाजिक, दार्शनिक, जासूसी, हास्य-व्यंग्य प्रधान, राजनीतिक, सांस्कृतिक कहानियाँ भी वर्गीकरण का एक आधार हो सकती हैं। आत्मकथात्मक, वर्णनात्मक, पत्रात्मक, संवादात्मक- इस प्रकार का भी एक वर्गीकरण किया जा सकता है। इन सबमें ध्यान रखने योग्य बात यही है कि कहानी का कहानीपन बना रहना चाहिए।

कहानी की तुलना उपन्यास से विशेषरूप से की जाती है क्योंकि दोनों के तत्व समान हैं तथा दोनों का आधार और उद्देश्य भी समान हैं। किंतु कहानी अपने में एक स्वतंत्र सुविकसित कलारूप है, जो उपन्यास का संक्षिप्तप्रतीकरण किसी रूप में नहीं है। वस्तुतः आकार भेद तो केवल स्थूल भेद है। सूक्ष्मता में तो कहानी गीतिकाव्य के समान वैयक्तिक को लेकर चलन वाली कलाविधा है। संकेतात्मकता और कलात्मकता कहानी का प्राण है। उपन्यास यदि सुन्दर विशाल सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या तथा प्रतिच्छाया है, वहाँ कहानी में जीवन के किसी एक पक्ष, अंश या पहलू को झलक-मात्र है। उपन्यास वैविध्यपूर्ण होता है। अनेक रूपता से युक्त होता है, जबकि कहानी कौथली हुई बिजली के समान है। कहानी की सफलता का आधार उसकी कथन शैली पर ही निर्भर है। उसमें उपन्यास की अपेक्षा काव्यत्व अधिक होता है। कहानी का प्रारंभ अत्यंत आकर्षक होना चाहिए, जबकि उपन्यास प्राकृतिक वर्णन, दार्शनिक विचारधारा या किसी चरित्र के परिचय के साथ धीरे धीरे प्रारंभ होता है। कहानी में जो उत्तेजनापूर्ण चरम सीमा होती है, उसका उपन्यास में नितांत अभाव होता है। उपन्यास का अंत किसी भी प्रकार से किया जा सकता है, जबकि कहानी की समाप्ति का मार्मिक और चमत्कार पूर्ण होना आवश्यक है। कहानी का अंतिम वाक्य लक्ष्य बोध के समान होता है। प्रेमचंद की कहानी 'शत्रु के खिलाड़ी', प्रसाद की कहानी 'ममता' या यशपाल की कहानी 'परदा' में कहानी का मार्मिक अंत किया गया है। चमत्कार पूर्ण अंत (Trick Ending) भी कहानी को प्रभावोत्पादक बनाता है, जैसे- भगवती चरण वर्मा की 'प्रायश्चित' कहानी का अंत। अंग्रेजी कहानीकार 'एन्टन चोखोव और ओ.हेर्नी' इसके लिए प्रसिद्ध हैं।

26.3.4 विकास

कहानी का प्रारंभिक रूप वैदिक साहित्य में पाया जाता है। उसके भेद उपनिषद, पुराण, महाभारत आदि में भी कथा साहित्य उत्तरोत्तर विकसित होता चला गया। दार्शनिक सिद्धांतों को समझाने के लिए विद्वान छोटी-बड़ी कथाओं का आश्रय बराबर लिया करते थे। बौद्ध युग में लिखित जातक कथाएँ भी अपनी रोचकता के लिए प्रसिद्ध हैं। इन कहानियों का प्रभाव विदेशी कथा-साहित्य पर भी पड़ा। 'ईसा की कहानियाँ' और 'सिंदबाद सैलर' की कथाओं पर जातक कथाओं का काफी प्रभाव पड़ा। जैन धर्म की कथाओं का भी अपना विशेष प्रभाव रहा। संस्कृत साहित्य में 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश', 'कथा सरित्सागर' आदि की कथाओं में कहानी और अधिक विकसित हुई। पेशाची भाषा में लिखी गई गुणादय की बड़हकहा (बृहत्कथा) प्राचीन भाषा साहित्य

का अमूल्य अंश है। यद्यपि यह अभी तक अप्राप्य है, तथापि इसकी कथाएँ परंपरा से भारतीय भाषाओं में बराबर चली आ रही हैं। कथा सरित्सागर इसाकि दसवीं शताब्दी में सोमदेव ने लिखा था जिसकी कहानियाँ भी रोचक प्रतीत होती हैं। यह अंश बृहत्कथा पर आधारित है। लोक कथा साहित्य भी भारत वर्ष में बड़ी समृद्ध और लोकप्रिय है। इस प्रकार कहानी अपने मूल रूप में कहानी सुनने की मानव मन की मूल वृत्ति के साथ जुड़ी हुई है, जो लोक कथा, पौराणिक कथा, दृष्टांत कथा आदि रूपों में क्रमशः बराबर विकसित होती रही।

यद्यपि कहानी भारतीय परिभाषा में काफी जड़े जमायी हुई पाई जाती है तथापि हमें यह सत्य स्वीकार करना पड़ेगा कि आज की कहानी मूलतः पश्चात्य कहानी (Short Story) से पूर्ण रूपेण प्रभावित है। शिल्प विधान आदि की दृष्टि से आजकी कहानी प्राचीन कहानी से सर्वथा भिन्न और नवीन कला रूप एवं परिवेश युक्त है। आजकी कहानी मनोभावों के संश्लेषण-विश्लेषण, मानसिक संघर्ष तथा चरित्र चित्रण के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बल देती है।

हिन्दी की प्रथम कहानी किसे माना जाय, इसको लेखक हिन्दी के विद्वानों में काफी मत भेद है। कुछ समय तक इशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' को ही सर्व प्रथम कहानी मानने की प्रवृत्ति रही। कुछ विद्वानों ने इसे सर्व प्रथम उपन्यास भी माना। किंतु बीच बीच में मिलने वाला पद्य रूप तथा कथा के भीतर का बिखराव न तो उसे उपन्यास सिद्ध कर सकता है और न ही कहानी। राजा शिव प्रसाद सितारे की हिन्दी की कहानी 'राजा भोज का सपना' को ही अब अधिकांश विद्वानों ने सर्व प्रथम कहानी के रूप में स्वीकार किया है। यह कहानी हिन्दी की प्रथम साहित्य पत्रिका 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। 'सरस्वती' पत्रिका आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रकाशित करते थे, जिसके द्वारा गद्य के विकास के साथ साथ कहानी का भी काफी विकास हुआ। 'इन्दु' पत्रिका के प्रकाशन के साथ प्रसाद ने कथा साहित्य में प्रवेश किया। 'ग्राम' प्रसाद जी की सर्व प्रथम मौलिक कहानी है। सफल सुप्रसिद्ध कवि और नाटककार के साथ में सफल कहानीकार भी है। 'मधुआ' 'ममता' आदि कहानियाँ हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में से हैं। प्रसाद जी के आगमन के साथ हिन्दी कहानी साहित्य का दूसरा उत्थान शुरू हुआ। 'इन्दु' में ही श्री जी.पी. श्रीवास्तव, राधिका रमण प्रसाद सिंह तथा विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' ने कहानियाँ लिखनी प्रारम्भ की। राधिका रमण प्रसाद सिंह की 'कहानी में कंगना' बड़ी ही सुन्दर भाव पूर्ण कहानी है।

आगे चलकर विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' प. सुदर्शन, मुन्सी प्रेमचन्द आदि की कहानियों के साथ कहानी का तीसरा उत्थान शुरू हुआ। उसी समय पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, चण्डी प्रसाद हृदयेश आदि प्रसिद्ध कहानी कारों ने हिन्दी कहानी साहित्य को समृद्ध एवं विकसित किया। उपन्यास सम्राट मुन्सी प्रेमचन्द जी अति सफल एवं लोकप्रिय कहानीकार के रूप में साहित्य गगन में सर्वमान्य हैं। उनकी 'कफन', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'ईदगाह', 'सवासेर गेहूँ', 'ठाकुर का कुआँ', 'पूस की रात' आदि कहानियाँ विश्व की श्रेष्ठ कहानियों में गौरवपूर्ण स्थान पाने योग्य हैं। प्रेमचन्द की कहानियाँ भाषा के चलते पन, शैली की प्रवाह-मयता और कथानक की स्पष्टता एवं विविधता के कारण तथा कथोपकथन की स्वाभाविकता एवं सजीवता के कारण बड़ी प्रभावोत्पादक प्रतीत होती हैं।

चतुर्थ उत्थान में राहुल सांकृत्यायन, पुत्रालाल बख्सी, इलाचन्द जोशी, जैनेन्द्र कुमार जैन, उपेन्द्रनाथ अशक, यशपाल, पहाड़ी, विष्णु प्रभाकर, मन्नू भंडारी, अमृतराय आदि अनेक कहानीकारों ने हिन्दी कहानी को नये आयाम दिये। इन सब कहानीकारों का योगदान बड़ा अपूर्व है। कथानक और चरित्र के वैविध्य के साथ शैली का नित्य बढ़ता हुआ वैविध्य उल्लेखनीय है।

'नई कहानी' में कहानी के साथ नये-नये प्रयोग किये जाने लगे और एक नये ही रूप में और नयी ही दिशा में कहानी का विकास होना लगा। अब नई कहानी के साथ-2 'समान्तर कहानी', 'सचेतन कहानी' या 'अकहानी' के आन्दोलन शुरू हुये हैं। इस प्रकार की कहानियों में 'दूसरे किनारे', 'काला रजिस्टर', 'ठप्पेदार', 'लन्दन की एक रात', 'कितने कैद', 'शेष-अशेष', 'वापसी', 'चाय के कप में एक तूफान', 'दुर्ग', 'चौथा ब्राह्मण', 'एक आदमी का शहर', 'प्रथम पुरुष' आदि कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है। नयी कहानी के भी कई दौर हैं जो अज्ञेय, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मृणाल पाण्डे, भुदुला गर्ग, ममता कालिया, निरूपमा सेवती, दीप्ति खण्डेलवाल, धर्मवीर भारती, श्री कांत वर्मा, जितेन्द्र भाटिया, मपिका मोहिनी, उषा प्रियंवदा आदि

कहानीकार इन नये दोरों के प्रसिद्ध एवं प्रतिनिधि कहानीकार हैं। 'राजा भोज का सपना' से लेकर 'चौथा ब्राह्मण' तक की कहानी बड़ी दिलचस्प है।

हिन्दी की कुछ प्रसिद्ध एवं प्रतिनिधि कहानियाँ हैं: प्रेमचन्द की कथा, कौशिक की तांड, सुदर्शन की एथेन्स का सत्यार्थी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की उसने कहा था राधिका रमण सिंह की कानों में कंगना, जैनेन्द्र कुमार जैन की फांसी, अज्ञेय की कविया, प्रियंवदा की वापसी, निर्मल वर्मा की लंदन की एक रात, बदी उज्जना की चौथा ब्राह्मण, जितेन्द्र भाटिया की एक आदमी का शहर, मृदुला गर्ग की कितनी कैदे, निरूपमा सेवती की शायद हाँ, शायद नहीं, दीप्ति खण्डेलवाल की शेष-अशेष, धर्मवीर भारती की बन्दनलीका आखिरी मकान, निर्मला वर्मा की परिदे, रवीन्द्र काहिया का काला रजिस्टर आदि।

26.4 सारांश

कहानी एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर लिखा गया नाटकीय आख्यान है। कहानी एक ऐसी रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही कहानीकार का उद्देश्य रहता है। वह अपने में पूर्ण एक गमले के सुन्दर पौधे के समान है। भागदौड़ के आज के युग में कहानी एक ऐसा आलोचना है, जो इतना छोटा होता है कि एक ही बैठक में पढ़ा जा सके और जो पाठक पर एक ही प्रभाव उत्पन्न करने के लिए लिखा गया हो। वह स्वतः पूर्ण होती है। कभी भी, कही भी, और वह भी कम समय में- मिनटों में- पढ़ी जा सकने की क्षमता व संभावना ने कहानी को अति लोकप्रिय बना दिया है।

कहानी के तत्व छः माने गये हैं जो इस प्रकार हैं:-

1. कथावस्तु, 2. चरित्र चित्रण, 3. कथोपकथन, 4. देश, काल और वातावरण, 5. उद्देश्य, 6. शैली।

शैली ही कहानी का प्राण है। कहानी के कलापूर्ण, संकेतात्मक शीर्षक से लेकर सभी तत्वों में व्याप्त होते हुए वह चरम सीमा और मार्मिक अन्त तक अपने प्रभाव को जमाये रहती है। कथावस्तु में दो एक प्रसंगों के माध्यम से जीवन के कोई एकाध पहलू को उजागर किया जाता है। चरित्र चित्रण में मानव चरित्र के किसी एक पक्ष पर प्रकाश डाला जाता है। कथोपकथन चलते हुये, स्वाभाविक व सजीव होते हैं। उद्देश्य मुख्यतः मनोरंजन होते हुए भी मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा एवं मानव मन का उद्घाटन है। कहानी का वर्गीकरण शैली और विषय के अनुसार किया जाता है। घटना-प्रधान, चरित्र प्रधान, वर्णन प्रधान एवं भाव प्रधान कहानियाँ हुआ करती हैं। सामाजिक, ऐतिहासिक, जासूसी, राजनीतिक सांस्कृतिक, हास्य व्यंग्य प्रधान कहानियाँ भी होती हैं।

कहानी उपन्यास के तत्वों से साम्य रखते हुये भी भिन्न और विशिष्ट है, उसमें जीवन की समग्रता के स्थान पर केवल जीवन के किसी एकाध पहलू को ही उजागर करने का प्रयास होता है तथ्य उसके शीर्षक, प्रारम्भ, चरमसीमा तथ्य मार्मिक अंत में एक ऐसी विशेषता होती है जो उसे उपन्यास से अलग सिद्ध करती है।

कहानी की कहानी इन्शा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' और राजा शिव प्रसाद हिन्द की 'राजा भोज का सपना' से शुरू होती है। महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती' पत्रिका ने कहानी के विकास में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान दिया है। प्रसादजी के 'इन्दु' पत्र का भी काफी योगदान रहा है। प्रसाद, प्रेमचन्द, गुलेरी, कौशिक, सुदर्शन, जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, अशक, यशपाल, पहाड़ी, मन्नू भंडारी, निर्मल वर्मा, प्रियंवदा, जितेन्द्र भाटिया, कमलेश्वर, धर्मवीर भारती, रवीन्द्र काहिया, बदी उज्जमा, मृदुला गर्ग, निरूपमा देवती, राजेन्द्र यादव आदि इस कहानी के विकास में अपना योगदान देने वाले प्रतिनिधि कहानीकार हैं।

26.5 पारिभाषिक शब्दावली

कथावस्तु	: कथानक
दृश्यकाव्य	: रंगमंच पर देखा जा सके, ऐसा काव्य रूप
नई कहानी	: कहानी के कलारूप में किये जाने वाले नये प्रयोग से युक्त कहानी
सचेतन कहानी	: नई कहानी का एक प्रकार
अकहानी	: नई कहानी का एक विशिष्ट प्रयोग
लोककथा	: मौखिक परंपरा से चली आनेवाली प्रचलित एवं लोकप्रिय कथा

26.6 अभ्यास

26.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. कहानी की परिभाषा देते हुए कहानी के तत्वों पर प्रकाश डालिए।
2. कहानी के विकास को विस्तार से समझाइये।
3. कहानी की लोकप्रियता के कारणों की चर्चा कीजिए।

26.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)

1. कहानी की भारतीय प्राचीन परम्परा पर प्रकाश डालिए।
2. कहानी की तुलना उपन्यास के साथ कीजिए।
3. कहानी पर पाश्चात्य कहानियों के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।

26.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

26.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: कहानी की परिभाषा देते हुए कहानी के तत्वों पर प्रकाश डालिए।
उत्तर: कहानी एक विशिष्ट साहित्यिक विधा है। भारतीय प्राचीन परम्परा के 'कथा-आख्यान' से संबंध रखते हुये भी कहानी उससे भिन्न कलारूप रखती है और पाश्चात्य कहानी (Short Story) से पूर्णतः प्रभावित है। 'कहानी एक ऐसा आयोजन है जो इतना छोटा होता है कि एक बैठक में पढ़ी जा सके और जो पाठक पर एक ही प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए लिखी गई हो। उसमें से ही बातों को छोड़ दिया जाता है, जो उसकी प्रभावोत्पादकता में बाधक हो। वह स्वतःपूर्ण होती है'- यह अमरीका के प्रसिद्ध कहानीकार एडगर एलन पो की परिभाषा है। कहानी में जीवन के किसी एक अंश, घटना या पहलू को चित्रित किया जाता है। कहानी किसी एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर लिखा गाय सीधा नाटकीय आख्यान है। कहानी एक धुमक की तान है, कहानी में अनावश्यक घटनाओं या विस्तार के लिए नाम मात्र की गुंजाइश नहीं होती। यदि उसमें सितार का वर्णन होता वह बजनी चाहिए, बन्दूक का वर्णन होता फूटनी चाहिए।

कहानी के छः तत्व होते हैं:-

1. कथावस्तु, 2। चरित्र चित्रण, 3. कथोपकथन, 4. देश, काल और वातावरण, 5. उद्देश्य, 6. शैली।

कथावस्तु या कथानक वह प्रधान तत्व है जिसके आधार पर कहानी आकार ग्रहण करती है। कथावस्तु के भी चार भाग होते हैं- 1. प्रस्तावना, 2. मुख्यांश, 3. चरमसीमा, 4. मार्मिक अंत। प्रस्तावना भाग कहानी की भूमिका है, मुख्यांश में संघर्ष तथा विकास दिखाया जाता है, चरम सीमा में अंत की संभावना देखी जाती है और अंत में रहस्योद्घाटन करने वाली प्रभावोत्पादक मार्मिक अंत होता है। कथावस्तु जीवन की किसी एकाध घटना, मनोभाव, पहलू या परिस्थिति को ही प्रस्तुत करती है।

चरित्र चित्रण का महत्व अब कथावस्तु से भी अधिक माना जाता है। कहानी में दो-तीन पाठों की चरित्रिक विशेषता पर प्रकाश डाला जाता है। चरित्र चित्रण में कहानीकार किसी एक सत्य की व्याख्या करता है जिसका आधार मनोविज्ञान होता है। कम शब्दों में, कम प्रसंगों तथा कम संवादों द्वारा चरित्र चित्रण करना एक कला है, जिसमें एक सफल कहानीकार ही हस्त सिद्ध हो सकता है। विचारों की प्रक्रिया से किया जाने वाला मनो वैज्ञानिक चरित्र चित्रण श्रेष्ठ होता है।

कथोपकथन में सहजता, सरलता, स्वाभाविकता व पात्रानुकूलता व पात्रानुरूपता होनी चाहिए। कहानी में संवाद छोटे और सजीवन होने चाहिए। कथोपकथन के द्वारा कहानी में गति प्रदान होती है तथा पात्रों का चरित्र चित्रण भी होता है। देश, काल और वातावरण से कहानी की पृष्ठ भूमि तैयार होती है। इसी के परिणाम स्वरूप कहानी जीवन की प्रतिच्छाया प्रतीत होती है। इसी तत्व का निरूपण स्वाभाविक, आकर्षक, संकेतात्मक तथा कथासंभव पात्रों की मनः स्थिति के अनुरूप होना चाहिए।

कहानी का पाँचवा तत्व उद्देश्य है। कहानी का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन होते हुये भी मानव चित्त वृत्तियों का परिष्कार, मानव समाज का कल्याण, सामाजिक परिवर्तन, मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा आदि होता है। शैली तत्व कहानी का छठा तत्व है। शैली के कारण ही कहानी कहानी कहलाने योग्य बनती है। शैली कहानी की त्वचा के समान है जो आद्यन्त कहानी के शरीर पर चढ़ी रहती है। इसे कहानी का प्राण भी कहा जा सकता है। यद्यपि कहानी लिखने की एक विशिष्ट शैली होती है, फिर भी प्रत्येक कहानीकार की कहानी लिखने की अपनी विशिष्ट शैली होती है जिसके आधार पर उस कहानीकार की पहचान बनती है।

26.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: कहानी की तुलना उपन्यास के साथ कीजिए।

उत्तर: कहानी उपन्यास के निकट होते हुये भी भिन्न, स्वतंत्र एवं विशिष्ट कलारूप है। दोनों के तत्व, दोनों का उद्देश्य समान—सा होते हुये भी उपन्यास समग्र जीवन को प्रस्तुत करता है जबकि कहानी जीवन के एकाध पहलू को ही। उपन्यास बड़ा होता है और कहानी छोटी किंतु आकार भेद तो केवल स्थूल और बाहरी है। मूल अंतर उपन्यास और कहानी की आंतरिक संरचना में होता है। उपन्यास की कथावस्तु विस्तृत व अनेक समस्याओं को लेकर हो सकती है जबकि कहानी की कथावस्तु सीमित व एकाध समस्या को ही वह रेखांकित करती है। उपन्यासों में देश, काल व वातावरण की व्यापकता होती है जबकि कहानी में संक्षिप्त रूप में तथा सांकेतिक रूप में उपस्थित होते हैं। उपन्यासों में पात्रों की विविधता व अनेक पात्र होते हैं, जबकि कहानी में दो-तीन पात्र ही होते हैं। कहानी में चरम-सीमा होती है, जबकि उपन्यास में नहीं। उपन्यास महाकाव्य के समान है तो कहानी गीतिकाव्य के समान। उपन्यास रंग बिरंगे फूलों वाला उद्यान है तो कहानी एक एक सुन्दर सजा हुआ गमला।

26.8 पठनीय पुस्तकें

- | | | |
|--------------------------------|---|-------------------------|
| 1. कहानी : स्वरूप और संवेदना | - | राजेन्द्र यादव |
| 2. आधुनिक हिन्दी कहानी | - | लक्ष्मी नारायण लाल |
| 3. हिन्दी कहानी और कहानीकार | - | प्रो.वासुदेव |
| 4. हिन्दी कहानी | - | डॉ. इन्दुनाथ मदान |
| 5. कहानी: नई कहानी | - | डॉ. नामवर सिंह |
| 6. नई कहानी की रचना प्रक्रिया | - | डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव |
| 7. समकालीन कहानी का रचना संसार | - | डॉ. गंगा प्रसाद विमल |
| 8. नई कहानी की भूमिका | - | कमलेश्वर |

इकाई-27: निबंध: परिभाषा, तत्व, प्रकार और विकास

- 27.0 विषय प्रवेश
- 27.1 उद्देश्य
- 27.2 पाठ परिचय
- 27.3 मूलपाठ
- 27.4 सारांश
- 27.5 पारिभाषिक शब्दावली
- 27.6 अभ्यास
 - 27.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)
 - 27.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)
- 27.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 27.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 27.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 27.8 पठनीय पुस्तकें

27.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में साहित्य की विधा 'निबंध' पर विचार किया गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप:

- निबंध के स्वरूप पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- निबंध की परिभाषा को रेखांकित कर सकेंगे।
- निबंध के तत्वों को समझ सकेंगे।
- निबंध के प्रकारों को जान सकेंगे।
- निबंध के विकास पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- निबंध के महत्व को समझ सकेंगे।

27.2 पाठ परिचय

निबंध गद्य में प्रस्तुत होने वाली साहित्य की एक विशिष्ट विधा है, जिसमें द्वारा लेखक अपने मनोभावों, विचारों, दर्शन आदि को मौलिक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से पाठकों के मन तक पहुँचाने का सफल प्रयास करता है। साहित्य की सभी विधाओं में अधिक गंभीर तथा स्थायी प्रभाव जमाने की क्षमता-सभावना को लेकर चलने वाली विधा यही है, जिसके माध्यम से निबंधकार अपने परिपक्व विचारों या जीवन दर्शन को साहित्यिक शैली में पाठकों तक पहुँचाता है। जहाँ साहित्य की अन्य विधाएँ भावों की वाहक होती हैं, वहाँ निबंध विचारों का सक्षम वाहक होता है। भाव की अपेक्षा विचार अधिक विकसित तत्व है। भाव से मनुष्य जीता है और विचार से मनुष्य श्रेष्ठ ढंग से जीना सीखता है। सृष्टि के आज तक के विकास में विचार तत्व ही मूल रूप से स्थित है।

निबंध कला के जन्म और विकास के साथ तथा मुद्रण कला के आविष्कार के बाद विचार की व्याप्ति का एक से अनेक तक पहुँचना सुलभ, सुगम और संभव हो गया। निबंध का अर्थ संस्कृत में 'सँवार कर सीना' है। प्राचीन काल में हस्त लिखित ग्रंथों को या ताड़पत्रों को सीया या बांधा था। वैसे मूलतः निबंध शब्द का अर्थ-बंधना, रोकना, कसना, जकड़ना आदि होता है। निबंध लेखन की कला प्राचीन होते हुये भी अंग्रेजी निबंध कला (Essay) से सीधे प्रभावित है।

27.3 मूलपाठ

निबंध अल्पतम शब्दों में अधिकतम कथन प्रस्तुत करने वाली एक गंभीर साहित्यिक विधा है, जो गद्य में लिखी जाती है। निबंध विचारों का वाहक होने से अपेक्षाकृत अधिक उपादेय साहित्यिक विधा है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के 'हिन्दी शब्द सागर' के अनुसार निबंध वह व्याख्या है, जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो।

निबंध की परम्परा काफी प्राचीन है। पुरातन काल में हस्त लिखित ग्रंथों को सँवार कर सिंहा या बौद्धा जाता थे। प्रारंभ में इसी को निबंध कहते थे।

निबंध का अर्थ ही संस्कृत में 'सँवार कर सीना' है। भोजपत्रों या हस्त लिखित ग्रंथों को बँधने या सीने की परम्परा के आधार पर निबंध का एक अर्थ बँधना या रोकना भी है जिसके अनुसार विचारों को बिखरने से रोकना या व्यवस्थित रूप देना ही निबंध का लक्षण माना गया। बड़े निबंध को प्रबंध कहा जाने लगा। निबंध के लिए न्यासशैली और समाज शैली का शब्द प्रयोग भी यही सिद्ध करता है कि निबंध प्राचीन भारतीय साहित्यिक परम्परा का एक विशिष्ट प्रकार था। संस्कृत के विद्वानों, आचार्यों, दार्शनिकों तथा धर्म-धुरंधरों ने निबंध लेखन के लिए विशेष उत्साह दिखाया था। यह और बात है कि आज के व्यक्तित्व प्रधान, भावात्मक, काव्यमय निबंध तब नहीं लिखे जाते थे, तथापि निबंध विचारों के वाहक के रूप में तो निश्चित ही प्रचलित थे। प्राचीन काल में बौद्धिक और तार्किक विषयों की विवेचना के लिए निबंधों का ही आश्रय लेना पड़ता है। तबकी निबंध शैली में तार्किक चिंतन और दार्शनिक सिद्धांत-निरूपण या प्रतिपादन के कारण एक प्रकार की शुष्कता अधिक हुआ करती थी। उनमें रसात्मकता का अभाव हुआ करता था। उनमें लेखक का व्यक्तित्व भी प्रतिफलित नहीं होता था। आज के निबंध व्यक्तित्व प्रधान, भावात्मक, काव्यपूर्ण, रसमय तथा प्रभावपूर्ण होते हैं।

आज का निबंध पाश्चात्य निबंध शैली से काफी प्रभावित है। अंगरेजी में निबंध को 'Essay' कहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी के अनुसार निबंध गद्य की कसौटी है। 'Essay' शब्द का व्युत्पत्ति गत अर्थ 'प्रयास' या 'प्रयत्न' है। जब हम निबंध पर पड़े हुये पाश्चात्य प्रभाव को स्वीकार करते हैं तब उनके विद्वानों द्वारा दी गई निबंध की परिभाषाओं पर भी विचार करना चाहिए। निबंध एक ऐसा लेख है, जिसमें अनेक विचारों, मतों या व्याख्याओं का सम्मिश्रण या ग्रंथन हो। सुप्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान मोन्टेन (Montane) ने सर्व प्रथम 'Essay' शब्द का प्रयोग किया था। मोन्टेन के अनुसार निबंध वैयक्तिक विचार या अनुभूति को कलात्मक युग में पिरो देने का ही प्रयत्न मात्र है।

निबंध निबंधकार की विद्वता व व्यक्तित्व को गंभीर रूप से वैचारिक धरातल पर प्रस्तुत करता है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. जानसन का कथन है कि निबंध मन की एक ऐसी विश्रुतल विचार तरंग है, जो अनियमित और अपच है। निबंध वस्तु में मन का एक आकस्मिक और उच्छुल्ल आवेग है— असम्बद्ध और चिन्तनहीन बुद्धि विलास मात्र है। जे.वी.प्रीस्टले (J.V. Priestley) का कथन है कि निबंध वह साहित्यिक रचना है, जिसे एक निबंधकार ने रचा हो। एक और विद्वान के अनुसार लेखक की सामयिक चिन्तवृत्तियों की बड़ी सुंदरता से व्यक्त करने वाली साहित्यिक विधा को निबंध कहते हैं।

प्रारम्भिक अंग्रेजी निबंध असम्बद्ध, उच्छुल्ल एवं कम गंभीर हुआ करते थे किंतु आगे चलकर निबंध भी गंभीर विचारों के वाहक के रूप में तथा सुसम्बद्ध और प्रौढ़ रचना के रूप में तथा सुसम्बद्ध और प्रौढ़ रचना के रूप में प्रचलित और विकसित होने लगा। इसीलिए फ्रांसिस बेकन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि इसी विचारों की अभिव्यक्ति का एक गंभीर माध्यम मानते हैं। वस्तुतः निबंध गद्य की वह विधा है, जिसमें निबंधकार एक सीमित आकार में इस विविध रूपात्मक जगत् के प्रति अपने भावात्मक एवं विचारात्मक प्रतिभावों को अभिव्यक्त करता है।

इन परिभाषाओं के आधार पर हम निबंध के लक्षणों को संक्षेप में इस प्रकार समझ सकते हैं— निबंध गद्य में प्रस्तुत होने वाला एक प्रकार का स्वगत भाषा है, जिसमें वैयक्तिकता की प्राधानता होती है, वह विचारों

के प्रकाशन का श्रेष्ठ माध्यम है, वह अपने में स्वतः पूर्ण और स्पष्ट होता है। निबंध का आकार सीमित होना चाहिए— न वह बहुत बड़ा हो, न बिल्कुल छोटा। निबंध में विस्तार पूर्वक समझाने वाली शैली को न्यास शैली कहते हैं, जबकि संक्षेप में सूत्रों या संकेतों से समझाने की शैली को समास शैली कहते हैं।

निबंध, प्रस्तावना या भूमिका, मुख्यांश, उनका निरूपण—प्रतिपादन तथा निष्कर्ष— इन आधारों को लेकर लिखा जाता है। निबंध का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है।

1. वर्णनात्मक, 2. विवरणात्मक, 3. विचारात्मक, 4. भावात्मक, 5. विश्लेषणात्मक, 6. व्यंग्यात्मक

वर्णनात्मक निबंध में प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन, पर्व, महीना वर्णन, ऋतु, सौन्दर्य का वर्ण, तीर्थ या दर्शनीय स्थान या दृश्य का वर्णन आदि हुआ करता है। वर्णनात्मक निबंध में दृश्यों का और स्थानगत वर्णनों का महत्व अधिक होता है। वर्णनात्मक निबंध शैली को न्यास शैली कहते हैं। न्यास शैली से तात्पर्य है—वर्ण्यवस्तु की विस्तृत आलोचना—विवेचना। इसमें निबंधकार का प्रयास होता है कि पाठक को अपनी बात विस्तार से तथा संपूर्णता के साथ समाझा दी जाय। निबंध में न्यास शैली काफी प्रचलित रही। आज भी निबंधकार कभी कभी इस शैली का बराबर प्रयोग करते हैं।

विवरणात्मक निबंध में गतिशील या क्रियाशील वस्तुओं का तथा काल एवं परिस्थितियों का पूरा-पूरा विवरण देते हुए वर्णन किया जाता है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबंधों में यदि अन्तर है तो वह है, घटनात्मकता और कथात्मकता का। शिकार, पर्वतारोहण, दुर्गम आदि विवरणात्मक निबंधों में किया जाता है। ऐतिहासिक घटनाओं, महापुरुषों की विवरणात्मक जीवन नियमों तथा यात्राओं का वर्णन भी विवरणात्मक निबंधों के अन्तर्गत हुआ करते हैं।

विचारात्मक या विवेचनात्मक निबंधों में गंभीर विचारों को प्रस्तुत और प्रतिपादित किया जाता है। दार्शनिक, आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक आदि विषयों की विवेचना ऐसे ही निबंधों में रहती है। गम्भीर अध्ययन, मनन और सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा व्यापक अनुभव के आधार पर ऐसे निबंध लिखे जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि के निबंध इसी वर्ग में आते हैं। विचारात्मक निबंध न्यास शैली के अतिरिक्त समास शैली में भी लिखे जाते हैं। समास शैली में संक्षिप्तता, सीधे और प्रत्यक्ष कथन पर बल दिया जाता है। अर्थात् अल्पतम शब्दों में अधिकतम कथन, यह समास शैली की विशेषता है।

भावात्मक निबंध का संबंध भावों से होता है। इसमें बुद्धितत्व की अपेक्षा भाव तत्व की प्रधानता अधिक होती है। भावात्मक निबंधों में एक प्रकार का काव्यत्व तथा साहित्यिक सौन्दर्य देखा जा सकता है। भावात्मक निबंधों में दो प्रकार की शैली का प्रयोग किया जाता है। (1) विक्षेप शैली या तरंग शैली (2) धारा शैली। विक्षेप शैली में हम एक प्रकार की असम्बद्धता, उच्छ्वलता, मर्म स्पर्शी अंशों की आवृत्ति तथा स्फुट प्रसंगों का निरूपण पाते हैं। धारा शैली में भावों का प्रवाह काव्य में पाया जाता है और उसकी गति में हम एक संगति, एक तारतम्य पा सकते हैं। डॉ. रघुवीर सिंह के भावात्मक निबंध विक्षेप शैली में लिखे गये हैं। पदम सिंह शर्मा तथा अध्यापक पूर्ण सिंह के निबंधों में हम धारा शैली पाते हैं। कई निबंधकारों के भावात्मक निबंधों में इन दोनों शैलियों का मिश्रण होता है।

विश्लेषणात्मक निबंध ज्ञान-विज्ञान, मनोविज्ञान, आलोचना आदि के संबंध में गवेषणात्मक शैली में लिखे जाते हैं। व्यंग्यात्मक निबंधों सुरुचिपूर्ण हास्य-व्यंग्य की प्राधानता होती है और निबंधकार की शैली गंभीर न होकर एक हलकापन लिए हुये चलती है। हिन्दी के प्रारम्भिक निबंधकार पं. बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र आदि के निबंध इसी प्रकार के हैं।

निबंधों का विकास:

प्राचीन परम्पराओं से जुड़े रहते हुए भी आज का निबंध पाश्चात्य निबंध शैली से स्पष्टतः और पर्याप्त प्रभावित है। फ्रांसिस बंकरन, मौनटोन, मेकाल आदि के निबंधों का हिन्दी में अनुवाद भी हुआ था। हिन्दी साहित्य में निबंध का विकास मुद्रण कला के आविष्कार तथा गद्य के विकास के साथ हुआ। सामाजिक तथा राजनीतिक जागरण ने भी निबंध लेखन की प्रवृत्ति को तीव्रता प्रदान की।

हिन्दी निबंधों के विकास को भारतेन्दु काल, द्विवेदी काल, शुक्ल काल तथा शुक्लोत्तर काल में विभाजित किया जा सकता है। निबंध लेखन की प्रवृत्ति का विधिवत् एवं व्यवस्थित प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काल में हुआ। भारतेन्दु युग का समय सन् 1873 ई. से सन् 1903 ई. तक का माना गया है। इस काल में निबंधकारों में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काफी निबंध लिखे तथा भारतेन्दु मंडली बना कर और अन्य साहित्यकारों को निबंध लिखने के लिये प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया। ये सफल कवि, नाट्यकार के साथ-2 उत्साही निबंधकार भी थे। इन्होंने ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आलोचनात्मक, शोध-संबंधी, यात्रा-वर्णन, प्रकृति वर्णन, व्यंग्य विनोद आदि सभी विषयों पर प्रभावोत्पादक निबंध लिखे। भारतेन्दु के निबंधों में विषयानुरूप विभिन्न भाषा शैलियों का प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा व्यंजनापूर्ण, विद्वतापूर्ण, सजीव और स्पष्ट है। विषय वैविध्य एवं भाषा शैली प्रयोग की दृष्टि से भारतेन्दु निबंध महत्वपूर्ण है।

भारतेन्दु युग:

भारतेन्दु युग के प्रसिद्ध एवं प्रतिनिधि निबंधकारों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बाल मुकुंद गुप्त, बद्रीनारायण 'प्रेमधन', अम्बिकादत्त व्यास के नाम विशेष रूप से महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं। पत्र-पत्रिका प्रकाशन की प्रवृत्ति भी भारतेन्दुकाल में जोर शोर से चलती रही। इन पत्र-पत्रिकाओं का योगदान भी निबंध साहित्य के विकास में काफी रहा। 'हिन्दी प्रदीप' पत्र के माध्यम से उसके सम्पादक बाल कृष्ण भट्ट ने स्वयं निबंध लिखकर तथा अन्य लेखकों से निबंध लिखवाकर उन्हें प्रकाशित करवा कर साहित्य की सेवा की। 'ब्राह्मण' पत्र के सम्पादक प्रताप नारायण मिश्र ने भी इसी प्रकार से निबंध साहित्य को समृद्ध किया। बद्री नारायण 'प्रेमधन' ने 'नागरी नीरद' नामक साप्ताहिक तथा 'आनन्द कादम्बिनी' नामक मासिक के माध्यम से हिन्दी निबंध साहित्य के विकास में अपना योग दिया।

बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु युग एवं द्विवेदी युग के बीच की कड़ी के समान थे। इन्होंने 'बंगवासी' तथा 'भारत मित्र' आदि पत्र-पत्रिकाएँ निकाली तथा अनेक निबंध लिखे, जिनमें एक ही हास्य व्यंग्य पाया गया। ये 'शिव शम्भु' के उपनाम से 'शिव शम्भु का चिट्ठा' नियमित रूप से लिखते रहे, इसमें अंग्रेजी निबंधों के समान व्यंग्य शैली का विकास हुआ।

वस्तुतः भारतेन्दु काल के निबंधकारों ने कई विषयों पर कई शैलियों में निबंध लिखकर बड़ी तेजी से निबंध साहित्य का विकास किया। इन निबंधकारों के विषय राष्ट्र-प्रेम, देश-गौरव, नारी शिक्षा, नारी जागरण, राजनीति, प्राचीन संस्कृति आदि के संबंध में हुआ करते थे और गंभीरता के साथ कहीं-कहीं हास्य-व्यंग्य विनोद प्रधान शैली भी प्रयुक्त हुई।

द्विवेदी युग:

द्विवेदी युग के प्रारम्भ से हिन्दी निबंध लेखन की कला का विशेष और व्यवस्थित विकास हुआ। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' नामक शुद्ध साहित्यिक पत्रिका का सम्पादन कर साहित्य की अपूर्व सेवा की। इसी के अन्तर्गत निबंध साहित्य के विकास के लिए इनका योगदान महत्वपूर्ण रहा। निबंध के उपर्युक्त भाषा शैली का निर्धारण इसी युग में हुआ। निबंध शैली में पाया जाने वाला बिखराव अब कम होने लगा तथा उसमें गंभीरता, विशदता एवं साहित्यिक-भावात्मक सौन्दर्य के तत्व विकसित होने लगे। विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, आलोचनात्मक-सभी प्रकार के निबंध इस काल में लिखे जाने लगे। निबंध शैली में गंभीरता, विशदता व सूक्ष्मता आने लगी। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक आदि विषयों के अतिरिक्त जीवन की बहुमुखी आलोचना भी प्रारम्भ हुई। निबंध की नवीन शैली का तथा निबंध के उपर्युक्त गद्य स्वरूप का द्विवेदी युग में पर्याप्त विकास हुआ। अंग्रेजी के कुछ श्रेष्ठ निबंधकारों के निबंधों का अनुवाद भी इसी युग में होने लगा।

निबंधकार द्विवेदी जी की दृष्टि में फ्रांसिस बेकन, एक आदर्श निबंधकार थे। उन्होंने बेकन के निबंधों का अनुवाद 'बेकन विचार-रत्नावली' के नाम से किया। इन्होंने न्यास शैली का प्रयोग कर अपने निबंधों में विशदता के गुण को काफी उभारा। इनकी भाषा स्पष्ट, शैली सार्थक तथा विचार सुलझे हुये हैं। द्विवेदी जी का प्रमुख निबंध संग्रह 'रसज्ञ-रंजन' साहित्यिक एवं सरस निबंध संग्रह है। फ्रांसिस बेकन के समान इन्होंने निबंधों में विचारों को प्रमुखता दी है। विषयानुरूप गंभीरता इनकी भाषा शैली की सबसे बड़ी विशेषता रही है। गंभीर होते हुए भी इनके निबंध सरस व सरल होते हैं।

द्विवेदी युग के निबंधकारों में बाबू श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्ण सिंह, गोविन्द नारायण मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इत्यादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सब की शैली में अपनी एक निजी विशिष्टता पायी जाती है। बाबू श्याम सुन्दर दास ने प्रायः गम्भीर एवं आलोचनात्मक निबंध लिखे। उनकी शैली गम्भीर होते हुए भी स्पष्ट एवं सरल है। इनके निबंधों में मौलिक विचारों का संग्रह तथा उनका परम्परागत एवं नवीन विचारों के साथ पुरा-पुरा समन्वय पाया जाता है। निबंध प्रायः साहित्यिक विषयों पर ही हैं।

पद्मसिंह शर्मा के निबंध जीवनीपरक, संस्मरण प्रधान या समीक्षात्मक हुआ करते हैं। इनके दो निबंध संग्रह 'पद्म पराग' और 'प्रबंध मंजरी' हिन्दी निबंध साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इनकी शैली में भावात्मकता, वैयक्तिकता एवं सरसता की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। पद्मसिंह शर्मा तुलनात्मक समालोचना के जन्मदाता माने जाते हैं। हिन्दी निबंध साहित्य के क्षेत्र में इनको काफी मान्यता प्राप्त हुई।

अध्यापकपूर्ण सिंह और पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपने शैली-वैशिष्ट्य के लिए काफी प्रतिद्ध हैं। अध्यापक पूर्ण सिंह के निबंध बड़े जोशीले, भावात्मक तथा प्रगतिशील होते हैं। लाक्षणिकता से पूर्ण तथा व्यंग्य से युक्त इनके निबंध आज भी हिन्दी निबंध साहित्य की अमूल्य निधि हैं। गुलेरी जी के निबंध संख्या में गिनती मात्र के होते हुए भी अपने समन्वय वादी दृष्टिकोण के कारण तथा शैली के सुंदर सरस प्रवाह के कारण हिन्दी के श्रेष्ठ निबंधों में उल्लेखनीय हैं। व्यक्तित्व प्रधान होने से इनके निबंध बड़े हृदय स्पर्शी एवं सजीव होते हैं।

शुक्ल युग:

शुक्ल युग में हिन्दी निबंध ने विकास की तीसरी मजिल को पार करना शुरू किया। अब तक के निबंध विचारों के संग्रह मात्र थे। हां, यह जरूर है कि निबंध के उपर्युक्त भाषा शैली आदि का निर्माण-निर्धारण हो गया था। व्यंग्यात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक और विवरणात्मक आदि कई प्रकार के निबंध लिखे जा चुके थे। किंतु विश्लेषणात्मक एवं मनोवैज्ञानिक निबंध पहली बार ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखे। 'चिंता मणि' निबंध संग्रह के निबंधों में एक प्रकार की सूक्ष्म, गंभीर, मनो वैज्ञानिक, रसमय विषय सृष्टि सामने आयी जिसके लिए प्रौढ़तम शैली भी प्रयुक्त हुई। इनका चिंतन मौलिक, विवेचन गंभीर, विश्लेषण सूक्ष्म तथा शैली प्रौढ़ है। निबंध के प्राण समान समझा जाने वाला वैयक्तिकता का तत्व इनके प्रायः सभी निबंधों में यत्र-तत्र सर्वत्र उपलब्ध होता है। साथ ही साथ भावात्मक एवं व्यंग्यात्मक का पुट भी इन निबंधों में बराबर पाया जाता है। मानव मन की वृत्तियों और प्रवृत्तियों पर लिखे गये इनके उत्साह, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, श्रद्धा, भक्ति आदि निबंध हिन्दी साहित्य में अपूर्व एवं अभूतपूर्व हैं। इन्होंने अपने भीतर के साहित्यकार की पूरी रक्षा करते हुये अपने को एक मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय के रूप में इन निबंधों में प्रस्तुत किया है। इनके साहित्यिक एवं समालोचनात्मक निबंध 'साधारणीकरण', 'कविता क्या है?' 'काव्य में लोक मंगल की साधानावस्था' इत्यादि हिन्दी के श्रेष्ठतम निबंधों में से हैं। इनकी मौलिकता अद्वितीय है। हिन्दी साहित्य जगत् में ये इतिहासकार, आलोचक और निबंधकार के रूप में अपनी अमिट छाप छोड़ गये।

शुक्ल युग के निबंधकारों में डॉ. गुलाबराय प्रमुख निबंधकार हैं। इनकी शैली डॉ. श्याम सुन्दर दास तथा आचार्य शुक्लजी की शैली के मिश्रण से बनी है, ऐसा प्रतीत होता है। इनका जीवन समाज और साहित्य संबंधी अध्ययन काफी गहरा रहा है, जिसकी पूर्ण झलक इनके निबंधों में देखी जा सकती है। इनके विचारात्मक, भावात्मक एवं आलोचनात्मक सभी प्रकार के निबंध प्रभावोत्पादक हैं। इनके निबंधों में काल की रमणीयता का अनुभव होता है। भाषा के प्रवाह में आ जाने वाले उर्दू शब्दों का प्रयोग इन निबंधों में एक प्रकार की सरसता और सहजता को उभारता है। मनोवैज्ञानिक प्रतिपादन शैली इनके निबंधों की विशेषता है। इनके निबंधों में व्यंग्य भी स्थान-स्थान पर मिलता है।

शुक्ल युग के अन्य महत्वपूर्ण निबंधकारों में पदुम लाल पुन्ना लाल बख्शी, वियोगी हरि, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शुक्ल युग में निबंध लेखन की शैली और भी परिष्कृत हुई, भाषा और भी अधिक परिमार्जित हुई तथा विषयों की गंभीरता, सूक्ष्मता तथा मौलिकता और भी अधिक बढ़ गई। निश्चित ही इस युग में निबंध साहित्य विशेष रूप से समृद्ध सम्पन्न तथा प्रौढ़ हुआ।

शुक्लोत्तर युग:

शुक्लोत्तर युग के निबंधकारों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम प्रथम गण्य है। इनके निबंध मुख्यतः विचारात्मक एवं बौद्धिक हैं, किंतु तब भी भावुकता का इन्होंने सर्वथा त्याग नहीं किया है। इसी कारण इनके निबंध गंभीर होते हुए भी शुष्क नहीं हैं; अपितु सरस और आकर्षक हैं। इनका व्यक्तित्व निबंधों में बराबर प्रस्फुटित होते रहता है। मौलिक और स्वतंत्र विचार इनके निबंधों का सबसे प्रमुख प्रभावोत्पादक तत्व है। इनके निबंधों में गहन अध्ययन, सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा प्राचीन साहित्य की गवेषणा स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

शुक्लोत्तर युग के दूसरे महत्वपूर्ण निबंधकार हैं— आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी। इनके निबंध शैली की दृष्टि से अद्भुत होते हैं और काव्यमय होते हैं। विषय की दृष्टि से ये आलोचना के अन्तर्गत भी आजाते हैं। इनके निबंध प्रायः विचारात्मक होते हैं, जो मौलिक चिंतन-मनन का प्रमाण देते हैं। व्यक्तित्व की छाप लेकर चलने वाले ये निबंध प्रतिपादन शैली की विशेषता के कारण व्यक्तित्व की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं होने देते।

पं. शान्ति प्रिय द्विवेदी के निबंध स्वानुभूतिपरक, सरस और मार्मिक होते हैं। इनकी शैली सरसता और प्रभावोत्पादकता की व्यापक एवं गहरी छाप लिए हुए चलती है। हिन्दी निबंध साहित्य में इनके निबंधों का विशेष स्थान है। इन्होंने मुख्यतः साहित्य एवं कला संबंधी विषयों पर ही विचारात्मक एवं भावात्मक निबंध लिखे हैं।

आधुनिक युग के निबंधकारों में डॉ. नगेन्द्र ने अपने साहित्यिक एवं आलोचनात्मक निबंधों से हिन्दी निबंध साहित्य को न केवल समृद्ध किया, अपितु उसे पूर्ण रूप से गौरवान्वित भी किया। मूलस्वर विषय-प्रधान होते हुए भी इनके निबंधों में आत्मभिव्यक्ति की झलक भी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। समस्या-निरूपण और समस्या-समाधान इनके निबंधों की सबसे बड़ी खूबी है। गूढ़ से गूढ़ विषय को भी पाठकों के लिए रोचक तथा ग्राह्य रूप में प्रस्तुत करना इन से सीखा जा सकता है। इनके निबंधों में जहाँ विचारों की गंभीरता पायी जाती है, वहाँ चिंतन की मौलिकता भी देखी जा सकती है तथा इन दोनों की सुन्दरता को पाठकों के हृदय में उतार देने वाली शैली की रोचकता तो इनमें अद्भुत है।

डॉ. विनय मोहन शर्मा, जेनेन्द्र कुमार, डॉ. राम विलास शर्मा, डॉ. भगवती शरण उपध्याय, डॉ. भगीरथ मिश्र, नलिन विलोचन शर्मा, प्रभाकर माचवे आदि अनेक निबंधकारों ने गंभीर या व्यंग्यपूर्ण निबंध लिखकर हिन्दी निबंध साहित्य के विकास में अपना अपूर्व योगदान दिया है। संख्या और गुण वत्ता, दोनों दृष्टि से हिन्दी निबंध ने कम समय में काफी उन्नति कर ली है। भारतेन्दु काल से लेकर आज तक का निबंध साहित्य उत्तरोत्तर विकास ही करता रहा है। हिन्दी निबंध साहित्य का अन्य भारतीय भाषाओं में जो अनुवाद हो रहा है, वह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी निबंध साहित्य का भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल है।

27.4 सारांश

निबंध साहित्य की एक विशेष विधा है, जो गद्य में लिखी जाती है। निबंध विचारों के वाहक होने से बड़े उपयोगी और महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। आजका युग विचार और प्रचार का है। इसीलिए आधुनिक युग में निबंध साहित्य का अधिक विकास हुआ। मुद्रण कला के आविष्कार ने इसके विकास के क्रम को वेग देने में अपना खास योगदान दिया।

निबंध की परम्परा काफी प्राचीन है। संस्कृत में निबंध का अर्थ होता है 'सँवार कर सीना' या 'बाँधना'। पुरातन काल में हस्त लिखित ग्रंथों को या ताड़ पत्रों को सिया बाँधा जाता था। निबंध शब्द के प्रयोग का मूल इसी अर्थ से जुड़ा हुआ है। प्राचीन परम्परा से जुड़े रहते हुए भी आज का निबंध पाश्चात्य निबंध शैली से पूर्ण रूपेण प्रभावित है।

निबंध अल्पतम शब्दों में अधिकतम कथन प्रस्तुत करने वाली एक गंभीर साहित्यिक विधा है। बड़े निबंध को प्राचीन काल में निबंध कहते थे। आज का निबंध अंग्रेजी निबंध (Essay) से प्रभावित होने से हमें

'Essay' शब्द को समझाना होगा। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार निबंध गद्य की कसौटी है। एक अन्य विद्वान के अनुसार निबंध एक ऐसा लेख है जिसमें अनेक विचारों, मतों या व्याख्याओं का सम्मिश्रण या ग्रंथन हो। डॉ. जानसन के अनुसार निबंध मन की एक ऐसी विशुद्ध विचार तरंग है, जो अनियमित और अपच है। आगे चलकर निबंध गंभीर विचारों का वाहक माना गया तथा सुसम्बद्ध, सुशुद्ध प्रौढ़ रचना के रूप में प्रचलित और विकसित होने लगा। विचारों की अभिव्यक्ति के एक गंभीर माध्यम के रूप में उसका स्वीकार और प्रयोग होने लगा। निबंध न बहुत बड़ा होता है और न बहुत छोटा। संक्षेप में निबंध गद्य की वह विशिष्ट विधा है, जिसमें निबंधकार एक सीमित आकार में इस विविध रूपात्मक जगत् के प्रति अपने भावात्मक एवं विचारात्मक मनोभावों को अभिव्यक्त करता है।

निबंध की कई शैलियाँ होती हैं जैसे- न्यास शैली, समास शैली इत्यादि। निबंध कई प्रकार के होते हैं, जैसे वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, विश्लेषणात्मक, व्यंग्यात्मक आदि।

निबंध के विकास को हम भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, शुक्ल युग तथा शुक्लोत्तर युग के चार उत्थानों में विभक्त कर सकते हैं। भारतेन्दु काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनकी मण्डली के लेखकों ने समाजसुधार, राष्ट्रीय जागरण आदि विषयों पर निबंध लिखे। जिनमें व्यंग्य और हास्य का पुट काफी रहा। द्विवेदी युग में पाश्चात्य प्रभाव काफी रहा और निबंध की विधा अधिक व्यवस्थित, परिमार्जित तथा गंभीर एवं साहित्यिक स्वरूप को धारण कर सकी। शुक्ल युग में विश्लेषणात्मकता तथा मनो वैज्ञानिकता का पुट पाटा गया। निबंध विधा में काफी प्रौढ़ता पर शैली का विकास हुआ। निबंध की विधा को मान्यता तथा लोक प्रियता इसी काल में प्राप्त हुई।

27.5 पारिभाषिक शब्दावली

न्यासशैली	: विस्तार से समझाने वाली शैली
समास शैली	: संक्षिप्त, सूत्रात्मक एवं संकेतात्मक शैली
विक्षेप शैली	: वह शैली, जिसमें एक प्रकार की असम्बद्धता पायी जाती है।
धारा शैली	: वह शैली, जिसमें विचारों का तारतम्य प्रवाहमय हो।
भारतेन्दु युग	: भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन लेखकों का युग
द्विवेदी युग	: महावीर प्रसाद द्विवेदी के समकालीन लेखकों का युग।
शुक्ल युग	: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समकालीन लेखकों का युग
शुक्लोत्तर युग	: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद से आज तक का समय

27.6 अभ्यास

27.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न (250 शब्दों में)

1. निबंध की परम्परा और परिभाषा पर प्रकाश डालते हुए निबंध की उपादेयता समझाइये।
2. निबंध की विभिन्न शैलियों पर प्रकाश डालते हुए निबंध का वर्गीकरण स्पष्ट कीजिए।
3. निबंध के विकास के इतिहास को विस्तार से समझाइए।

27.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न (125 शब्दों में)

1. निबंध के विकास में भारतेन्दु युग की देन समझाइए।
2. द्विवेदी युग में निबंध का विकास किस प्रकार से हुआ?
3. निबंध के विकास में आचार्य शुक्ल जी का योगदान स्पष्ट कीजिए।
4. 'निबंध विचारों का श्रेष्ठ वाहक है' सिद्ध कीजिए।

27.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

27.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न:निबंध की परम्परा और परिभाषा पर प्रकाश डालते हुये निबंध की उपादेयता समझाइए।

उत्तर:निबंध विचारों का वाहक होता है। वह हमारे मनोभावों के प्रकाशन का साहित्यिक, गंभीर एवं व्यवस्थित माध्यम होता है। निबंध लिखने की दो शैलियाँ प्रचलित हैं- न्यास शैली और समास शैली। न्यास शैली में विस्तार होता है, समास शैली में सूत्रात्मकता होती है। इसी प्रकार विक्षेप शैली या तरंग शैली तथा धारा शैली का भी निबंधकार प्रयोग करते हैं। असम्बद्ध तथा उच्छुद्ध रूप में जब विचार और मनोभाव प्रस्तुत होते हैं तब उसे विक्षेप शैली कहते हैं, जबकि प्रवाहमयी, संगति पूर्ण तथा तारतम्य युक्त शैली धारा शैली कहलाती है। आलोचनापूर्ण ढंग को आलोचनात्मक शैली कह सकते हैं। निबंध का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है:-

1. वर्णनात्मक निबंध, 2. विवरणात्मक निबंध, 3. विचारात्मक निबंध, 4. भावात्मक निबंध, 5. विश्लेषणात्मक निबंध, 6. व्यंग्यात्मक निबंध.

वर्णनात्मक निबंधों में प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णन, पर्व-महिमा वर्णन, ऋतु-सौन्दर्य वर्णन, तीर्थ स्थान या दर्शनीय स्थान, दृश्य का वर्णन, आदि पाया जाता है। प्रायः वह न्यास शैली में किया जाता है। विवरणात्मक निबंधों में शिकार, चरित्र-वर्णन, यात्रा-वर्णन आदि गतिशील तथा क्रियाशील स्थितियों का पूरा-पूरा विवरण देते हुए वर्णन किया जाता है। विचारात्मक या विवेचनात्मक निबंधों में गंभीर, बौद्धिक विवेचन की प्रधानता पायी जाती है। दार्शनिक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक आदि विषयों की विवेचना इस प्रकार के निबंधों में पायी जाती है। ऐसे निबंध न्यास और समास दोनों शैलियों में लिखे जाते हैं।

भावात्मक निबंधों में बुद्धित्व की अपेक्षा भाव तत्व की प्रधानता रहती है। इस प्रकार के निबंधों में काव्यत्व एवं सौन्दर्य देखे जाते हैं। ऐसे निबंध विक्षेप शैली एवं धारा शैली, दोनों शैलियों में लिखे जाते हैं। ऐसे निबंधों में आत्माभिव्यक्ति तथा वैयक्तिकता अधिक होती है। विश्लेषणात्मक निबंध ज्ञान-विज्ञान, मनो विज्ञान आदि के निबंध में गवेषणात्मक शैली में लिखे जाते हैं। व्यंग्यात्मक निबंधों में शैली एक प्रकार का हल्कापन लिए हुए रहती है।

27.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न:निबंध के विकास में भारतेन्दु युग की देन समझाइये।

उत्तर:निबंध के जन्म और विकास के संदर्भ में भारतेन्दु युग का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। निबंध लेखन का इतिहास भारतेन्दु युग से ही प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा भारतेन्दु मण्डली के कई एक लेखकों ने विविध प्रकार के विषयों पर विभिन्न शैलियों में निबंध लिखकर निबंध को साहित्य की एक विशिष्ट विधा के रूप में स्थापित किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं तो श्रेष्ठ निबंधकार थे ही, साथ ही उन्होंने अपने साहित्यिक मित्रों को भी निबंध लिखने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम पर ही इस युग का नाम भारतेन्दु रखा गया।

भारतेन्दु युग के निबंधकारों में पं. बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, प्रताप नारायण मिश्र आदि का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हास्य एवं व्यंग्य का पुट इस युग के निबंधों की सबसे बड़ी विशेषता है। विषय वैविध्य भी काफी रहा। पत्र-पत्रिकाओं में निबंध को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाने लगा। राष्ट्र-प्रेम, राष्ट्र-गौरव, नारी शिक्षा, नारी-जागरण, देश भक्ति, प्राचीन सांस्कृतिक गौरव, राजनीतिक चेतना आदि के संबंध में भारतेन्दु युग में लिखे गये निबंध गद्य के विकास में भी अपना विशिष्ट योगदान देते रहे। हिन्दी निबंध के इतिहास में भारतेन्दु युग प्रथमोत्थान के रूप में प्रसिद्ध एवं मान्य है।

27.8 पठनीय पुस्तकें

1. आस्था और सौन्दर्य - डॉ. राम विलास शर्मा
2. काव्य और कला तथा अन्य निबंध - प्रसाद
3. आधुनिक साहित्य - नन्द दुलारे वाजपेयी
4. साहित्यिक निबंध - डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त
5. साहित्यिक निबंध - डॉ. शान्ति स्वरूप गुप्त
6. बृहत साहित्यिक निबंध - डॉ. रामसागर त्रिपाठी
7. हिन्दी साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ - डॉ. शिवकुमार शर्मा

BRAOU

इकाई-28: नाटक का स्वरूप और उसके प्रकार

- 28.0 विषय प्रवेश
- 28.1 पाठ का उद्देश्य
- 28.2 पाठ-परिचय
- 28.3 मूलपाठ
- 28.4 पाठ का सारांश
- 28.5 शब्दार्थ
- 28.6 अभ्यास
 - 28.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 28.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 28.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 28.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 28.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 28.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

28.1 उद्देश्य

इस पाठ में नाटक की परिभाषा देकर उसे समझाया गया है तथा नाटक विधा के भेदों की चर्चा की गयी है। इस पाठ के अध्ययन से आप को --

- नाटक के सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य चिन्तन की जानकारी मिलेगी।
- नाटक के उद्भव और विकास का संक्षिप्त सैद्धान्तिक परिचय प्राप्त होगा।
- नाटक के तत्वों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होगा।
- नाटक के प्राचीन काल से लेकर अबतक के भेदों की जानकारी संक्षेप में मिल सकेगी।

28.2 पाठ परिचय

साहित्य के विविध रूपों में नाटक का विशेष महत्व है। नाटक दृश्य भी है और श्राव्य भी अर्थात् इसे देखा जा सकता है और पढ़ा-सुना भी जा सकता है। भारतीय साहित्य में नाटक अत्यन्त प्राचीन विधा है। कहा गया है कि साहित्य के रूपों में नाटक सर्वाधिक रम्य होता है- "काव्येषु नाटकं रम्यम्।" नाटक में नाट्य प्रमुख होता है अर्थात् इसमें अभिनय-पक्ष की प्रधानता होती है। अभिनय के आंगिक तथा वाचिक दोनों प्रकारों के द्वारा आन्तरिक भावों को मुर्त रूप प्रदान किया जाता है। अतः यहाँ वास्तविकता का भ्रम अधिक वास्तविक बन कर उपस्थित होता है। नाटक में विविध कलाओं जैसे संगीत, नृत्य, अभिनय, दृश्य-योजना, रूप-विन्यस, आलेख्य आदि का समुचित समावेश होता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में नाटकों पर पर्याप्त विस्तार से विचार किया गया है जो इस बात का प्रमाण है कि भारतीय साहित्य में नाटकों की प्राचीनकाल से ही अत्यन्त समृद्ध परम्परा विद्यमान थी। आचार्यों ने नाटक के अनेकानेक भेदोपभेदों का उल्लेख किया है। वहाँ नाटक और रूपक दोनों ही पर्यायवाची शब्द के रूप में व्यवहृत हुए हैं जिनमें अत्यन्त सूक्ष्म भेद भी लक्षित किया जा सकता है। पश्चिमी नाट्यालोचना में भी नाटकों के विषय, प्रवृत्ति, शैली आदि के आधार पर भेद किये गये हैं। नाटक की परिभाषा, स्वरूप, प्रकार आदि का सैद्धान्तिक विवेचन इस पाठ में प्रस्तुत किया गया है।

28.3 मूल पाठ

नाटक शब्द की उत्पत्ति "नृत्य" अथवा "नट" धातु से मानी गयी है और इसका सम्बन्ध नृत्य एवं अभिनय से जोड़ा जाता रहा है। संस्कृत साहित्य में नाटक के लिए रूपक शब्द का भी व्यवहार हुआ है। नाटक में जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का अनुकरण होता है, रूपक का अर्थ रूप या आकृति का अनुकरण है। वस्तु में आज नाटक जिस अर्थ में प्रचलित है उसमें दृश्य, अवस्थाएँ, रूप सब की अनुकृति होती है। नाटक साहित्य की वैसी विधा है जिसे न केवल पढ़ा, सुना, बल्कि "देखा" भी जा सकता है। नाटक एक ऐसा आलेख है जिसे मंच पर अभिनीत किया जाता है। युग के अनुसार नाटक और रंगमंच का स्वरूप भी बदलता रहा है।

संस्कृत में भरतमुनि का "नाट्यशास्त्र" इस विषय पर अत्यन्त, प्राचीन ग्रंथ है। भारत और यूनान में नाटकों की उत्पत्ति के पीछे धार्मिक कारण बताये जाते हैं। "नाट्य शास्त्र" में बताया गया है कि ब्रह्मा ने चारो वेदों से अलग-अलग तत्व लेकर नाटक के रूप में पंचम वेद की रचना की जिससे समाज के सभी लोगों का मनोरंजन हो सकता था। ऋग्वेद से आख्यान (कथानक) और संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस के तत्व ग्रहण किये गये। अर्थात् कथानक, संवाद, गीत, अभिनय और रस ये नाटक के अंग या तत्व बताये गये। भरतमुनि ने नाटकों की कथावस्तु के रूप में देवता, मनुष्य, राजा तथा ऋषियों-महात्माओं के चरित को देखा था। उन्होंने नाटक के लिए पाँच सन्धियों, चार वृत्तियाँ, चैसठ अंगों और छत्तीस लक्षणों की चर्चा की है। पहले इतिहास-प्रसिद्ध कथावस्तु और उच्च वंश में उत्पन्न प्रसिद्ध नायकों को लेकर ही नाटक रचना होती थी। सामान्यतया नाटक दस अंकों तक के होते थे यद्यपि अपवाद-स्वरूप दस से भी अधिक अंकों के नाटक मिलते हैं, जैसे हनुमानाटक, जिसे माहानाटक कहा गया।

दृश्य तथा अभिनय पक्ष अर्थात् रंगमंच नाटकों की सफलता की कसौटी इसका भी विवेचन किया है। अभिनय के चार प्रकार बताये गये हैं -- आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक। मुख, नेत्र, विभिन्न अंगों की भंगिमाओं के द्वारा जो अभिव्यक्ति अभिनय के क्षेत्र में होती है उसे आंगिक कहते हैं। मानसिक भावों का भाषा के माध्यम से जो अभिनयात्मक प्रकटीकरण होता है वह वाचिक कहलाता है। वस्त्र, आभूषण आदि के माध्यम से पात्र-विशेष की अनुकृति आहार्य है तथा अभिनय की भंगिमाओं के द्वारा रोमांच आदि भावों की अभिव्यक्ति सात्विक है। जहाँ रस को प्रधानता मिलती है उसे रूपक कहते हैं और जहाँ नृत्य, अंग-संचालन आदि विशेषतः हो उसे उपरूपक कहते हैं। कथावस्तु, नायक, रस आदि के आधार पर रूपक के दस भेद किये गये हैं, जिनमें "नाटक" सर्वाधिक महत्व-पूर्ण है। धनंजय ने "दशरूपक" नाम से अपना नाट्य ग्रंथ लिखा। आचार्य विश्वनाथ ने "साहित्य दर्पण" में अठारह उपरूपकों की चर्चा की है। लेकिन हिन्दी में उपरूपकों को महत्वपूर्ण नहीं माना गया।

नाटक में कथानक के दो प्रकार होते हैं- मूल (आधिकारिक) तथा प्रासंगिक। आधिकारिक कथावस्तु के फल का उपभोक्ता या अधिकारी नाट्य होता है। इस मूल अथवा मुख्य कथावस्तु में प्रासंगिक कथानक सहायक होता है। जो बराबर चलने वाले प्रसंग होते हैं वे पताका कहलाते हैं, तथा जो प्रसंग कुछ दूर चलकर रुक जाते या समाप्त हो जाते हैं वे प्रकरी कहलाते हैं। कथानक को अंकों में विभाजित किया जाता है। संस्कृत नाटकों में सर्व, प्रथम नान्दीपाठ अथवा स्तुति, फिर रंग-द्वार में ईश्वर-वन्दना होती थी। कथानक आरंभ से पूर्व किये जाने वाले इन कार्यों को पूर्व रंग कहते हैं। जिन चीजों का अभिनय मंच पर प्रस्तुत होता है उन्हें दृश्य तथा जिनकी केवल सूचना दी जाती है उन्हें सूच्य कहते हैं। संस्कृत नाटकों में मंच पर कुछ दृश्य प्रस्तुत करना वार्जित था जैसे युद्ध, स्नान, वध आदि। वहाँ एक अंक में एक दिन की घटनाओं के समावेश का विधान था तथा दो अंकों के बीच एक वर्ष से अधिक समय का व्यवधान नहीं होना चाहिए- ऐसी व्यवस्था की गयी थी। अंक में पाँच प्रकार के दृश्य होते थे जिन्हें विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य और अंकावतार कहा जाता था।

नाटक के प्रधान चरित्र नाटक तथा नायिका होते हैं। संस्कृत नाटकों में नायक की अनेक योग्यताएँ निर्धारित करके उसे सर्वगुण संपन्न दिखाने का प्रयत्न हुआ है। नाटक और नायिका के स्वभाव और चरित्र के अनुसार भेद भी किये गये हैं। मुख्यतः नाटकों के धीरोदात्त, धीर ललित, धीर प्रशान्त और धीरोदात्त भेद किये गये। इसी तरह नायिका को स्वकीया परकीया और सामान्या के रूप में देखा गया। नाटक-नायिका के अतिरिक्त नाटक में सहायक पात्र और चरित्र होते हैं जो इनसे तथा कथानक से परिचित तथा सम्बन्धित होते हैं। कुछ सहायक पात्र विदूषक, सेवक, पुरोहित आदि के रूप में सुपरिचित होते हैं।

नाटक में संवादों के रूप में भाषा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। संस्कृत नाटकों में उच्च श्रेणी के पात्रों के लिए संस्कृत तथा अन्य पात्रों के लिए प्राकृत आदि देशज भाषाओं का प्रयोग किया जाता था। पात्रों की सामाजिक, शैक्षिक एवं मानसिक स्थितियों के अनुरूप संवादों में भाषा के विविध स्तरों का प्रयोग किया जाता है। संवादों के श्राव्य, अश्राव्य, नियत श्राव्य, आकाशभाषित जैसे प्रकार भी मिलते हैं।

नाटकों के आधुनिक रूप प्रायः पश्चिमी नाटकों से प्रभावित मिलते हैं और संस्कृत के प्राचीन नाट्य रूपों का अब उपयोग नहीं किया जाता। अंग्रेजी में नाटक (ड्रामा अर्थात् किया हुआ) का सम्बन्ध भी प्रेक्षागृह (थियेटर) तथा दर्शकों (ऑडियंस) से होता है और वे भी पठित तथा अभिनीत दोनों ही रूपों में प्रभावकारी होते हैं। प्रसिद्ध यूनानी चिंतक अरस्तू ने नाटकों के लिए संकलनत्रय (Three Unities) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमें समय, स्थान एवं कार्य (Time, Place & Action) की एकता पर ध्यान दिया जाता था। बाद में चलकर ऐसे शास्त्रीय सिद्धान्तों की नाटकों में अवहेलना की गयी। पश्चिमी नाटक भी अनुकरण पर आधारित थे तथा उनका भी उद्गम धार्मिक कृत्यों से हुआ था। इस प्रकार नाटकों को मोटे तौर पर अनुकरण कार्य कहा जा सकता है। नाटक वैसा रूपक है जिसमें कुछ निश्चित चरित्रों का रूप धारण करके दर्शकों के समक्ष उनका अनुकरण (अभिनय) प्रदर्शित किया जाता है। इसका उद्देश्य समय और सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार होता है और वे मनोविनोद के लिए भी होते हैं। विषय के अनुसार ये सुखान्त, दुःखान्त, प्रहसन आदि अनेक प्रकार के होते हैं। इनके द्वारा मानव जीवन की गंभीर समस्याओं, कष्टों, आशा-आकांक्षाओं, संगत-असंगत व्यवहारों आदि का प्रस्तुतीकरण किया जाता है।

अरस्तू ने नाटक के पाँच तत्वों की चर्चा की थी— कथावस्तु, चरित्र, शैली, विचार तथा शिल्प एवं संगीत। बाद में चलकर पश्चिमी नाटकों की शास्त्रीय विवेचना में इन तत्वों के महत्व पर काफी वाद-विवाद हुए। नाटकों में कथानक और चरित्र-चित्रण इतने परस्पर गुफित होते हैं कि दोनों एक दूसरे को विकसित करते हैं। पश्चिमी नाटकों में संघर्ष को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया। इस दृष्टि से नाटक में काव्य व्यापार को इस तरह से देखा गया—आरंभ → कार्य विकास → संघर्ष या चरम सीमा → समाप्ति। आरंभ में नाटकीय संवादों के द्वारा दर्शकों को नाटक के उद्देश्य से सम्बन्धित सूचनाएँ मिल जाती हैं और घटनाएँ विकास करती हुई संघर्ष तथा चरम सीमा (Climax) तक पहुँचती हैं। परिणाम या समाप्ति नाटक की अन्तिम अवस्था होती है। संघर्ष में दो विरोधी स्थितियाँ काम करती हैं जिनकी हार या जीत का निर्णय समाप्ति या परिणाम में हो जाता है। विरोधी शक्तियों का संघर्ष ही नाटक का प्राण बताया जाता है। व्यक्तियों, भावानाओं या स्वार्थों का विरोध ही संघर्ष उत्पन्न करता है और इससे नाटकीय विडम्बना की सृष्टि होती है।

नाटकीय कथा विकास में शैली का अपना ही महत्व होता है। शैली के प्रयोग में नाटककार घटनाओं में रहस्य, विस्मय, उत्सुकता आदि पैदा करता है। उद्देश्य के रूप में नाटकों को जीवन की व्याख्या माना जाता है और इसके द्वारा मानवीय मूल्यों की अभिव्यक्ति की जाती है। नाटककार को जो कुछ भी कहना होता है उसे वह चरित्रों और संवादों के माध्यम से ही कह सकता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि नाटकों का जीवन से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आरंभ से ही विभिन्न सामाजिक अवसरों पर विभिन्न रूपों में नाटकों का प्रदर्शन होता है। स्वांग, भंडेती, कठपुतली

नृत्य, रामलीला, रासलीला, जात्रा यक्षगान, तमाशा आदि के रूपों में नाटक हमारे जीवन की अभिव्यक्ति करते रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी विशेषकर भारतेन्दु युग में तरह-तरह के नाट्य रूपों का लेखन हुआ। नाटक, नाटिका, नाट्य रासक, भाण, प्रहसन, विचार-प्रधान साहित्यिक नाटक, व्यायोग, रंग मंचीय नाटक आदि प्रस्तुत किये गये। अनेक नाटकों पर तत्कालीन प्रचलित पारसी रंगमंच का प्रभाव भी देखा जा सकता है। बीसवीं शताब्दी में जयशंकर प्रसाद तक संस्कृत नाटकों की कुछ विशेषताओं जैसे नान्दी, प्रस्तावना, सन्धि निर्वाह आदि को त्याग दिया गया और विषयानुसार नाटकों के विभिन्न प्रकार सामने आये। पौराणिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि विषय-वस्तु ने नाटकों के प्रकार सुनिश्चित किये। नाटक के अनेकाकी तथा एकाकी रूप सामने आये। एकाकी नाटकों में एक अंक के अन्तर्गत विभिन्न दृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं जबकि अनेकाकि नाटकों में सामान्यतः तीन से पाँच अंक तक की योजना की जाती है। परिणाम की दृष्टि से नाटक के सुखान्त, दुःखान्त (एवं प्रसादान्त) भेद किये जाते हैं। जहाँ पात्रों के माध्यम से भावों की व्यंजना होती है उन्हें नाट्यरूपक कहा जाता है। पद्य नाटकों की, जिन्हें गीतिनाट्य कहा जाता है, भी एक परम्परा मिलती है। चरित्र के आधार पर भी नाटक के भेद संभव हैं जैसे-एक पात्रीय नाटक तथा अनेक पात्रीय नाटक। आज नाटकों के क्षेत्र में अनेक प्रकार के प्रयोग किये जा रहे हैं। कल्पना, फैंटेसी आदि के उपयोग से नाटकों में गुणात्मक अन्तर आता गया है। रेडियो नाटक एक अलग विधान के रूप में विकसित हो गये हैं। इसी तरह जीवन की ऊपर से अर्थहीन प्रतीत होने वाली स्थितियों को लेकर एंस्सर्ड नाटक लिखे गये हैं। एकाध नाटक कार ने तो संवादहीन नाटक लिखने की दिशा में भी प्रयोग किये हैं।

28.4 सारांश

नाटक साहित्य की एक विशिष्ट विधा है जिसे पढ़ा (पुस्तक के रूप में), सुना (रेडियो नाटक) तथा देखा (मंचीय नाटक) जा सकता है। प्राचीन-काल से ही नाटक का सम्बन्ध नृत्य, संगीत तथा अभिनय से रहा है। नाटकों की उत्पत्ति मनुष्य के अनुकरण की क्षमता तथा धार्मिक कृत्यों से मानी गयी है। नाटक में व्यक्तियों का समूह कुछ निश्चित चरित्रों का रूप धारण कर के दर्शकों के सम्मुख उनकी अभिनय प्रस्तुत करता है। नाटक मनोविनोद के लिए भी होते हैं तथा उनके माध्यम से जीवन की समस्याओं का प्रभावकारी प्रस्तुतीकरण भी किया जाता है।

नाटक में कथानक, चरित्र, संवाद, गीत तथा अभिनय महत्वपूर्ण होते हैं। नाटकों को अभिनीत करने के लिए रंगशाला आवश्यक है। भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-विवेचन के आधार पर नाटकों में निम्न लिखित तत्वों को उपलब्ध किया जा सकता है- कथावस्तु, चरित्र, संवाद, देशकाल एवं वातावरण, उद्देश्य तथा शैली। नाटकीय कथा का आरंभ अपने निश्चित उद्देश्य की दिशा में दर्शकों को अपेक्षित सूचनाएं देते हुए होता है। चरित्रों और संवादों के माध्यम से विरोधी स्थितियों की टकराहट से संघर्ष उत्पन्न होता है और यह चरम सीमा (क्लाइमैक्स) तक पहुँचता है। फिर विरोधी स्थितियों में से जीत-हार का परिणाम उपस्थित करते हुए नाटक का अवसान होता है।

नाटक के आकार, विषयवस्तु, अन्त, शैली आदि के आधार पर अनेक भेदोपभेद मिलते हैं। आकार की दृष्टि से ये अनेकाकी और एकाकी का रूप ग्रहण करते हैं। कथानक की दृष्टि से ये पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, समस्यामूलक आदि अनेक प्रकार के होते हैं। अन्त की दृष्टि से इन्हें सुखान्त, दुःखान्त, प्रसादान्त के प्रकारों में बाँटा जाता है। शैली की दृष्टि से रेडियो नाटक, एंस्सर्ड नाटक आदि वर्गीकरण किये जा सकते हैं।

संस्कृत तथा पश्चिम साहित्य में नाटकों की अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही लम्बी परम्परा मिलती है। लोक जीवन में नाटक अपने विभिन्न रूपों में प्रकट होकर जन-संस्कृति का वाहक बनते हैं। हमारे यहाँ लोकनृत्य, कठपुतली नृत्य, स्वांग, भड़ैती, रामलीला, रासलीला आदि अनेक रूपों में नाटकों की निरन्तर उपस्थिति मिलती है। साहित्यिक नाटकों के विभिन्न प्रकार हमें प्राप्त होते हैं। संस्कृत में इन्हें रूपकों और उपरूपकों में बाँटकर देखा गया था। मोटे तौर पर रूपकों की संख्या दस (नाटक,

भाण, वीथी, प्रहसन, ईहामृग, प्रकरण, व्यायोग, समवकार, डिम और अंक) तथा उपरूपकों की संख्या अठारह बतायी गयी लेकिन हिन्दी नाटकों का विकास संस्कृत नाटकों के शास्त्रीय विवेचन से अलग पश्चिमी नाटकों के स्वरूप के आधार पर हुआ। पश्चिमी नाटक भी प्राचीन ग्रीक नाट्य पद्धति से बहुत कुछ अलग मार्ग पर विकसित हुए। नाटकों में होने वाले आधुनिक प्रयोग ने संकलन-त्रय आदि की धारणा को पीछे छोड़ दिया। रंगमंच सम्बन्धी भारतीय तथा ग्रीक अवधारणाओं में भी अत्यधिक परिवर्तन और विकास हुआ है। भरतमुनि, कालिदास, शेक्सपीयर, ब्रेख्त आदि ने हमारी नाटक सम्बन्धी समझ को पर्याप्त समृद्ध और विकसित किया है।

28.5 शब्दार्थ

दृश्य योजना	= मंच पर परिस्थिति और विषय के अनुरूप उपस्थित किये जाने वाला दृश्य।
आलेख्य	= नाटककार द्वारा लिखित मंच-निर्देश, अभिनय-निर्देश तथा संवाद।
वास्तविकता का भ्रम	= साहित्य वास्तविक जीवन को ज्यों का त्यों नहीं उपस्थित करता बल्कि वह ऐसा विश्वसनीय चित्रण करता है कि हमें वास्तविकता का भ्रम (Illusion of Reality) हो जाता है और हम साहित्य के द्वारा प्रस्तुत जीवन को वास्तविक ही समझने लगते हैं।
परस्पर-गुफित	= आपत में मिले हुए।
विडम्बना	= विरोध मूलक व्यंग्य (irony), अथवा जैसी अपेक्षा की जाए उसके विपरीत घटित हो (Paradox)
प्रसादान्त	= ऐसा अन्त जिसे न तो सुखान्त कहा जा सके, न दुखान्त ही, जहाँ सुख-दुख दोनों का शमन एक अद्भुत मानसिक प्रशान्ति में हो। जयशंकर प्रसाद के नाटकों में ऐसे अन्त को पाकर कुछ आलोचकों ने यह नाम सुझाया था।

28.6 अभ्यास

28.6.1 दीर्घ श्रेणी के प्रश्न

1. नाटक की परिभाषा देते हुए उसके स्वरूप पर विचार कीजिए।
2. भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टि से नाटक के तत्वों का विवेचन कीजिए।
3. विभिन्न दृष्टियों से किये गये नाटक के प्रकारों का परिचय दीजिए।

28.6.2 मध्यम श्रेणी के प्रश्न

1. नाटकों के उद्भव पर संक्षेप में विचार कीजिए।
2. नाटकों में रंगमंच के महत्व को समझाइए।
3. "संकलनत्रय" के सिद्धान्त पर टिप्पणी लिखिए।

28.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

28.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: नाटक की परिभाषा देते हुए उसके स्वरूप पर विचार कीजिए।

उत्तर: नाटक साहित्य का एक विशिष्ट रूप होता है क्योंकि इसे पुस्तक के रूप में पढ़ा जा सकता है, रेडियो पर सुना जा सकता है तथा रंगमंच पर देखा जा सकता है। इसका आनन्द साक्षर तथा निरक्षर सभी ले सकते हैं। अतः उचित ही नाटक को साहित्य के अनेक प्रकारों में सबसे रमणीय

कहा गया है- "काव्येषु नाटकं रम्यम्।" नाटक में अनेक कलाओं के गुणों का भी समन्वय होता है, जैसे- नृत्य, संगीत, दृश्य योजना, अभिनय आदि। नाटक में रचनाकार की कल्पना को रंगमंच पर प्रत्यक्ष उपस्थित कर दिया जाता है और पात्रों की मनोभावनाओं को मुर्त रूप में प्रदर्शित किया जाता है। अतः नाटक में विश्वसनीयता उत्पन्न करने की बहुत क्षमता होती है।

नाटक का सम्बन्ध अभिनय अर्थात् मनुष्य उसके सामाजिक परिवेश तथा व्यवहारों के अनुकरण से प्रगाढ़ रूप में होता है। नाटक की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि यह साहित्य का ऐसा श्राव्य और दृश्य प्रकार है जिसमें कुछ व्यक्तियों का समूह दर्शकों के सम्मुख मंचपर निश्चित वातावरण उपस्थित करते हैं तथा निश्चित चरित्रों का रूप धारण करके उनका अनुकरण या अभिनय प्रदर्शित करते हैं। इस अभिनय से न केवल दर्शकों का मनोरंजन होता है अपितु उनमें अपेक्षित भावनाएँ जगती हैं तथा उन्हें प्रेरित भी किया जाता है। अतः नाटक साहित्य की एक अत्यन्त प्रभावकारी विधा के रूप में सामने आते हैं।

नाटक की उपरोक्त परिभाषा से पता चलता है कि उसमें रचनाकार द्वारा एक ऐसा आलेख प्रस्तोवित किया जाता है जिसमें मंचन की संभावनाएँ होती हैं। रचनाकार उस आलेख में मंच के लिए दृश्य तथा अभिनय सम्बन्धी निर्देशों के साथ मुख्य रूप से विविध चरित्रों के लिए इस प्रकार से संवाद-लेखन करता है कि उसमें से एक प्रकार का संघर्ष मूलक कथा विकास होता चलता है। विविध चरित्रों के परस्पर संवादों के माध्यम से घटना आगे बढ़ती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है और इस दम्यन चरित्रों की विशेषताएँ खुलती जाती हैं। रचना के अन्त में चलकर व्यक्तियों, स्वार्थों, भावनाओं की टकराहट किसी परिणाम तक पहुँचती है। अगर अच्छाई जीतती है तो रचना सुखान्त बनती है और अगर अच्छाई पराजित होती है तो वहाँ दुखान्त होता है। इसी प्रकार किसी निश्चित परिणाम के बिना भी संघर्ष का संकेतात्मक रूप से अन्त किया जा सकता है।

भरत मुनि ने एक प्रतीकात्मक कथा के माध्यम से नाटक के स्वरूप का परिचय नाट्यशास्त्र में देते हुए बताया है कि ब्रह्मा ने देवताओं के अनुरोध पर उनके मनोविनोद के लिए नाटक के रूप में एक पंचम वेद की रचना की जिसमें चारों वेदों से अलग-अलग तत्व लिये गये थे। ऋग्वेद से कथावस्तु और संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाटक का पंचमवेद निर्मित हुआ। कहने का अर्थ यह है कि कथानक और संवाद, संगीत, अभिनय तथा रस को नाटक की संरचना का अंग बताया गया।

नाटक का कथानक संवादों के माध्यम से प्रस्तुत होता है। ये संवाद विभिन्न चरित्रों के मध्य होते हैं। इन के द्वारा घटनाओं के उतार-चढ़ाव का पता चलता है और कथा-विकास होता है। कथानक में मुख्य रूप से दो परस्पर विरोधी व्यक्तियों, स्वार्थों, भावों की टकराहट से संघर्ष उपस्थित होता है जो चरमसीमा तक पहुँचता है तथा किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम के साथ समाप्त हो जाता है। इस दृष्टि से कथानक, संवाद, पात्र, परिवेश, उद्देश्य तथा शैली को नाटक-रचना के विभिन्न अंगों के रूप में देखा गया है। नाटक के ये तत्व आपस में घुले-मिले और परस्पर-निर्भर होते हैं तथा इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। कथानक संवादों में निहित होता है। संवाद चरित्रों के माध्यम से प्रकट होते हैं तथा निश्चित देश, काल एवं वातावरण का पता देते हैं। कथानक में शैली के द्वारा पर्याप्त उत्सुकता, रहस्यमयता, विस्मय आदि के भाव भरे जाते हैं तथा संवादों को रोचक बनाया जाता है। संवाद में अनुकूल भाषा प्रयोग के द्वारा विश्वसनीयता आदि भी भरी जाती है। नाटककार इस तरह जीवन की व्याख्या करता है तथा रचना के द्वारा विशिष्ट मानवीय मूल्य की ओर संकेत करता है जो कि उसकी रचना का मनोरंजन के अतिरिक्त उद्देश्य होता है। इस प्रकार नाटक एक अत्यंत सशक्त विधा है जहाँ व्यक्ति और समाज के जीवन की व्याख्या उनकी आलोचना आदि विश्वसनीय तरीके से की जाती है।

नाटक का अभिनय पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। इसके लिए रंगमंच की अपेक्षा होती है। जिससे लोगों का समूह जुड़ा होता है। निर्देशक, अभिनेता, सज्जाकार आदि अनेक प्रकार के कलाकार

और तकनीशियन के सामूहिक प्रयासों के द्वारा नाटक को मंच पर प्रस्तुत किया जाता है। नाटकों और रंगमंच की पूरे विश्व में एक लम्बी परम्परा हो रही है। रंगमंच के भी अनेक प्रकार मिलते हैं तथा नाटकों को मंचित करने की अनेक पद्धतियाँ भी मिलती हैं। अत्यन्त प्राचीनकाल से नाटक प्रेक्षकों को मनोरंजन और प्रेरणा प्रदान करते आये हैं। अतः इसमें आश्चर्य नहीं कि नाटक साहित्य की सबसे लोक प्रिय तथा लोक-प्रचलित विधा के रूप में जाने जाते रहे हैं।

28.7.2 मध्यम श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: "संकलन त्रय" के सिद्धान्त पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर: संकलन त्रय या (Three Unities) के सिद्धान्त को प्रसिद्ध यूनानी (Greek) चिन्तक अरस्तू (Aristotle) के ग्रंथ "काव्यशास्त्र" (Poetics) से उपलब्ध किया गया। अपने ग्रंथ में दुःखान्त या त्रासदी (Tragedy) के सम्बन्ध में विचार करते हुए अरस्तू ने रचनाकार के लिए नाटक के कार्य-व्यापार के सम्बन्ध में कुछ बातों पर ध्यान देने को कहा। इन्हें काल (Time) स्थान (Place) और क्रिया (Action) की अन्वितियाँ कहते हैं।

(अ) कालान्विति अर्थात् समय की एकता (Unity of Time)— अरस्तू के अनुसार त्रासदी को एक दिन या इससे थोड़े अधिक समय में ही सीमित रखा जाता है। इसका विवेचन करते हुए आलोचकों ने कहा कि घटना के वास्तविक समय की रंगमंच के समय से एकता होनी चाहिए -- अर्थात् वास्तविक घटना के समय और मंच पर घटित समय एक समान हो।

(आ) स्थानान्विति अर्थात् स्थान की एकता (Unity of Place)— यद्यपि अरस्तू ने इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया फिर भी कालान्विति में इसे अन्तर्निहित मान लिया गया है। अर्थात् मंच पर प्रदर्शित घटनाओं का सम्बन्ध एक ही स्थान से होना चाहिए क्योंकि एक ही निश्चित समय में विभिन्न स्थानों के प्रदर्शन से अस्वाभाविकता आ जाती है।

(इ) कार्यान्विति अर्थात् क्रिया की एकता (Unity of Action)— अरस्तू के अनुसार कथानक के आरंभ, मध्य और अन्त में एक सूत्रता होनी चाहिए। कहने का अर्थ यह कि नाटक में उन्हीं घटनाओं का जो मूल कथा से पूरी तरह जुड़ती हो।

भारतीय नाट्य चिन्तन में भी इन तत्वों का प्रकारान्तर से उल्लेख हुआ है। काल नियम, देश नियम तथा अवस्था - अर्थ प्रकृति - संधि आदि पर विचार किया जाए तो समान बातें सामने आती हैं।

अठारहवीं सदी से पूर्व नाटकों में संकलनत्रयी का निर्वाह होता था किन्तु बाद में इनकी अवहेलना होने लगी। काल तथा स्थान सम्बन्धी संकलन से न केवल रचनाकार के साथ बंध जाते हैं अपितु दर्शक के लिए भी इनकी स्थूल स्वाभाविकता उबाऊ बन जाती है। आज के बदले हुए वैज्ञानिक युग में स्थान और काल संकलनों की सीमा को स्वीकार करना संभव नहीं रहा। कार्य संकलन अवश्य ही अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है जिसकी उपेक्षा कोई भी नाटककार नहीं कर सकता।

28.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- | | |
|--------------------------|-------------------------|
| भारतीय नाट्य चिन्तन | - डॉ. नगेन्द्र |
| रंगदर्शन | - नेमिचन्द्र जेन |
| रंगमंच और नाटक की भूमिका | - डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल |
| रंगमंच | - बलबन्त गार्गी |
| हिन्दी साहित्यकोश भाग-1 | |

इकाई-29: एकांकी: स्वरूप और प्रकार

- 29.0 विषय प्रवेश
- 29.1 पाठ का उद्देश्य
- 29.2 पाठ-परिचय
- 29.3 मूल पाठ
- 29.4 पाठ का सारांश
- 29.5 शब्दार्थ
- 29.6 अभ्यास
 - 29.6.1 'अ' श्रेणी के प्रश्न
 - 29.6.2 'ब' श्रेणी के प्रश्न
- 29.7 नमूने के प्रश्नोत्तर
 - 29.7.1 'अ' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
 - 29.7.2 'ब' श्रेणी के प्रश्नोत्तर
- 29.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

29.1 उद्देश्य

इस पाठ के अन्तर्गत एकांकी नाटक की विधा को विभिन्न परिभाषाओं एवं उदाहरणों के माध्यम से समझाया गया है। इस पाठ के अध्ययन से आप -

- एकांकी विधा के स्वरूप को जान सकेंगे।
- एकांकी के तत्वों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- हिन्दी एकांकी के उद्भव तथा विकास की जानकारी पा सकेंगे।
- एकांकी के विविध प्रकारों से अवगत हो सकेंगे।

29.2 पाठ परिचय

आरंभ में एकांकी को नाटक के एक प्रकार के रूप में देखा जाता था, लेकिन इसका आधुनिक युग में इतना विकास हुआ कि इसे स्वतंत्र विधा माना जाने लगा। एकांकी के उद्भव का संबंध अधिकतर आलोचक पाश्चात्य साहित्य से जोड़ते हैं जबकि एकांकी के बीज भारतीय संस्कृत नाट्य साहित्य में भी मिल सकते हैं। नाटक की भाँति एकांकी में भी कथानक, पात्र, चरित्र, संवाद आदि तत्व होते हैं। आज मंचीय एकांकी, रेडियो रूपक आदि एकांकी के भेद दिखायी देते हैं। इस पाठ में इन सभी बातों पर सम्यक् रूप से विचार किया गया है।

29.3 मूल पाठ

आकार की दृष्टि से नाटक अनेकांकी (एक से अधिक अंकों के - सामान्यतः तीन से पाँच अंकों के) तथा एकांकी (एक अंक के) होते हैं। संस्कृत नाट्य परंपरा में एक अंक के नाटकों को देखा जा सकता है। प्रहसन, वीथी, विलासिका, सट्टक- जैसे नाट्य रूप एक अंक के होते थे। लेकिन हिन्दी में एकांकी का उद्भव और विकास संस्कृत की परम्परा में नहीं होकर पाश्चात्य एकांकी (One Act Play) के प्रभाव में हुआ। जिस प्रकार उपन्यास और कहानी में अथवा महाकाव्य और खण्ड काव्य में आकारगत अन्तर होता है उसी प्रकार नाटक और एकांकी में भी देखा जाता है। एकांकी भी पाठ्य, श्राव्य और दृश्य होते हैं।

एकांकी आज साहित्य की एक स्वतंत्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित है। एकांकी वह नाट्य रूप है जिसमें एक अंक में जीवन के किसी एक पहलु, स्थिति अथवा भावना की कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। अपने वर्तमान रूप में यह पश्चिमी साहित्य से प्रभावित है। पाश्चात्य साहित्य में "मिरे किल्स" तथा "मोरेलिटीज" जैसे लघुकलेवर वाले नाट्य रूपों से एकांकी को विकसित माना जाता है। इसके विकास-क्रम में "इंटरल्यूड्स" जैसे मनोरंजन प्रधान दो अथवा तीन पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत नाटक रूप सामने आये। "मिरे किल्स" और "मोरेलिटीज" में धर्म-प्रचार में ईसाई सन्तों के द्वारा किये गये अद्भुत-आकर्षक कार्यों अथवा उनके जीवन के किसी महत्वपूर्ण पक्ष की झलक दिखायी जाती थी जो धार्मिक, नीति एवं उपदेश-प्रधान अधिक होते थे। "इंटरल्यूड्स" प्रीतिभोजों के अवसर पर भोजन पूर्व समय में उपस्थित मेहमानों के दिल बहलाव के लिए किये जाने वाला मनोरंजक प्रहसन होते थे। इसी तरह से बाद में चलकर मूल संपूर्ण नाटक के आरंभ होने से पूर्व दर्शकों के जुटने तक एक प्रकार के द्विपात्रीय संवादात्मक प्रहसन की शुरुआत हुई जिन्हें कर्टेन रेजर्स (Curtain Raisers) कहा जाता था। इन लघु नाटकीय रूपों की लोकप्रियता से प्रभावित होकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के बिल्कुल आरंभ में यूरोप तथा अमेरिका में लघुमंचीय आन्दोलनों (Little Theatre Movements) का सूत्रपात हुआ। विश्व के अनेक श्रेष्ठ एकांकीकारों के द्वारा एकांकी नाटक को एक सशक्त साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित कर दिया गया है और इनमें जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, गार्ल्सवर्दी, मोलियर, इब्सन, यूजीन ओ नील, लुइजी पिरान्देल्लो, इलियट, ग्राहमग्रीन, चेखव, ज्यॉ पाल सार्त्र, आर्थर मिलर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

सचपूछा जाय तो एकांकी युगजीवन की बदलती हुई परिस्थितियों की आवश्यकता से उत्पन्न नाटक-विधा है। एक पूर्ण कलेवर वाले अनेकांकी नाटक को प्रदर्शन में कई घंटे लगते हैं तथा कई नाटक-रूप तो लगभग सारी रात तक प्रदर्शित होते हैं। आधुनिक जीवन में ज्यादातर लोगों के पास इतना समय नहीं होता अतः एकांकी का प्रचलन तीव्र गति से हुआ और उसे काफी लोक-प्रियता भी मिली। एकांकी नाटक में पात्र तथा समय सीमित होते हैं अतः उसका कलेवर छोटा होता है किन्तु उनमें मनोरंजन की क्षमता कम नहीं होती। अतः आधुनिक जीवन में अपनी जगह बना लेने में एकांकी नाटक को कठिनाई नहीं हुई।

एकांकी एक अंक का होता है। कुछ एकांकी में केवल एक ही दृश्य होता है जबकि दूसरे प्रकार के एकांकी में एक अंक के अन्तर्गत अनेक दृश्यों का विधान किया जाता है। एक दृश्य के एकांकी में कथारंभ अत्यंत क्षिप्रता (तीव्र वेग) से होता है तथा कथा शीघ्र ही कौतूहल, विस्मय और जिज्ञासा से परिपूर्ण चरमसीमा (Climax) तक पहुँच जाती है। इसमें घटनाएँ एक ही स्थान और समय में घटित होती हैं तथा संकलन-त्रय का निर्वाह जरूरी रहता और कथाप्रवाह में अपेक्षाकृत कम क्षिप्रता दिखायी देती है।

एकांकी में संपूर्ण जीवन का क्रमबद्ध विवेचन संभव नहीं है। वहाँ तो जीवन का कोई विशेष पक्ष, स्थिति अथवा उद्दीप्त क्षण को चित्रित किया जाता है। अतः एकांकी में केवल आधिकारिक कथा होती है। वहाँ प्रासंगिक कथाओं के लिए अवकाश नहीं होता। इसलिए एकांकी में पात्रों की संख्या भी अधिक नहीं होती। एकांकी के कथा विस्तार में स्पष्ट रूप से सीमाएँ होती हैं मगर कथानक के लिए विषय का कोई बन्धन नहीं होता। एकांकीकार अपनी पसन्द, स्वभाव, विचार आदि के अनुरूप कोई भी विषय चुनता है। वह पौराणिक, ऐतिहासिक, साहसिक, धार्मिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक किसी भी प्रकार के कथा विषय का चयन करता है। चूँकि एकांकी के कथारंभ और समाप्ति में ज्यादा दूरी नहीं होती अतः एकांकीकार को बड़ी कुशलता से उसमें उत्सुकता और उत्तेजना को बनाये रखना पड़ता है। उसे पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के साथ-साथ व्यंग्य की भी लगातार सृष्टि करनी पड़ती है जिससे विस्मय, रोचकता आदि में वृद्धि होती चलती है।

मोटे तौर पर एकांकी में बोध दर्जन से अधिक पात्र नहीं होते। इन्हीं में नाटक तथा दूसरे गौण पात्र आते हैं। एकांकी एक पात्रीय, द्विपात्रीय अथवा तीन पात्रीय भी हो सकते हैं। संवादों के द्वारा न केवल कथा-विकास अपितु पात्रों का चरित्र-विश्लेषण भी होता चलता है। नाटकों में और

एकांकी में संवादों का बड़ा महत्व होता है। संवाद में प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता होनी चाहिए। संवाद लम्बे नहीं, संक्षिप्त और चुस्त होकर ही एकांकी की जरूरत पूरा कर सकते हैं। संवादों में स्वाभाविकता और रोचकता के गुण भी आवश्यक हैं। उनमें पात्रों के जटिल मनोभावों को व्यक्त करने की क्षमता होनी चाहिए। संवादों के अतिरिक्त एकांकीकरण रंगमंच के लिए अपेक्षित निर्देश भी लिखता है जिससे मंच पर दृश्यांकन तथा अभिनय में सुविधा होती है तथा एकांकीकार का उद्देश भी स्पष्ट होता है। एकांकीकार वेशभूषा आदि के विषय में भी उचित निर्देश देता है किन्तु अब नाट्य-निर्देशक को भी इस प्रकार की जिम्मेदारी सौंपी जाती है।

यद्यपि एकांकी की संरचना के आवश्यक तत्वों में कथावस्तु, चरित्र, संवाद, परिवेश, उद्देश्य, शैली की चर्चा की जाती है किन्तु ये तत्व आत्यंतिक रूप से परस्पर-सम्बद्ध तथा परस्पर-निर्भर होते हैं। केवल अध्ययन की सुविधा के लिए ही उन्हें अलग-अलग विवेचित किया जाता है। संवाद एक तरह से एकांकी के आधार होते हैं जिसके माध्यम से कथा और चरित्र का विकास होता है, एक निश्चित देशकाल व परिवेश निर्मित होता है और संघर्ष की स्थिति चरम सीमा में पर्यवसित हो जाती है। अपनी शैलीगत कुशलता के द्वारा एकांकीकार अपने अभीष्ट (उद्देश्य) की सिद्धि के लिए प्रेक्षकों में जिज्ञासा, विस्मय आदि के भाव जगाने में सक्षम होता है। एकांकी में भी नाटक के समान ही, किन्तु अत्यन्त तीव्रता के साथ, कथा का आरंभ, विकास, संघर्ष तथा समाप्ति के क्षण आते हैं। यहाँ चरम सीमा में अथवा उसके तुरंत बाद अन्त आता है जिसमें कार्य के परिणाम की सूचना मिलती है। एकांकी भी अपने कार्य-परिणाम की दृष्टि से सुखान्त या दुःखान्त होते हैं। समस्या-मूलक एकांकी में किसी हल को प्रस्तुत करने की बाध्यता एकांकीकार को नहीं होती- हाँ, वह चाहे तो किसी समाधान की ओर संकेत कर सकता है। आज दर्शक की बुद्धि का भरोसा एकांकीकार को कहीं अधिक होता है और वह किन्हीं महत्वपूर्ण समस्याओं को उभारना उनके समाधान उपस्थित करने की अपेक्षा कहीं अधिक सार्थक समझता है।

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युग में एकांकी का उत्स देखा जाता है। भारतेन्दु ने भावनाओं को मानवीकृत करे "भारत-दुर्दशा" जैसे एक अंकीय रूपक (Allegory) की रचना की थी। भारतेन्दु-युग में एक अंक के अनेक नाटक लिखे गये जिनके विषय पुराण, इतिहास अथवा कल्पना के आधार पर निर्मित होते थे। जयशंकर प्रसाद ने "एक घूँट" के द्वारा हिन्दी में भारतेन्दु युग से किंचित् भिन्न प्रकार के एकांकी का आरंभ किया, जिसमें कथा, चरित्र, संवाद आदि अधिक सुगठित थे। प्रसाद के बाद भुवनेश्वर के एकांकी-संग्रह "कारवाँ" के माध्यम से हिन्दी के एकांकी को प्रौढ़ता प्राप्त हुई। हिन्दी एकांकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य करने वाले रचनाकारों में राम कुमार वर्मा, जगदीश चन्द्र माथुर, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, लक्ष्मीनारायण मिश्र, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश, शंकर शेष आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

29.4 सारांश

वेसे तो एकांकी (One Act Play) एक अंक के नाटक को कहते हैं लेकिन उसने साहित्य में एक स्वतंत्र विधा का रूप ग्रहण कर लिया है। यद्यपि एकांकी नाटकों के भी संस्कृत नाटक परंपरा में ढूँढ़े जा सकते हैं, किन्तु हिन्दी में इनका विकास पश्चिमी एकांकी के आधार पर विशेषतः हुआ है। यूरोप में दसवीं शती में मिरेकिल्स, मौरिलटीज जैसी रचनाओं में एकांकी का आरंभिक रूप मिलता है जिसका विकास परवर्तीकाल में "कर्टेन रेजर्स" जैसी रचनाओं में हुआ। लघुमंचीय आन्दोलनों ने एकांकी के विकास को दुस्तर बनाया।

एकांकी में केवल आधिकारिक कथा और सीमित पात्रों के माध्यम से कम समय में एकांकीकार को कलात्मक व्यंजना करनी पड़ती है। एकांकी की कथा के लिए विषय का कोई बन्धन नहीं होता। एकांकीकार को अपने शिल्प-कौशल से दर्शकों में जिज्ञासा, रोचकता और विस्मय के भाव को चरम सीमा तक लगातार बनाये रखना पड़ता है। एकांकी में कथा का विकास नाटक की भाँति, मगर अत्यन्त

तीव्र गति से, होता है —→ आरंभ —→ संघर्ष —→ चरम सीमा —→ समाप्ति। संघर्ष के परिणाम के अनुकूल ही एकांकी का अन्त सुखद या दुःखद होता है।

विषयवस्तु, पात्र, शिल्प आदि के आधार पर एकांकी के अनेक प्रकार संभव हैं। कथानक की दृष्टि से एक दृश्य तथा अनेक दृश्यों वाले एकांकी होते हैं। विषय वस्तु की दृष्टि से इन्हें ऐतिहासिक, पौराणिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, समस्या मूलक आदि प्रकारों में बाँटा जा सकता है। पात्र की दृष्टि से ये एक पात्रीय तथा अनेक पात्रीय होते हैं। शिल्प की दृष्टि से व्यंग्य मूलक, कल्पना मूलक, सूचना मूलक (फीचर), ध्वनि रूपक (रेडियो एकांकी) प्रतीकात्मक आदि प्रकार के एकांकी होते हैं।

29.5 शब्दार्थ

मिरेकिल्स (Miracles)	= वैसे लघु नाट्य रूप जिनमें ईसाई सन्तों के चमत्कार पूर्ण कार्यों का वर्णन होता था।
मोरेलिटीज (Moralties)	= जिन लघुनाट्य रूपों में ईसाई सन्तों के जीवन से नैतिक उपदेश प्राप्त किये जाते थे।
इंटरल्यूड्स (Interludes)	= वैसे लघु नाट्य रूप जिन्हें किसी कार्यक्रम के बीच के खाली समय में मनोरंजन-हेतु प्रस्तुत किया जाता था।
कलेवर	= आकार।
पर्यवसित	= मिल जाना।
बाध्यता	= मजबूरी, Compulsion.
मानवीकृत रूपक	= मनोभावों को मनुष्य का रूप प्रदान करना।
	= उपमेय पर उपमान का निषेध-रहित आरोप।

29.6 अभ्यास

29.6.1 दीर्घ श्रेणी के प्रश्न

1. एकांकी की परिभाषा देते हुए उसके स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
2. एकांकी के उद्भव और विकास का संक्षेप में परिचय दीजिए।
3. एकांकी के प्रकारों का परिचय प्रस्तुत कीजिए।

29.6.2 मध्यम श्रेणी के प्रश्न

1. एकांकी के तत्वों को संक्षेप में समझाइए।
2. एकांकी और रंगमंच के संबंध पर टिप्पणी लिखिए।

29.7 नमूने के प्रश्नोत्तर

29.7.1 दीर्घ श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: एकांकी के प्रकारों का परिचय प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर: अलग-अलग दृष्टियों से एकांकी के विभिन्न प्रकार हमारे सामने उपस्थित होते हैं। विषय और शिल्प के आधार पर उनके दो भेद किये जा सकते हैं अर्थात् विषय-प्रधान एकांकी तथा शिल्प-प्रधान एकांकी। विषय प्रधान एकांकी में एकांकीकार किसी मनोनुकूल विषय से सम्बन्धित कथा का विधान करता है। ऐसे एकांकी किसी प्रसिद्ध नायक, वीर, समाज सुधारक, क्रान्तिकारी, नेता आदि के जीवन

से सम्बन्धित महत्वपूर्ण घटनाओं, कार्यों, आदि को एक अंकीय नाटक के रूप में प्रस्तुत करने वाले होते हैं। ऐसे एकांकी में विषय का महत्व शिल्प से ऊपर नजर आता है। इनमें देश भक्ति, समाज-सुधार, सामाजिक समस्या, वर्ग संघर्ष, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, युद्ध-शान्ति आदि से सम्बन्धित विषय वर्णित होते हैं। आरंभ में विषय प्रधान एकांकियों की ही प्रमुखता थी किन्तु जब से एकांकी की एक स्वतंत्र विधा के रूप में प्रतिष्ठा होने लगी तो शिल्प पक्ष की ओर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा। फलस्वरूप शिल्पगत निपुणता के द्वारा संवादों में रोचकता, उत्सुकता, स्वाभाविकता, व्यंग्य आदि भर जाने लगा तथा चरित्रों के मानसिक भावों और अन्तर्द्वन्द्वों के उद्घाटन का प्रयत्न होने लगा। आज के एकांकी अपेक्षाकृत बौद्धिक होने लगे हैं और एकांकीकार एकांकी लेखन की अपनी निजी शैली विकसित कर रहे हैं। लक्ष्मी-नारायण मिश्र, भुवनेश्वर, जगदीशचन्द्र माथुर, उपेन्द्र नाथ अशक, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश आदि के एकांकी रचनाकार के शिल्प की छाप के कारण अलग से पहचाने जा सकते हैं।

विषय की दृष्टि से एकांकी के कई भेद हो सकते हैं यथा- पौराणिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, समस्यामूलक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक आदि। पौराणिक एकांकी में पुराण युगीन विषय या कथा का उपयोग किया जाता है। उदयशंकर भट्ट ने "मनु-मानव", "आदिम युग" जैसे पौराणिक एकांकी लिखे। इतिहास के चरित्र, घटना आदि को लेकर ऐतिहासिक एकांकी रचित होते हैं। उदयशंकर भट्ट, वृन्दावन लाल वर्मा ने समुद्र गुप्त, जहाँदार शाह जैसे ऐतिहासिक पात्रों को लेकर ऐतिहासिक एकांकी लिखे। सांस्कृतिक एकांकी में देश, जनपद, समाज, लोक जीवन की संस्कृति के गुणों का अंकन होता है। वर्तमान समाज की कुरीतियों, अच्छाइयों, समस्याओं और संघर्षों को लेकर लिखे गये एकांकी सामाजिक एकांकी कहलाते हैं। जगदीश चन्द्र माथुर का "रीढ़ की हड्डी" ऐसा ही एकांकी है, जिसमें मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बना दिखायी गयी है। समस्या-एकांकी में किसी एक महत्वपूर्ण समस्या को विषय के रूप में ग्रहण किया जाता है। राजनीतिक एकांकी में राजनीतिक विचारों, सिद्धान्तों संघर्षों की कथा प्रस्तुत की जाती है। दार्शनिक एकांकी में दार्शनिक विचार और चिन्तन को प्रमुखता मिलती है, जैसे जैनेन्द्र कुमार का "टकराहट" एकांकी। मनोवैज्ञानिक एकांकी में घटना और संवादों के माध्यम से व्यक्तियों के मनोभावों और व्यवहारों को प्रस्तुत किया जाता है। भुवनेश्वर का एकांकी "उत्तर" ऐसा ही है।

इसी प्रकार शिल्प की दृष्टि से भी एकांकी के अनेक भेद किये जा सकते हैं, जैसे कल्पना मूलक, हास्य एकांकी, व्यंग्य एकांकी, सूचना मूलक, प्रतीक एकांकी आदि। कल्पना मूलक एकांकियों में स्वच्छन्द कल्पना (फैंटेसी) का खुलकर प्रयोग किया जाता है। रामकुमार वर्मा का "बादल की मृत्यु" तथा अशक का "छोटा बेटा" ऐसा ही एकांकी है। हास्य एकांकी को प्रहसन एकांकी भी कह सकते हैं जिनका उद्देश्य केवल मनोरंजन करना होता है। भगवती चरण वर्मा का "दो कलाकार", राम कुमार वर्मा का एक तोले अफीम की कीमत" प्रहसन एकांकी ही है। व्यंग्य एकांकी में जीवन, समाज, राजनीति, धर्म, कला आदि की अपनी विसंगतियों पर व्यंग्यात्मक प्रहार होता है, भुवनेश्वर का एकांकी "स्ट्राइक" ऐसा ही व्यंग्य-प्रधान है। सूचना मूलक एकांकी (फीचर) में किसी वस्तु या विषय के सम्बन्ध में रोचक तरीके से सूचनाएँ अर्थात् परिचय दिया जाता है। जीवन के किसी क्षेत्र से सम्बन्धित जहाँ बातें बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत की जाती हैं उन्हें प्रतीकात्मक एकांकी कहा जाता है। उदयशंकर भट्ट का "जीवन" प्रतीक प्रधान एकांकी है।

इनके अतिरिक्त एकांकी के प्रकार अन्य दृष्टियों से भी संभव हैं, जैसे सोद्देश्य एकांकी, जिनमें विषयवस्तु का उद्देश्य अत्यन्त मुखर होता है। एक पात्रीय एकांकी, जिसमें एक ही पात्र के स्वगत कथनों के सहारे कथावस्तु आगे बढ़ता है।

एकांकी के प्रकारों की चर्चा करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि यह भेद किसी एक विशेषता की प्रमुखता के कारण किया जाता है और दूसरी गौण विशेषताएँ भी उसमें रहती हैं। विषय प्रधान एकांकी में शिल्प कौशल का नितान्त अभाव नहीं रहता, उसी प्रकार शिल्प प्रधान एकांकी में विषय अनुपस्थित नहीं रह सकता। दूसरी बात यह कि एकांकी के प्रकार-भेद और भी किये जा सकते हैं। लेकिन यह केवल उनके अध्ययन की सुविधा के लिए ही है- एकांकी के अस्तित्व की अनिवार्यता नहीं है।

29.7.2 मध्यम श्रेणी के प्रश्नोत्तर

प्रश्न: एकांकी और रंगमंच के सम्बन्ध पर विचार कीजिए।

उत्तर: नाटक की भांति ही एकांकी भी साहित्य की ऐसी विधा है जिसे हम पढ़, सुन तथा देख सकते हैं। नाटक के समान ही एकांकी का भी रंगमंच से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। रंगमंच प्रेक्षागृह का वह भाग है जहाँ नाटक या एकांकी अभिनीत किये जाते हैं, अतः रंगमंच का सम्बन्ध नाटक या एकांकी, दर्शक तथा रंग-कर्मी सबसे होता है। एकांकी नाटक की सफलता की कसौटी रंगमंच ही है। रंगमंच के कई हिस्से होते हैं जैसे नेपथ्य या मंच का पिछला हिस्सा, पार्श्व या मंच के दोनों बगल के हिस्से, मंच का अगला भाग जहाँ अभिनय सम्पन्न होता है। मंच पर दृश्य प्रस्तुत करने के लिए विभिन्न सामग्रियों का भी उपयोग किया जाता है।

एकांकी को रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिए आलेख में कथावस्तु की सफल योजना तथा चुस्त-दुरुस्त संवादों का होना आवश्यक है। रंगमंच पर दृश्य योजना, प्रकाश योजना संगीत व्यवस्था, सही किस्म के अभिनेताओं आदि का चुनाव महत्वपूर्ण कार्य हैं जिन्हें अंजाम देने के लिए कुशल निर्देशक की आवश्यकता होती है। इस प्रकार एकांकी को लिख देना काफी नहीं होता, उसे सफलतापूर्वक मंचित किया जा सके-ऐसा बनाना पड़ता है।

एकांकी के विकास में लघु मंचीय आन्दोलन (Little Theatre Movement) का अच्छा योगदान रहा है। रंगमंच से अलग एकांकी विधा महत्वहीन होती है। अतः दोनों का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

29.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

रंगदर्शन	- नेमिचन्द्र जैन
रंगमंच	- बलवन्त गार्गी
रंगमंच और नाटक की भूमिका	- लक्ष्मीनारायण लाल

डॉ. बी.आर. अंबेडकर सार्वत्रिक विश्वविद्यालय, हैदराबाद

स्नातक परीक्षा - तृतीय वर्ष - हिन्दी पाठ्यक्रम

हिन्दी साहित्य

विषय: हिन्दी साहित्य और समीक्षा

पाठ्यक्रम

खण्ड-1: साहित्य और कला

इकाई-1 : साहित्य: परिभाषा और तत्व

- 1.1 विषय प्रवेश
- 1.2 साहित्य की परिभाषा
- 1.3 शाब्दिक अर्थ
- 1.4 प्रमुख विशेषताएं
- 1.5 साहित्य का उद्देश्य
- 1.6 साहित्य संबंधी धारणा
- 1.7 साहित्य के तत्व
 - कल्पना तत्व
 - बुद्धि तत्व
 - भाव तत्व
 - शैली तत्व

इकाई-2 : कला: परिभाषा, तत्व और वर्गीकरण

- 2.1 कला की परिभाषा
- 2.2 कला का वर्गीकरण
 - वस्तु कला
 - चित्र कला
 - मूर्ति कला
 - संगीत कला
 - काव्य कला
- 2.3 काव्य और कला
- 2.4 कला और कलाकार
- 2.5 कला का रूप पक्ष

इकाई-3 : साहित्य और समाज का संबंध

- 3.1 साहित्य की सार्थकता
- 3.2 साहित्य और समाज का संबंध
- 3.3 समीक्षा पद्धति
- 3.4 समाजशास्त्रीय पद्धति
- 3.5 साहित्य-समाज के अनुलोम संबंध
- 3.6 साहित्य-समाज के विलोम संबंध

इकाई-4 : साहित्य: लेखक-पाठक और आलोचक के संबंध

- 4.1 साहित्य और साहित्यकार
- 4.2 साहित्यकार और पाठक
- 4.3 साहित्य और आलोचक
- 4.4 साहित्य-परिवेश और पाठक
- 4.5 सभ्यता का विकास और कवि कर्म
- 4.6 आलोचक की प्रमुख विशेषताएँ

इकाई-5 : लोक साहित्य: परिभाषा, तत्व और प्रकार

- 5.1 साहित्य और लोकवार्ता
- 5.2 लोक साहित्य की परिभाषा
- 5.3 लोक साहित्य के प्रकार
 - लोक गीत
 - लोक कथा
 - लोक गाथा
 - लोक नाट्य
 - लोक संगीत
- 5.4 लोक साहित्य और हिन्दी साहित्य

इकाई-6 : साहित्य का प्रयोजन

- 6.1 साहित्य के प्रयोजन का अर्थ
- 6.2 प्रयोजन के रूप
- 6.3 काव्य प्रयोजन की व्याख्या
- 6.4 काव्य जीवन की आलोचना
- 6.5 साहित्य में सामाजिक यथार्थ
- 6.6 अनुबंध चतुष्टय

इकाई-7 : साहित्य अध्ययन की पद्धतियाँ

- 7.1 आलोचना का अर्थ
- 7.2 आलोचना की पद्धतियाँ
- 7.3 आलोचना का उद्देश्य
- 7.4 साहित्य अध्ययन की पद्धतियों का विकास
- 7.5 काव्यशास्त्रीय आलोचना पद्धति
- 7.6 ऐतिहासिक आलोचना पद्धति
- 7.7 मनोविश्लेषण आलोचना पद्धति
- 7.8 मार्क्सवादी आलोचना पद्धति

खण्ड-2 : साहित्य और समीक्षा

इकाई-8 : साहित्यिक आलोचना: परिभाषा और प्रकार्य

- 8.1 प्राचीन भारतीय आलोचना
- 8.2 आलोचना में दायित्व का महत्व
- 8.3 परंपरागत आलोचना
- 8.4 आलोचना में मूल्यांकन का महत्व
- 8.5 आलोचना के प्रकार्य
- 8.6 तुलनात्मक आलोचना

इकाई-9 : भारतीय आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान

- 9.1 भारतीय काव्यशास्त्र के संप्रदाय
- 9.2 रस संप्रदाय
- 9.3 अलंकार संप्रदाय
- 9.4 ध्वनि संप्रदाय
- 9.5 रीति संप्रदाय
- 9.6 वक्रोक्ति संप्रदाय
- 9.7 औचित्य संप्रदाय
- 9.8 काव्य के भेद
- 9.9 काव्य-सृजन के कारक

इकाई-10 : पाश्चात्य आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान

- 10.1 यूनानी सभ्यता और पाश्चात्य आलोचना
- 10.2 प्लेटो
- 10.3 अरस्तु
- 10.4 लोजइन्स
- 10.5 होरेस
- 10.6 दांते

इकाई-11 : आधुनिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण और प्रतिमान

- 11.1 शुक्लपूर्व आलोचना दृष्टि और प्रतिमान
- 11.2 आचार्य रामचंद्र शुक्ल: दृष्टिकोण और प्रतिमान
- 11.3 शुक्लोत्तर आलोचना दृष्टियाँ और प्रतिमान

खण्ड-3 : आलोचना पद्धतियाँ

इकाई-12 : निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना

- 12.1 व्याख्या और निर्णय में अभेद माननेवाली विचारधारा
- 12.2 साहित्य में जीवन की व्याख्या
- 12.3 आलोचना और साहित्य सृजन
- 12.4 व्याख्यात्मक आलोचना का स्वरूप
- 12.5 निर्णयात्मक आलोचना का रूप
- 12.6 व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक आलोचना की तुलना
- 12.7 आधुनिक आलोचना के प्रमुख रूप

इकाई-13 : ऐतिहासिक आलोचना

- 13.1 ऐतिहासिक आलोचना का विकास-क्रम
- 13.2 ऐतिहासिक आलोचना पद्धति के गुण-दोष
- 13.3 ऐतिहासिक आलोचना में प्रगति, क्षण और वातावरण
- 13.4 ऐतिहासिक आलोचना का स्वरूप
- 13.5 ऐतिहासिक आलोचना का योगदान

इकाई-14 : मनोविश्लेषणवादी आलोचना

- 14.1 मनोविश्लेषणवादी आलोचना पद्धति का स्वरूप
- 14.2 फ्रायड, एडलर और युंग के मत
- 14.3 मनोविश्लेषणवाद और साहित्य
- 14.4 मनोविश्लेषणवादी हिन्दी आलोचक
- 14.5 मनोविश्लेषणवादी आलोचना की समीक्षा

इकाई-15 : मार्क्सवादी आलोचना

- 15.1 मार्क्सवादी चिंतन प्रणाली
- 15.2 द्वैतात्मक भौतिकवाद
- 15.3 ऐतिहासिक भौतिकवाद
- 15.4 हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना पद्धति: उद्भव और विकास
- 15.5 मार्क्सवाद और साहित्य
- 15.6 मार्क्सवादी आलोचना की प्रमुख विशेषताएँ

खण्ड-4 : हिन्दी आलोचना पद्धति

इकाई-16 : भारत की प्राचीन टीका पद्धति

- 16.1 टीका पद्धति का अर्थ
- 16.2 टीका पद्धति और आलोचना
- 16.3 टीका पद्धति का विकास
- 16.4 टीका पद्धति की विशेषताएँ
- 16.5 आलोचना और टीका पद्धति की तुलना

इकाई-17 : काव्यशास्त्रीय निर्णयात्मक आलोचना

- 17.1 काव्यशास्त्रीय निर्णयात्मक आलोचना का स्वरूप
- 17.2 काव्यशास्त्रीय निर्णयात्मक आलोचना की विशेषताएँ
- 17.3 काव्यशास्त्रीय पद्धति का विकास
- 17.4 काव्यशास्त्रीय व्याख्यात्मक आलोचना
- 17.5 आलोचक के गुण

इकाई-18 : रसवादी आलोचना

- 18.1 रसवादी आलोचना का स्वरूप
- 18.2 भारतीय चिंतन परंपरा में रस सिद्धांत
- 18.3 हिन्दी आलोचना में रसवाद
- 18.4 साधारणीकरण से तात्पर्य
- 18.5 रामचंद्र आलोचना के प्रकार
- 18.6 रसवादी आलोचना की विशेषताएँ

इकाई-19 : मानवतावादी आलोचना

- 19.1 मानवतावाद का अर्थ और स्वरूप
- 19.2 मानवतावाद, प्रकृतिवाद, भौतिकवाद
- 19.3 विज्ञान और नैतिकता का संबंध
- 19.4 मानवतावाद-समाजवाद-गांधीवाद-अस्तित्ववाद
- 19.5 मानवतावाद के प्रकार
- 19.6 मानवतावादी आलोचना
- 19.7 हिन्दी में प्रमुख मानवतावादी आलोचक

इकाई-20: छायावादी रोमांटिक आलोचना

- 20.1 छायावाद का स्वरूप
- 20.2 छायावाद: रोमांटिसिज्म, स्वच्छंदतावाद-नव स्वच्छंदतावाद
- 20.3 छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ और छायावादी आलोचना
- 20.4 छायावाद और छायावादी आलोचना
- 20.5 छायावादी आलोचना-व्यक्तिवाद-पलायनवाद-सूक्ष्मता-स्थूलता
- 20.6 छायावादी आलोचना की प्रमुख विशेषताएँ

इकाई-21 : प्रगतिवादी आलोचना

- 21.1 प्रगतिवादी साहित्यिक प्रवृत्ति
- 21.2 प्रगतिवादी विचारधारा
- 21.3 प्रगतिवादी आलोचना की पृष्ठभूमि
- 21.4 प्रगतिवादी आलोचना की विशेषताएँ
- 21.5 प्रगतिवादी आलोचना की समीक्षा

इकाई-22: प्रयोगवादी नयी आलोचना

- 22.1 प्रयोगवादी आलोचना पद्धति
- 22.2 तार-सम्यक की भूमिका
- 22.3 प्रयोगवादी आलोचना और अज्ञेय
- 22.4 प्रयोगवादी आलोचना और नकेनवाद
- 22.5 प्रयोगवादी आलोचना के पक्ष
- 22.6 प्रयोगवादी आलोचना की विशेषताएँ

इकाई-23: विद्यापरक और रूपात्मक आलोचना

- 23.1 विद्यापरक और रूपात्मक आलोचना का स्वरूप
- 23.2 विद्यापरक और रूपात्मक आलोचना दृष्टिकोण
- 23.3 रूपवादी आलोचना की मान्यताएँ
- 23.4 विद्यापरक आलोचना एवं मान्यताएँ
- 23.5 वस्तुपक्ष और रूप पक्ष- आलोचना
- 23.6 विद्यापरक और रूपवादी आलोचना की स्थापनाएँ

खण्ड-5 : साहित्यिक विधाएँ

इकाई-24: कविता: परिभाषा, तत्व और प्रकार

- 24.1 काव्य की परिभाषा
- 24.2 काव्य के तत्व
 - अर्थ तत्व
 - कल्पना तत्व
 - भाव तत्व
 - बुद्धि तत्व
- 24.3 कविता के प्रकार
 - महा काव्य
 - खण्ड काव्य
 - मुक्तक काव्य
 - गीति काव्य

इकाई-25 : उपन्यास: परिभाषा, तत्व और विकास

- 25.1 उपन्यास
- 25.2 उपन्यास का स्वरूप
- 25.3 उपन्यास के तत्व
 - कथावस्तु
 - चरित्र चित्रण
 - कथोपकथन
 - देश-काल वातावरण
 - उद्देश्य
 - शैली

- 25.4 उपन्यास के प्रकार
- 25.5 उपन्यास का विकास
- 25.6 उपन्यास विधा का महत्व

इकाई-26: कहानी: परिभाषा, तत्व और विकास

- 26.1 कहानी का स्वरूप
- 26.2 कहानी की परिभाषा
- 26.3 कहानी के तत्व
- 26.4 कहानी के प्रकार
- 26.5 कहानी का विकास
- 26.6 कहानी की विशेषताएँ

इकाई-27: निबंध: परिभाषा, तत्व, प्रकार और विकास

- 27.1 निबंध के स्वरूप
- 27.2 निबंध की परिभाषा
- 27.3 निबंध के तत्व
- 27.4 निबंध का वर्गीकरण
 - वर्णनात्मक निबंध
 - चित्रणनात्मक निबंध
 - विचारनात्मक निबंध
 - भावनात्मक निबंध
 - व्यंग्यात्मक निबंध
 - विश्लेषणात्मक निबंध
- 27.5 निबंध का विकास

इकाई-28: नाटक का स्वरूप और उसके प्रकार

- 28.1 नाटक का उद्भव और विकास
- 28.2 नाटक के तत्व
 - कथावस्तु
 - चरित्र
 - शैली विचार
 - शिल्प और संगीत
- 28.3 नाटक के भेद
- 28.4 नाटक का महत्व

इकाई-29: एकांकी स्वरूप और प्रकार

- 29.1 एकांकी विधा का स्वरूप
- 29.2 एकांकी के तत्व
- 29.3 एकांकी का उद्भव और विकास
- 29.4 एकांकी के प्रकार
- 29.5 एकांकी की विशेषताएँ
- 29.6 एकांकी का महत्व

FACULTY OF ARTS

B.A., III Year (3 YDC) Examination

Model Question Paper

HINDI - Paper IV

Sahitya Aur Samiksha

Time: 3 Hours]

[Max. Marks: 100

[Min. Marks: 35

खण्ड-अ (अंक 4 x 15 = 60)

ध्यान दें : इस खण्ड से केवल 4 प्रश्नों के उत्तर दें।
प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 250 शब्दों में हो।
सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

1. साहित्य की परिभाषा देते हुए उसके तत्वों को समझाइए।
2. 'साधारणीकरण से आप क्या समझते हैं? साधारणीकरण संबंधी मान्यताओं का विवेचन कीजिए।
3. कवि-प्रतिभा और उत्तम काव्य के गुणों को कॉलरिज की दृष्टि से व्यक्त कीजिए।
4. 'ध्वनि-सिद्धान्त' का विवेचन कीजिए।
5. शुक्लोत्तर आलोचना-दृष्टि और प्रतिमानों पर एक सारगर्भित निबंध लिखिए।
6. साहित्य के प्रयोजन से क्या तात्पर्य है? वामन द्वारा प्रतिपादित काव्य प्रयोजनों की व्याख्या कीजिए।
7. नाटक के मुख्य तत्वों की विवेचना कीजिए।
8. 'लोक नाट्य आदिम मानव की रागात्मक मानसिकता का द्योतक है' स्पष्ट कीजिए।

खण्ड- 'ब' (अंक 5 x 8 = 40)

ध्यान दें : इस खण्ड में से केवल 5 प्रश्नों के उत्तर दें।
प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 125 शब्दों में हो।
सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

9. ललित कलाओं में काव्य-कला क्यों उत्तम मानी जाती है?
10. मार्क्सवादी आलोचना की समीक्षा कीजिए।
11. तुलनात्मक आलोचना दृष्टि साहित्य के किन तत्वों का आकलन करती है? स्पष्ट कीजिए।
12. क्षमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित 'औचित्य सिद्धान्त' का मूल्यांकन कीजिए।
13. लौजाइनस के 'उदात्त तत्व' का महत्व स्पष्ट कीजिए।
14. एकाकी नाटकों के उद्भव और विकास पर प्रकाश डीलिए।
15. हिन्दी निबंध साहित्य के विकास में आचार्य राम चन्द्र शुक्ल के योगदान पर अपना विचार स्पष्ट कीजिए।
16. उपन्यास में देशकाल एवं वातावरण का महत्व प्रतिपादित कीजिए।
17. 'साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं, सामाजिक यथार्थ का दस्तावेज भी है'। इस कथन विचार प्रकट कीजिए।
18. छायावादी कविता की विशेषताएँ समझाइए।

BRAOU

Dr. BRAOU
LIBRARY

BRAOU